हिन्दी निबन्ध लेखन

हिन्दी निबन्ध लेखन पर नवीनतम पुस्तक,
नई शैली के अनेकानेक उत्कृष्ट निबन्धों सहित

प्रो. विराज एम. ए.

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

मूल्य : तीन रुपये पचीस नये पैसे
तृतीय संस्करण : नवम्बर, १९६०
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, दिल्ली

भूमिका

निबन्ध-लेखन किसी भी भाषा के अध्ययन का आवश्यक अंग होता है। दूसरों के लिखे विचारों को पढ़कर समझ लेना शिक्षा का एक पक्ष है, और अपने विचारों को लिखकर दूसरों तक पहुंचा सकना शिक्षा का दूसरा पक्ष। यह दूसरा पक्ष पहले पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए निबन्ध-लेखन का इतना अधिक महत्त्व है।

लम्बे समय तक देश पर अंग्रेज़ों का शासन रहा। सारा राजकाज अंग्रेजी में होता रहा। इसलिए पठन-पाठन की दृष्टि से अंग्रेज़ी की खूब उन्नति हुई। निबन्ध-लेखन के विषय में भी अंग्रेज़ी में एक से एक अच्छी पुस्तकें तैयार हो गईं और उनकी सहायता से विद्यार्थियों के लिए निबन्ध लिखना सीख लेना बहुत कुछ सरल हो गया। अब, जब अंग्रेज़ी का महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दी ले रही है, हमें बहुत-सी वस्तुएं तो अंग्रेज़ी की नकल में हिन्दी में लानी पड़ रही हैं और अनेक चीज़ें अंग्रेज़ी की तुलना में लानी हैं। निबन्ध-लेखन का विषय भी ऐसा ही है, जिसमें हमें अंग्रेज़ी के समकक्ष पुस्तकों की आवश्यकता है।

निबन्ध-लेखन के सम्बन्ध में हिन्दी में इस समय पुस्तकों की कमी नहीं है, अपितु कहना चाहिए कि इस प्रकार की पुस्तकों की भरमार है। परन्तु पुस्तकों की संख्या अधिक हो जाने से ही वह कमी पूरी हो गई नहीं समझी जा सकती। पुस्तक विषयों में चुनाव, विषयों के प्रतिपादन तथा भाषा के प्रवाह की दृष्टि से पाये-दार होनी चाहिए, तभी वह अंग्रेज़ी की अच्छी पुस्तकों से टक्कर ले सकेगी।

अब तक निबन्ध-लेखन सम्बन्धी जो पुस्तकें मेरे सामने आई हैं, उनमें से दो-एक अपवादों को छोड़कर शेष सामान्य कोटि की हैं। 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा' जोड़कर पुस्तक तैयार कर दी गई है। कई पुस्तकों में तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के मन में निबंध का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं है। उसे तो चाहे जो कुछ विषय

लेकर उसके विषय में कुछ न कुछ लिखकर निबन्ध पूरा कर देना है और
की संख्या बढ़ानी है। दूसरी ओर कुछ लेखक ऐसे हैं जिनके मन में यह
धारणा बनी हुई है कि भाषा जितनी कठिन और दुर्बोध होगी, उतनी ही
समझी जाएगी; और जिस निबन्ध को पढ़कर कुछ भी सिर-पैर पता न चले,
सबसे अच्छा निबन्ध होगा। ऐसे निबन्धों से विद्यार्थी को कितना लाभ हो स
है, कहना अनावश्यक है। इन वाक्यों को लिखने का अभिप्राय उन पुस्तकं
लेखकों की योग्यता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करना कदापि नहीं है, अपितु ि
में चल रही कुछ उन भ्रान्त प्रवृत्तियों की ओर संकेत करना भर है जो हिन्द
प्रगति में बाधा बनी हुई हैं।

इस पुस्तक में इन दोषों से बचने का प्रयत्न किया गया है। यह चेष्ट
गई है कि विद्यार्थी को कुछ थोड़े-से लिखे हुए निबन्ध देकर ही छुट्टी न पा
जाए, अपितु उसे उस राह पर लगा दिया जाए जिसपर चलकर वह स्वयं स्व
रूप से निबन्ध लिखना सीख जाए। हमारा विश्वास है कि इस उद्देश्य को
करने वाली पुस्तकें इस समय हिन्दी में कम ही हैं।

इस पुस्तक को परीक्षार्थियों की दृष्टि से भी उपयोगी बनाने का भरपूर प्र
किया गया है। कोई भी एक विषय कई अलग-अलग शीर्षकों से परीक्षा में
जा सकता है। वे सम्भावित शीर्षक निबन्ध के अन्त में दिए गए हैं। इस सम
में आवश्यक अनुदेश दिए गए हैं कि इन निबन्धों में दी गई सामग्री का
सम्भावित निबन्धों के लिए किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है। अभ्या
स्वयं निबन्ध लिखने के लिए विषय प्रत्येक खण्ड के अन्त में दिए गए हैं।

यह पुस्तक इस आशा के साथ शिक्षकों और विद्यार्थियों के सम्मुख प्र
की है कि वे इसे निबन्ध-लेखन सिखाने और सीखने में उपयोगी पाएंगे।

—

क्रम

साहित्यिक

निबन्ध-लेखन

शिक्षा को हम दो भागों में बांट सकते हैं। पहला भाग वह, जिसमें अनपढ़ आदमी पढ़-लिखकर उस ज्ञान को प्राप्त करता है, जो पहले से विद्वानों के मस्तिष्कों और ग्रन्थों में भरा हुआ है। इससे मनुष्य का मन विकसित होता है। वह वस्तुओं को और घटनाओं को अधिक अच्छी तरह समझने में समर्थ होता है और स्वयं सोचने तथा नये निष्कर्ष निकालने योग्य बनता है। शिक्षा का दूसरा भाग वह है, जिसमें पढ़-लिख चुकने के बाद मनुष्य अपने विचारों को दूसरे लोगों तक पहुंचाता है। इस प्रकार जब शिक्षित और विचारक लोग अपने विचार प्रस्तुत करते हैं, तो उससे समाज के साहित्य-भण्डार की शोभा बढ़ती है। अब तक का हमारा सारा साहित्य इस प्रकार के साहित्यकारों की देन का संचय मात्र है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहां शिक्षा का पहला भाग अर्थात् पहले से विद्यमान साहित्य का अध्ययन और रसास्वादन महत्त्वपूर्ण है, वहां शिक्षा का दूसरा भाग अर्थात् अध्ययन और विचार के बल पर नवीन साहित्य का सृजन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण

साहित्य के विविध रूप हैं: कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना इत्यादि। यहां हमारा सम्बन्ध केवल निबन्ध से है। निबन्ध किसे कहते हैं? निबन्ध कितने प्रकार के होते हैं? निबन्धों में क्या-क्या विशेषताएं होनी चाहिएं? और निबन्ध कैसे लिखे जा सकते हैं?—इन प्रश्नों पर विस्तार से विचार करना ही हमारा लक्ष्य है।

निबन्ध किसे कहते हैं?

निबन्ध का अर्थ है किसी विषय को लेकर लिखी गई छोटी-सी सुसंगत आत्म-सम्पूर्ण गद्य-रचना। इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि निबन्ध छोटा होना चाहिए; वह सुसंगत होना चाहिए, अर्थात् उसमें जो बात कही गई है, वह असम्बद्ध और बेतुकी न हो। कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर बेमतलब का भानमती

का कुनबा न जोड़ दिया गया हो। जो कुछ भी लिखा जाए, वह निबन्ध के विषय से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होना चाहिए। पहले कही गई बात का आगे कही जाने वाली बात के साथ भी सम्बन्ध ठीक-ठीक जुड़ जाना चाहिए अर्थात् पूर्वापर विचारों का क्रम असम्बद्ध न होना चाहिए। परिभाषा में अगली बात कही गई है कि निबन्ध आत्म-सम्पूर्ण होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि चाहे निबन्ध दो पृष्ठ का लिखा जाए, चाहे दस का, परन्तु वह अपने आप में पूरा दीख पड़ना चाहिए। पाठक को यह अनुभव होना चाहिए कि इस निबन्ध में कुछ छूट नहीं गया है; और न ही यह अनुभव होना चाहिए कि निबन्ध एकाएक बीच में ही समाप्त हो गया है; कुछ और बात इसमें जोड़ी जाती, तो अच्छा था। यदि निबन्ध बहुत छोटा लिखना अभीष्ट हो, तो उस विषय से सम्बद्ध सभी बिन्दुओं का संक्षेप में उल्लेख होना चाहिए। यदि निबन्ध के कलेवर को कुछ बढ़ा पाने की गुंजाइश हो, तो उन्हीं बिन्दुओं का कुछ अधिक विस्तार किया जा सकता है। उन्हींके उदाहरण इत्यादि प्रस्तुत करके निबन्ध को लम्बा भी बनाया जा सकता है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुशल निबन्ध-लेखक किसी भी विषय पर जितना बड़ा कहा जाए, उतना बड़ा निबन्ध लिख सकता है। यदि उसे पांच पृष्ठ का निबन्ध लिखने को कहा जाए, तो वह पांच पृष्ठ का निबन्ध लिख सकता है; किन्तु यदि उसे उसी विषय पर तीन पृष्ठ का निबन्ध लिखने को कहा जाए, तो वह उस सामग्री को संक्षेप में तीन पृष्ठ में ही समेट देगा। इसके विपरीत यदि उसे आठ पृष्ठ का निबन्ध लिखने को कहा जाए, तो वह उसी सामग्री को स्पष्टीकरण और उदाहरण देकर आठ पृष्ठों में फैला देगा। किन्तु तीनों दशाओं में निबन्ध सुसंगत और आत्म-संपूर्ण रहना चाहिए। यदि आठ पृष्ठ का निबन्ध तो सुसंगत और आत्म-सम्पूर्ण जान पड़ता हो और तीन पृष्ठ का निबंध वैसा न जान पड़ता हो, तो तीन पृष्ठ का निबन्ध निबन्ध नहीं कहा जाएगा। उदाहरण के लिए, जो निबन्ध आठ पृष्ठ में लिखा हुआ है, उसके पहले तीन पृष्ठ फाड़कर प्रस्तुत कर दिए जाएं, तो वे निबन्ध नहीं कहे जा सकते। किन्तु यदि आठ पृष्ठ के निबन्ध की सारी सामग्री का संक्षेप तीन पृष्ठ में लिख दिया जाए, तो वह उतना ही अच्छा निबन्ध समझा जाएगा, जितना कि आठ पृष्ठ का या पांच पृष्ठ का समझा जाता।

निबन्ध के सम्बन्ध में बहुत-सी प्राचीन परिभाषाओं को लेकर काफी विचार-विमर्श चलता है। पहले बहुत समय तक हिन्दी में निबन्ध को 'प्रस्ताव' कहा जाता था। कुछ समय बाद लोगों ने अनुभव किया कि 'प्रस्ताव' शब्द विद्यालयों में लिखे जाने वाले निबन्धों के लिए उपयुक्त शब्द नहीं है, इसलिए 'निबन्ध' शब्द चुना गया। परन्तु वस्तुतः जिन निबन्धों का विवेचन हम इस पुस्तक में करने चले हैं या विद्यालयों में या महाविद्यालयों में निबन्ध नाम से जो कुछ लिखना अभीष्ट होता है, उनको 'निबन्ध' न कहकर 'परिबन्ध' कहना अधिक उचित होगा। निबन्ध और परिबन्ध का अन्तर स्पष्ट करके समझ लेना उचित है।

अंग्रेज़ी में जिसे 'ऐस्से' कहा जाता है, उसे हिन्दी में 'निबन्ध' कहते हैं। 'ऐस्से' मूलतः फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। अंग्रेज़ी में 'ऐस्से' की जो परिभाषाएं की गई हैं, उन सबमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि 'ऐस्से सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त स्वच्छन्द रचना है।' ऐस्से अर्थात् निबन्ध किसी भी विषय पर लिखा जा सकता है और लेखक उस विषय के चाहे जिस पहलू को लेकर चाहे जितनी बड़ी रचना लिख सकता है। अंग्रेज़ी विचारकों के अनुसार ऐस्से का कोई परिमाण नियत नहीं किया जा सकता। वह दो पृष्ठ का भी हो सकता है और दो सौ पृष्ठ का भी। बल्कि कुछ विचारकों ने तो यहाँ तक कहा है कि 'निबन्ध अनियमित और असम्बद्ध रचना' को कहते हैं। यह रचना 'मन की स्वच्छन्द उड़ान का फल' होती है। जब इस विषय में अनेक धुरन्धर विचारकों में सहमति है कि 'निबन्ध मन की उन्मुक्त उड़ान है; अस्त-व्यस्त विचारों का असम्बद्ध प्रकाशन है', तो हमें विरोध न करके उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि निबन्ध की यह परिभाषा गलत नहीं है। जब हम महान् निबन्धकारों के निबन्धों को पढ़ते हैं तो यही प्रभाव पड़ता है कि किसी मौजी क्षण में उनके मन ने किसी एक दिशा में उड़ान ली और उन्होंने किसी भी विषय के एक पहलू को लेकर निबन्ध की रचना कर डाली। अंग्रेज़ी निबन्धकारों में बेकन, चार्ल्स लैम्ब इत्यादि के और हिन्दी में प्रतापनारायण मिश्र और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि के निबन्ध इस मन्तव्य की पुष्टि करते हैं।

तब इस दशा में क्या किया जाए ? ऊपर अपनी परिभाषा में हमने बताया है कि निबन्ध 'छोटी, सुसंगत और आत्म-सम्पूर्ण रचना' को कहते हैं; और अन्य

विचारकों का मत है कि निबन्ध मन की स्वच्छन्द उड़ान के आधार पर लिखी गई किसी भी असंगत और अस्त-व्यस्त रचना को कहा जा सकता है और उसका आकार भी नियत नहीं है। स्पष्ट है कि यह पिछली बड़े-बड़े विचारकों द्वारा की गई परिभाषा विद्यार्थियों द्वारा लिखे जाने वाले निबन्धों पर लागू नहीं हो सकती। इसलिए हमें विद्यार्थियों द्वारा लिखे जाने वाले निबन्धों के लिए दूसरा शब्द गढ़ना चाहिए और वह है 'परिबन्ध'। यह परिबन्ध अंग्रेज़ी के 'कम्पोज़ीशन' शब्द का हिन्दी पर्यायवाची है और परिबन्ध की परिभाषा में दो मत नहीं हो सकते। छोटी सुसंगत और आत्म-सम्पूर्ण गद्य रचना को ही परिबन्ध कहा जाएगा। विद्यालयों और महाविद्यालयों में विद्यार्थियों से परिबन्ध लिखने की ही आशा की जाती है। परिबन्ध कितना बड़ा लिखा जाए, यह अलग-अलग कक्षाओं के लिए अध्यापक अथवा परीक्षक द्वारा नियत कर दिया जाता है। परन्तु सुविधा के लिए इस पुस्तक में हम निबन्ध शब्द का ही प्रयोग परिबन्ध के अर्थ में करेंगे।

निबंध के प्रकार

निबन्ध चार प्रकार के माने जाते हैं: (१) वर्णनात्मक, (२) विवरणात्मक, (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक। वर्णनात्मक निबन्धों में वर्णन की प्रधानता होती है। वस्तुओं और दृश्यों के वर्णन को घटनाओं के विवरण से पृथक् वस्तु समझना चाहिए। घटनाओं का विवरण विवरणात्मक निबन्धों में होता है। विचारात्मक निबन्धों में विचार होते हैं; युक्ति-प्रत्युक्ति देकर उनके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया जाता है। भावात्मक निबन्धों में भावों की प्रधानता होती है। इनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय को अधिक प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है।

हमने सुविधा के लिए निबन्धों को (१) वर्णन-प्रधान, (२) विवरण-प्रधान और (३) विवेचनात्मक—इन तीन भागों में बांट लिया है। वस्तुतः छात्रों द्वारा लिखे जाने वाले निबन्धों में वर्णन और विवरण इस प्रकार मिले रहते हैं कि उन्हें वर्णनात्मक न कहकर वर्णन-प्रधान या विवरण-प्रधान कहना अधिक उचित है। विवेचनात्मक निबन्धों में विवरण और विचार दोनों तत्त्व घुले-मिले रहते हैं।

विवरण-प्रधान और विवेचनात्मक निबन्धों को समस्यामूलक, शिक्षा, समाज, अर्थ-शास्त्र और साहित्य के आधार पर पृथक्-पृथक् खंडों में बांट दिया है। यह केवल छात्रों की सुविधा के लिए किया गया है।

इस प्रकार यह देख लेने के बाद कि निबंध कितने प्रकार के होते हैं, हम इस विषय पर आते हैं कि अच्छे निबन्ध-लेखन के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता होती है। अच्छा निबन्ध लिखना कठिन कार्य है। अच्छे निबन्ध को पढ़कर वैसा ही आनन्द अनुभव होना चाहिए, जैसा कि किसी कविता, कथा, कहानी या उपन्यास को पढ़कर होता है। निबन्ध की उत्कृष्टता के लिए दो वस्तुओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। एक तो वह सामग्री, जो कि निबन्ध में दी गई है, और दूसरे निबन्ध-लेखन की शैली। इस प्रकार सामग्री और शैली ही निबन्ध की आत्मा और शरीर हैं। सामग्री अच्छी और लेखन-शैली बढ़िया हो तो निबन्ध अवश्य ही अच्छा बनेगा। केवल उत्तम सामग्री या केवल उत्तम लेखन-शैली से निबन्ध-लेखन का काम नहीं चल सकता। जैसे आत्मा के बिना शरीर और शरीर के बिना आत्मा का कुछ मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार निबन्ध में भी सामग्री और शैली, दो में से एक के अभाव में निबन्ध निकम्मा समझा जाता है।

निबन्ध-लेखक को लिखना शुरू करने से पहले नियत विषय पर सामग्री का संचय करना चाहिए। यह सामग्री उस विषय से सम्बद्ध पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के अध्ययन से प्राप्त हो सकती है। अध्ययन के अतिरिक्त यदि उस विषय में कुछ अपना प्रत्यक्ष अनुभव भी हो, तो वह भी उस सामग्री में जोड़ दिया जाना चाहिए।

अध्ययन के अतिरिक्त जीवन और समाज का सूक्ष्म निरीक्षण भी सामग्री-संचय का श्रेष्ठ उपाय है। जिस लेखक की दृष्टि जितनी सूक्ष्म और सतर्क होगी वह जीवन को उतनी ही गहराई से देख पाएगा और उसे अपने लेख में प्रस्तुत कर सकेगा। निरीक्षण की शक्ति कुछ तो लोगों में जन्मजात होती है, किन्तु काफी हद तक इसे अभ्यास द्वारा विकसित भी किया जा सकता है। बार-बार वस्तुओं और घटनाओं को ध्यान से देखने, उनका विवरण लिखने और उनसे निष्कर्ष निकालने का अभ्यास करने से निरीक्षण-शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार सामग्री के संकलन

के लिए अध्ययन और निरीक्षण ये दो बड़े साधन हैं।

केवल अध्ययन और निरीक्षण के बल पर सब प्रकार के निबन्ध लिख पाना सम्भव नहीं है। कुछ निबन्ध विचार-प्रधान होते हैं। उनमें मनन की विशेष आवश्यकता होती है। मनन का अर्थ है, किसी समस्या या गम्भीर प्रश्न पर विचार करके उसका उचित समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न करना, समस्या को उसके सब पहलुओं की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करना। इसीको चिन्तन भी कहा जाता है। विचारात्मक निबन्धों में मनन और चिन्तन का महत्व अध्ययन और निरीक्षण से कम नहीं है।

इतना तो हुआ सामग्री के सम्बन्ध में, जो निबन्ध की आत्मा है, किन्तु आत्मा के साथ-साथ निबन्ध का शरीर भी सुन्दर होना चाहिए और वह शरीर है भाषा और शैली। भाषा और शैली के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक लेखक की भाषा और शैली अपनी-अपनी योग्यता, प्रतिभा और रुझान के अनुसार अलग-अलग होती है। कुछ लोग सीधी और सरल भाषा में विषय को प्रस्तुत करते हैं, जबकि दूसरे लेखक भारी-भरकम कठिन शब्दों के प्रयोग को पसंद करते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसे शब्दों के प्रयोग द्वारा वे अपने मनोभावों को कहीं अधिक अच्छे और सूक्ष्म रूप में प्रकट कर सकते हैं। कुछ लोग अपनी बात को सीधे-सादे ढंग से अर्थात् अभिधा द्वारा कह देते हैं, जबकि दूसरे लोग उसे कुछ घुमा-फिराकर कहते है, जिससे उसमें अधिक बल और चुटीलापन आ जाता है। साहित्य में इस घुमा-फिराकर कहने के ढंग को लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का प्रयोग कहा जाता है। मुहावरे भी अधिकांशत: लक्षणा और व्यंजना के ही प्रयोग हैं।

जब तक लेखक को लेखन का पर्याप्त अभ्यास नहीं होता, तब तक उसकी शैली परिपक्व नहीं होती। परन्तु अभ्यास के साथ-साथ प्रत्येक कुशल लेखक की एक अलग अपनी ही शैली पुष्ट होती जाती है और यदि बहुत ही अच्छा लेखक हो, तो हम उसकी रचना को देखते ही बता दे सकते हैं कि यह रचना अमुक लेखक की प्रतीत होती है।

प्रतिभाशाली लेखक की शैली का रूप बहुत कुछ उसकी प्रतिभा द्वारा नियत

होता है। परन्तु सब लोग प्रतिभाशाली नहीं होते। किन्तु अभ्यास द्वारा सब लोग कुशल निबन्ध-लेखक अवश्य बन सकते हैं, क्योंकि निबन्ध-लेखन के लिए शैली का विकास भी अभ्यास द्वारा किया जा सकता है।

निबंध की रूपरेखा

निबन्ध को लिखना शुरू करने से पहले हमें उसकी रूपरेखा तैयार कर लेनी चाहिए। उसके बाद उस रूपरेखा के आधार पर निबन्ध लिख पाना बहुत आसान हो जाएगा। आज का युग हर कार्य को योजनापूर्वक करने का है। यदि हमें मकान बनाना होता है तो पहले उसका नक्शा तैयार करते हैं और फिर उस नक्शे के आधार पर मकान खड़ा कर देते हैं। मकान के निर्माण में जो महत्व नक्शे का है, वही निबन्ध-लेखन में रूपरेखा का है। एकाएक यूं ही निबन्ध लिखना शुरू कर देने पर या तो निवन्ध ठीक नहीं बन पाएगा या उसमें बार-बार काट-छांट करने की आवश्यकता पड़ेगी। कौन-सा बिन्दु पहले लिखा जाए, और कौन-सा बाद में, यह सब लिखना शुरू करने से पहले तय हो जाना चाहिए। रूपरेखा द्वारा यह काम आसानी से हो सकता है। रूपरेखा में काट-छांट और रद्दोबदल करना कहीं अधिक आसान होता है।

निबन्ध को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) भूमिका, (२) विषय-प्रतिपादन और (३) उपसंहार। विषय-प्रतिपादन का भाग ही सारे निबन्ध का मुख्य भाग होता है। भूमिका और उपसंहार तुलना में बहुत छोटे होते हैं। परन्तु भूमिका से निवन्ध प्रारम्भ होता है, इसलिए भूमिका बहुत आकर्षक और सुगठित होनी चाहिए, जिससे पाठक निबन्ध को पढ़ना शुरू कर दे और पढ़ता ही चला जाए। इसी प्रकार उपसंहार निबन्ध का अन्त होता है, इसलिए वह भी ऐसा परिमार्जित और प्रभावशाली होना चाहिए कि पाठक के मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाए।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है, जिसका अर्थ है कि 'काम का प्रारम्भ अच्छा हुआ तो समझो कि काम आधा समाप्त हो गया।' यह बात निबन्ध पर सबसे अधिक लागू होती है। यदि निबन्ध का आरम्भ ठीक हो जाए, तो फिर उसे समाप्त कर

डालने में विशेष कठिनाई नहीं होती । इसी प्रकार यदि उपसंहार का अंश ठीक बन जाए, तो निबन्ध अच्छा जान पड़ता है, अन्यथा अन्य सब गुणों के होते हुए भी वह अधूरा और उखड़ा-उखड़ा-सा लगता रहता है ।

विषय-प्रतिपादन की समस्या प्रत्येक निबन्ध में अलग-अलग होती है। विषय से सम्बद्ध जितनी भी सामग्री हो, वह इस भाग में रखी जानी चाहिए । प्रत्येक पृथक् बिन्दु को अलग-अलग अनुच्छेदों में लिखा जाना चाहिए । कौन-सा बिन्दु पहले लिखा जाना है और कौन-सा बाद में, इसका निर्णय रूपरेखा तैयार करते हुए कर लेना चाहिए । सब विचारों या घटनाओं को ऐसे क्रम से रखना चाहिए कि वे परस्पर सम्बद्ध जान पड़ें । जो विचार या घटना पहले हुई हो, उसे पहले ही रखना ठीक होगा । एक बिन्दु के सम्बन्ध में सारी बातें एक ही स्थान पर कही जानी चाहिएं । कुछ अनुच्छेद बाद फिर उसी बिन्दु को दुहराना उचित नहीं होगा । इसे दोष माना जाएगा ।

इस प्रकार रूपरेखा बनाते हुए पहला स्थान भूमिका का होगा । उसके बाद विषय-प्रतिपादन में चार, छः या दस जितने भी उल्लेखनीय बिन्दु हों, उन्हें क्रम से लिखा जाना चाहिए और अन्तिम बिन्दु उपसंहार होगा । उपसंहार में सारे विचार-विमर्श के आधार पर कोई ऐसा निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए जो पाठक को सन्तोषजनक जान पड़े ।

भाषा और शैली का परिष्कार

यद्यपि हमने सामग्री को निबन्ध की आत्मा और भाषा और शैली को निबन्ध का शरीर माना है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा और शैली का महत्व सामग्री की अपेक्षा किसी प्रकार कम है । वस्तुतः भाषा और शैली ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा सामग्री पाठक तक पहुंचेगी । इसलिए इस माध्यम का परिमार्जन बहुत आवश्यक है ।

सबसे पहली बात तो यह है कि निबन्ध-लेखक का शब्द-भंडार खूब बड़ा होना चाहिए । जिस लेखक को जितने अधिक शब्दों का ज्ञान होगा, वह अपने भावों को या विचारों को उतनी ही अधिक शुद्धता और सूक्ष्मता के साथ प्रकट

कर सकेगा। शब्दों के ज्ञान के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उन शब्दों के ठीक-ठीक अर्थों और मिलते-जुलते शब्दों के अर्थों में जो सूक्ष्म भेद है, उसका भी उसे ज्ञान हो। उस दशा में वह सब स्थानों पर उचित अर्थ वाले शब्दों का ही प्रयोग कर सकेगा। यदि शब्दों और उनके अर्थों का इतना विशद ज्ञान लेखक को न होगा, तो उसे अपना काम थोड़े-से सीमित शब्दों द्वारा ही चलाना होगा, जिससे उसकी रचना में सौन्दर्य नहीं आ पाएगा, बल्कि अनेक स्थानों पर शब्द का गलत प्रयोग भी हो गया होगा।

शब्द-भंडार बढ़ाने का यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि अनावश्यक रूप से कठिन शब्दों का प्रयोग करके भाषा को कठिन और बोझल बनाए जाए। इस सम्बन्ध में पक्का नियम यह है कि भाषा सदा सरल और स्पष्ट रहनी चाहिए। कठिन शब्दों के प्रयोग के लिए भी अनेक स्थल होते हैं, जहां उन शब्दों का प्रयोग किए बिना काम चल ही नहीं सकता। ऐसे स्थानों पर कठिन शब्दों का प्रयोग करना ही चाहिए। परन्तु जहां सरल शब्द लिखने से काम चलता हो, वहां अकारण कठिन शब्द लिखना शैली का दोष कहा जाएगा। इससे सदा बचना चाहिए।

कुछ विषय बड़े सूक्ष्म और गहन होते हैं। उसके विवेचन में क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग बहुत बार आवश्यक होता है। वहां यत्न करते-करते भी अगर भाषा बहुत सरल न रह पाए, तो दोष नहीं है। परन्तु केवल बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग करके यह समझना कि इससे हमारी विद्वत्ता प्रगट होगी, वस्तुतः अपनी मूर्खता प्रदर्शित करना है। भाषा का लक्ष्य भावों और विचारों को प्रकट करना है, शब्दाडम्बर में उन्हें छिपा देना नहीं। इस सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं रहना चाहिए कि जहां सरल शब्दों से काम चल सकता हो, वहां कठिन शब्दों का प्रयोग कभी नहीं होना चाहिए।

केवल कठिन शब्दों के प्रयोग से भाषा कठिन नहीं बनती। यदि वाक्यों की रचना सरल हो, तो कठिन शब्दों के होते हुए भी अर्थ सरल रहता है। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि पाठक को कठिन शब्दों का अर्थ जानने के लिए शब्द-कोष की सहायता लेनी पड़े। परन्तु अनेक बार वाक्यों की उलझी हुई रचना के कारण बिना कठिन शब्दों के ही वाक्य का अर्थ दुर्बोध हो जाता है। ऐसी उलझी

वाक्य-रचना से बचना चाहिए। वाक्य यथासम्भव छोटे होने चाहिएं।

भाषा को सुन्दर बनाने के लिए उसमें समरूपता भी होनी चाहिए। आदि से अन्त तक भाषा में शब्दों का चयन और वाक्यों की रचना यथासम्भव एक जैसी ही रहनी चाहिए। यदि निबन्ध का प्रारम्भ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से हुआ हो, तो अन्त तक सारा निबन्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में ही लिखा जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि भाषा प्रारम्भ से ही सरल और बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग करते हुए लिखी गई है, तो अन्त तक वैसी ही भाषा रहनी चाहिए। एक वाक्य में तो क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग और दूसरे वाक्य में कठिन उर्दू शब्दों का प्रयोग इस बात को सूचित नहीं करता कि लेखक का संस्कृत और उर्दू दोनों पर अधिकार है, अपितु इस बात का परिचायक है कि उसका दोनों में से किसीपर भी अधिकार नहीं है।

भाषा में अलंकारों का प्रयोग सदा से अच्छा समझा जाता रहा है। उपमा, रूपक, अनुप्रास, यमक आदि अर्थालंकारों और शब्दालंकारों के प्रयोग से भाषा में सौन्दर्य आ जाता है। इसी प्रकार लक्षणा और व्यंजना शक्ति के प्रयोग से भाषा में जान आ जाती है। इसलिए जो लोग प्रतिभाशाली नहीं हैं, उन्हें भी मुहावरों को याद करके जहां-तहां निबन्ध में उनका समुचित प्रयोग करना चाहिए। किन्तु मुहावरों से भाषा को सजीव बनाने के प्रयत्न में मुहावरों की पुस्तक सामने रखकर निबन्ध लिखना भाषा में जान डालना नहीं, अपितु भाषा का गला घोंटना होगा। सब अलंकार और सब मुहावरों का प्रयोग बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होना चाहिए, यत्न करके ऊपर से थोपा हुआ न जान पड़ना चाहिए।

निबन्ध में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए किसी महापुरुष या महान् लेखक के वाक्य भी उद्धृत किए जा सकते हैं। उनसे वक्तव्य की प्रामाणिकता बढ़ जाती है। किन्तु सारे निबन्ध को उद्धरणों का पिटारा बना देना अनुचित है। निबन्ध में किसी विषय पर सारे संसार के विचार जानने की आशा नहीं की जाती, अपितु आपके विचार जानने की आशा की जाती है। इसलिए उद्धरण बहुत अधिक नहीं होने चाहिएं। यदि उद्धरण बिल्कुल न हों, तो भी कोई हानि नहीं।

यही हाल उदाहरणों का है। निबन्ध में अपने किसी वक्तव्य की पुष्टि के लिए

कोई छोटी-मोटी घटना उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है; किन्तु यह घटना बहुत छोटी होनी चाहिए, क्योंकि निबन्ध की परिभाषा में हम यह बतला चुके हैं कि निबन्ध का आकार लघु होता है और उसमें लम्बी कहानी या घटना के वर्णन के लिए स्थान नहीं होता।

वैसे तो साहित्य की सभी प्रकार की रचनाओं में लेखक के अपने व्यक्तित्व की छाप रहती है, किन्तु निबन्ध में यह छाप बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ती है और दिखाई पड़नी चाहिए। एक ही विषय को लेकर अनेक व्यक्ति निबन्ध लिख सकते हैं, किन्तु किन्हीं भी दो व्यक्तियों के लिखे हुए निबन्ध ठीक एक जैसे नहीं होंगे। उनमें सामग्री का, भाषा का और विषय-प्रतिपादन के ढंग का बहुत अन्तर होगा। यह अन्तर उनके अपने व्यक्तित्व के फलस्वरूप होगा। सामग्री तो अनेक बार सभी विषयों पर बहुत कुछ सीमित-सी हो सकती है, किन्तु भाषा और शैली के परि-मार्जन की कोई सीमा नहीं है। इसलिए अपने निबन्ध में अपने व्यक्तित्व की छाप को गहरा और स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि बारम्बार अभ्यास के द्वारा भाषा और शैली को परिमार्जित और परिष्कृत किया जाए। जिस निबन्ध की भाषा और शैली लेखक के व्यक्तित्व को जितना अधिक स्पष्ट कर सकेगी, वह उतना ही अधिक सफल समझा जाएगा।

वर्णन-प्रधान निबन्ध

वर्णन-प्रधान निबन्ध अनेक प्रकार के विषयों पर लिखे जा सकते हैं ; उदाहरण के लिए गाय, घोड़ा, डाकिया, पुलिस का सिपाही या प्रदर्शनी, कोई यात्रा या होली, दिवाली जैसे पर्व इत्यादि। इस प्रकार के निबन्ध में उस विषय का ऐसा वर्णन भर करना होता है जिससे यह वस्तु पाठक के सम्मुख उपस्थित-सी हो उठे। यदि उसके साथ कोई पुराना इतिहास या किम्वदन्ती जुड़ी हुई हो, तो उसका भी उल्लेख कर देना चाहिए। परन्तु किस बात को कितना महत्त्व देना है, इसका विवेक निबन्ध-लेखक को स्वयं करना होगा। उसे इस बात को समझ सकना चाहिए कि किस बात को विस्तार से और किस बात को संक्षेप से लिखना है और किस बात को नहीं लिखना है। क्या लिखना है, यह जानने की अपेक्षा यह जानना अधिक आवश्यक है कि क्या नहीं लिखना है।

वर्णन करते समय अपने मन में पहले से निबन्ध की पूरी रूपरेखा रहनी चाहिए और यह भी ध्यान रहना चाहिए कि निबन्ध कितना बड़ा लिखना है। उसीके अनुसार वर्णन संक्षिप्त या लम्बे किए जा सकते हैं।

दिवाली

अमावस की काली अंधेरी रात में जगमगाती हुई दीपकों की पंक्तियां और आकाश में छूटती हुई रंग-बिरंगी फुलझड़ियां लोगों के मन में न समा सकने वाले आनंद की प्रतीक हैं। प्रकाश का यह उत्सव दीपावली भारत के सबसे बड़े त्योहारों में से एक है। इस दिन देश के सारे नगर और गांव निर्मल प्रकाश से आलोकित हो उठते हैं।

दिवाली को प्रकाश का पर्व कहना उचित ही होगा। काले अंधकार पर उज्ज्वल प्रकाश की विजय का यह पर्व प्रतिवर्ष कार्तिक मास की अमावस्या के दिन इतनी धूमधाम से मनाया जाता है कि संभवतः होली को छोड़कर और कोई पर्व इतने उल्लास के साथ नहीं मनाया जाता।

दिवाली भारत का बहुत प्राचीन त्योहार है। वैसे तो इस पर्व का सम्बन्ध रामचन्द्र जी के चौदह वर्ष के वनवास के बाद अयोध्या लौटने के साथ जोड़ दिया गया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह त्योहार इस देश में उससे भी बहुत पहले से मनाया जाता रहा है। इसके मनाने के कई कारण हैं।

पहला कारण तो यह है कि भारत चिरकाल से कृषि-प्रधान देश रहा है। इसीलिए यहां के दोनों बड़े-बड़े त्योहार, होली और दिवाली, फसल के तैयार होने के समय मनाए जाते हैं। जब चैती फसल (रबी) पककर तैयार होती है, तब होली मनाई जाती है और जब सावनी फसल (खरीफ) तैयार होती है, तब दीपावली का उत्सव मनाया जाता है। फसल घर आने की खुशी में किसान लोग फूले नहीं समाते और अपने मन के आनंद को अगणित दीप जलाकर प्रकट करते हैं।

दीपावली मनाए जाने का दूसरा कारण स्वास्थ्य के नियमों से संबद्ध है। बरसात के महीनों में मकान सील जाते हैं। सब ओर कीचड़ और गंदगी फैल जाती है, मक्खी और मच्छर पैदा हो जाते हैं। अब वर्षा ऋतु की समाप्ति पर घरों और नगरों की नये सिरे से सफाई करना आवश्यक होता है। इसलिए दीपावली से पहले

घर साफ किए जाते हैं, मकानों में सफेदी की जाती है और रात के समय दीपक जलाए जाते हैं। इन दीपकों को इतनी बड़ी संख्या में जलाने का एक प्रयोजन यह भी है कि रात में उड़ने वाले मच्छर आकर्षित होकर दीपकों पर आएं और जलकर नष्ट हो जाएं, जिससे उनके कारण होने वाले रोग न हों।

दीपावली का सम्बन्ध रामचंद्रजी की कहानी के साथ इतना गहरा जुड़ गया है कि सामान्यतया लोग यही समझते हैं कि दीपावली रामचन्द्रजी के अयोध्या वापस लौटने की खुशी में मनाई जाती है। रामचंद्रजी मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए राजपाट को तिलांजलि देकर वे चौदह वर्ष के वनवास के लिए निकल गए। वनवास में उन्होंने अनेक कष्ट सहे। अंत में लंका के अत्याचारी और दुष्ट राजा रावण का वध करके जब वे अयोध्या लौटे, तो अयोध्यावासियों का आनंद से पागल हो उठना स्वाभाविक ही था। इस खुशी में उन्होंने उस रात घी के दीपक जलाए थे। पाप के ऊपर हुई पुण्य की उस विजय की याद को ताज़ा रखने के लिए तब से अब तक सारे देशवासी प्रतिवर्ष दीपावली का उत्सव मनाते आ रहे हैं।

दीपावली को लक्ष्मी-पूजा का पर्व भी कहा जाता है। इस दिन व्यापारी लोग विशेष रूप से लक्ष्मी की पूजा करते हैं, अपना नया वर्ष प्रारम्भ करते हैं; पुराने बहीखाते समाप्त करके नये बहीखाते खोलते हैं। इसके पीछे भी मुख्य कारण यही है कि प्राचीन काल में वर्षा ऋतु के चार महीनों में व्यापार लगभग बन्द ही रहता था। आजकल विमानों, मोटरों और रेलों के युग में भी वर्षा के महीनों में व्यापार मंदा रहता है; तब घोड़ों, खच्चरों और बैलगाड़ियों के युग में व्यापार कैसा रहता होगा, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है। इसलिए जब वर्षा समाप्त होती थी, तो व्यापारी लोग यह आशा करते थे कि अब नये सिरे से व्यापार चमकेगा और उनके घरों में लक्ष्मी का आगमन होगा। इसी आशा में वे लोग लक्ष्मी की पूजा करते थे।

आजकल दिवाली की धूमधाम दिवाली का वास्तविक दिन आने से कई दिन पहले से ही शुरू हो जाती है। मकानों पर सफेदी कराई जाती है। दरवाज़ों, खिड़कियों और रोशनदानों पर रोगन कराया जाता है और घर को हर तरह से

सजाकर सुन्दर बनाया जाता है। नये कपड़े सिलवाए जाते हैं और नये बर्तन खरीदे जाते हैं।

दिवाली के दिन सुबह से ही बाज़ारों में विचित्र शोभा रहती है। हलवाई अपनी बड़ी-बड़ी दुकानें मिठाइयों से सजाते हैं। बाज़ार में खिलौनों, बर्तनों और चित्रों की दुकानों की भरमार होती है। लोग दिन में अपने परिचित मित्रों और सम्बन्धियों से मिलने जाते हैं और उनके घर मिठाई भेजते हैं।

परन्तु दिवाली की असली रौनक शाम को अंधेरा होने पर होती है। क्या गरीब और क्या अमीर, सभी लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार घरों पर दीपक जलाते हैं। आजकल के वैज्ञानिक युग में दीपकों के स्थान अधिकांशतः बिजली के बल्बों ने ले लिया है। रंग-बिरंगे बिजली के बल्बों से मकान अलकापुरी की तरह जगमगा उठते हैं। फिर भी दीपकों की अपनी ही निराली शोभा होती है। बाज़ारों में तो इतनी सजावट होती है कि उसका वर्णन कर पाना कठिन है। अधिकांश लोग बाजारों की शोभा देखने के लिए निकलते हैं और देखते-देखते उनका जी ही नहीं भरता।

बच्चे आतिशबाज़ी छोड़ते हैं। फुलझड़ियों की चमक और पटाखों के शोर के कारण एक अजीब समा बंधा रहता है। लोग अपने सारे दुःखों और अभावों को भूलकर इस खुशी में ऐसे मग्न हो जाते हैं जैसे संसार में केवल आनन्द ही आनन्द भरा है। दिवाली के दिन मिठाइयों के अतिरिक्त खील और बताशे खाने की विशेष प्रथा है। बच्चे तो चीनी के बने हुए खिलौनों को बहुत चाव से खाते हैं।

परन्तु यह आनन्द का पर्व सदा आनन्द में ही समाप्त नहीं हो जाता। बुराइयां प्रायः सभी अच्छी बातों से चिपटने के लिए अवसर खोजती रहती हैं। दिवाली के पर्व में भी कुछ बुराइयां आ जुड़ी हैं। उदाहरण के लिए लोग आनंद मनाने के लिए आतिशबाजी छोड़ते हैं। कई बार आतिशबाज़ी ऐसी लापरवाही से छोड़ी जाती है कि उससे आग लग जाती है; जान और माल का भारी नुकसान हो जाता है। इस प्रकार एक का आनंद दूसरे के दुःख का कारण बन जाता है, जो दिवाली जैसे पर्व पर नहीं होना चाहिए। आनन्द का पर्व आनन्द में ही समाप्त होना चाहिए—एक या दो के नहीं, अपितु सबके आनन्द में।

इसी तरह दिवाली की रात को बहुत-से लोग जुआ खेलते हैं। उनका विश्वास है कि यदि इस दिन वे जुए में जीत जाएंगे तो सारे साल लक्ष्मी उनके घर आती रहेगी। ऐसे जुआरियों ने अपने आपको बहकाने के लिए यह गप भी उड़ा रखी है कि जो आदमी दिवाली के दिन जुआ नहीं खेलता, वह अगले जन्म में गधा बनता है। परन्तु इस तरह जुआ खेलना बहुत बुरा है। क्योंकि यह निश्चित है कि यदि जुए में कोई एक व्यक्ति जीतेगा, तो दूसरा अवश्य हारेगा। इस तरह जुए में कितने ही लोग अपना मेहनत से कमाया हुआ पैसा गंवा बैठते हैं और उनके लिए आनन्द और प्रकाश का यह पर्व अन्धकार और शोक का पर्व बन जाता है।

बहुत-से चोरों का भी विश्वास होता है कि दिवाली की रात को चोरी करके उन्हें अपना भाग्य आज़माना ही चाहिए। यदि इस दिन की चोरी में उन्हें अच्छा माल हाथ लगा तो सारे साल वे चोरियों में सफल होते रहेंगे। इसी आशा में वे चोरी करने निकलते हैं। वैसे अंधेरी काली रात भी उनके काम के लिए अनुकूल होती है। उधर बहुत-से अन्धविश्वासी इस आशा में घर के दरवाज़े खुले रखकर सोते हैं कि आज रात को लक्ष्मी घर आएगी; दरवाज़ा बन्द रखने से कहीं वह लौट न जाए। लक्ष्मी-वक्ष्मी तो आती नहीं, चोर घुस आते हैं और जो कुछ माल-मत्ता हो, उठाकर ले जाते हैं। परन्तु पर्व के दिन इस तरह से चोरी करना भी भला नहीं कहा जा सकता। जुआ और चोरी दोनों बुरी बातें हैं और उनके लिए पर्व की आड़ लेना और भी बुरा है। चोरों और जुआरियों की भलाई इसीमें है कि दिवाली के दिन वे सफल न हों। इससे वे निराश और निरुत्साहित होकर अपने कुमार्ग पर चलना छोड़ देंगे और भविष्य में आने वाले कष्टों से बच जाएंगे।

दिवाली आनन्द का पर्व है। हम सबको इसे आनन्द से मनाना चाहिए और इस प्रकार मनाना चाहिए, कि हमारे आनन्द को देखकर दूसरों का भी आनन्द बढ़े। सच्चा आनन्द वही है, जिसमें सब लोग हमारा साथ दे सकें।

अन्य संभावित शीर्षक

१. कोई भारतीय त्योहार
२. हिन्दुओं का कोई त्योहार

वह सदा भगवान् की ही पूजा करता था। हिरण्यकशिपु ने उसे बहुत डराया-धमकाया, उसे अनेक प्रकार के कष्ट दिए और अन्त में मारने का भी प्रयत्न किया। किन्तु प्रह्लाद किसी प्रकार न मरा। कोई और उपाय न देखकर हिरण्यकशिपु ने अपनी बहिन होलिका से सहायता चाही।

होलिका को यह वरदान प्राप्त था कि यदि वह आग में घुस जाएगी, तो भी आग उसका बाल बांका न कर सकेगी। होलिका ने यह स्वीकार कर लिया कि वह प्रह्लाद को गोद में लेकर चिता में बैठ जाएगी, जिससे प्रह्लाद जलकर भस्म हो जाए। जब वह प्रह्लाद को लेकर चिता में बैठी, तो भगवान् की कृपा से प्रह्लाद तो सकुशल बच गया और होलिका जलकर राख हो गई। होलिका के वरदान की यही शर्त थी कि यदि वह अकेली आग में बैठेगी, तभी उसपर आग का असर नहीं होगा।

यह कथा सत्य हो या असत्य किन्तु इसका अर्थ केवल इतना ही है कि संसार में पाप और अत्याचार की पराजय होती है और न्याय और धर्म की विजय होती है। धर्म की इस विजय की स्मृति को ताज़ा रखने के लिए ही हर साल होली मनाई जाती है और लकड़ियों का एक ढेर लगाकर उसमें आग लगा दी जाती है और यह समझा जाता है कि होलिका उसमें जलकर राख हो रही है।

होली मनाने की विधि प्रायः सभी जगह एक जैसी ही है। होली के दिन किसी चौराहे पर लकड़ियों का ढेर इकट्ठा किया जाता है। दिन में किसान लोग नई फसल के अनाज की बालियां तोड़कर लाते हैं। शाम के समय लकड़ियों में आग लगाई जाती है। लोग इस आग में अनाज की बालों को भूनते हैं और फिर उन्हें घर में ले जाकर कुछ खाते हैं और कुछ रख देते हैं। इसे शुभ माना जाता है। उसके बाद रात में बड़ी देर तक नृत्य-गीत इत्यादि होते रहते हैं। वैसे तो होली का यह संगीत गांव-गांव में कई दिन पहले से ही शुरू हो जाता है, परन्तु होली की रात को यह अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। सारी रात लोग गाते-नाचते, आनन्द करते बिता देते हैं।

होली से अगले दिन धुलैंडी होती है। लोग सवेरे से ही सफ़ेद कपड़े पहनकर गुलाल, अबीर, रंगीन पानी और पिचकारियां लेकर निकल पड़ते हैं और जो भी

मिले उसके मुंह पर रंग मलते हैं या रंगीन पानी छिड़कते हैं। एक दूसरे से गले मिलते हैं और प्रेम से एक दूसरे का अभिनन्दन करते हैं।

आजकल होली का रूप बहुत कुछ विकृत और वीभत्स हो गया है। पहले यह आनन्द और उल्लास का त्योहार था, पर अब बहुत कुछ जंगलीपन और पशुओं का-सा त्योहार बन चला है। लोग रंग के बदले कीचड़, मिट्टी का तेल और पक्की स्याही आदि का प्रयोग करते हैं। उनका प्रयोजन स्वयं प्रसन्न होना और दूसरों को प्रसन्न करना न होकर दूसरों को चिढ़ाना या बदला लेना अधिक होता है। कई बार तो होली की आड़ में काफी मार-पीट और हत्याएं तक हो जाती हैं।

होली का पर्व बहुत समय से उन्मुक्त आनन्द का पर्व माना जाता रहा है। इस दिन हिन्दू-समाज के कठिन बंधन कुछ देर के लिए ढीले छोड़ दिए जाते हैं। इससे सब स्त्री-पुरुष बिना किसी रोक-टोक के एक दूसरे पर रंग फेंक सकते हैं और एक दूसरे को रंग मल सकते हैं। परन्तु हमारे वर्तमान समाज की उच्छृंखल प्रवृत्तियों के कारण अब यह छूट भी बहुत कुछ समाप्त होती जा रही है।

बारह बजे तक रंग का हुड़दंग चलता रहता है। लोगों की टोलियां रंग-बिरंगे कपड़े पहने भूतों का-सा वेश बनाए तरह-तरह के गीत गाती और नाचती सड़कों पर घूमती रहती हैं। सब शहरों में और गांवों में नवजीवन का समुद्र-सा तरंगित होता रहता है।

दोपहर होने के बाद रंग फेंकना बन्द हो जाता है। लोग स्नान करके नये स्वच्छ वस्त्र पहनते हैं और मिठाई लेकर अपने इष्ट-मित्रों के घर जाते हैं। होली को प्रेम का त्योहार माना जाता है और समझा जाता है कि होली के दिन पुरानी सब शत्रुताएं भुला दी जाती हैं और फिर नये सिरे से मित्रता स्थापित हो जाती है।

समय के प्रवाह के साथ-साथ सभी अच्छी बातों के साथ कुछ न कुछ बुराइयां भी जुड़ जाती हैं। होली के साथ भी यही हाल हुआ है। आजकल होली आनंद का कम और भय का पर्व अधिक बन गया है। पहले होली का रंग केवल एक दिन चलता था, किन्तु आजकल तो शहरों में बच्चे आठ-दस दिन पहले से ही रंग फेंकना शुरू कर देते हैं, जिससे सड़कों और गलियों में चलते हुए कपड़े खराब होने का

भय बना रहता है। पहले रंग परिचितों और मित्रों पर ही केवल आनन्द बढ़ाने के लिए फेंका जाता था, किन्तु अब अपरिचितों पर रंग उनको चिढ़ाने या उनके कपड़े खराब करने के लिए फेंका जाता है। इस देश की कई जातियां होली खेलना पसन्द नहीं करतीं, किन्तु कुछ ऊधमी लोग उनपर भी ज़बरदस्ती रंग डाल देते हैं, जिससे कई बार तो साम्प्रदायिक दंगे भी हो जाते हैं। इस प्रकार होली का रूप ही एकदम बदल जाता है। यह उत्सव आनन्द का न रहकर कष्ट का बन जाता है; और स्थिति तो यहां तक है कि बहुत-से भले लोग तो होली के उत्पात से घबराकर मुंह अंधेरे ही घर से निकल जाते हैं और किसी पार्क या बगीचे में शान्ति से दिन बिताकर तीसरे पहर घर लौटते हैं।

होली के पवित्र पर्व पर परस्पर प्रेम बढ़ाने के बजाय ऐसा उच्छृंखल व्यवहार बहुत ही लज्जा की वस्तु है और निन्दनीय है। हमें इसका रूप कुछ न कुछ सुधारना चाहिए और इसको ऐसे रूप में मनाना चाहिए, जिससे हमें आनन्द आने के साथ-साथ दूसरों को भी आनन्द आए। दूसरे लोगों के साथ हमारी मित्रता और प्रेम बढ़े; तभी होली मनाना सार्थक हो सकता है।

अन्य संभावित शीर्षक

१. कोई भारतीय त्योहार
२. उत्तर भारत का कोई त्योहार

गणतंत्र-दिवस

भारतवर्ष सदा से उत्सव-प्रिय देश रहा है। यहां की सभी जातियां अपने-अपने उत्सव मनाती हैं। हिन्दू दशहरा, दिवाली और होली मनाते हैं; मुसलमान ईद, शबे-रात और मुहर्रम मनाते हैं; ईसाई क्रिसमस का पर्व अपने निराले ही ढंग से मनाते हैं। किन्तु स्वाधीनता पाने के बाद भारत में सब जातियों और सब वर्गों का

एक नया राष्ट्रीय पर्व बन गया है—गणतंत्र-दिवस। इसे सारे देशवासी बड़े आनन्द और उमंग से मनाते हैं।

गणतंत्र-दिवस भारत में २६ जनवरी को मनाया जाता है। सन् १९५० में इस दिन पहले पहल स्वतन्त्र भारत का नया संविधान लागू किया गया था। उसीकी स्मृति में इस दिन सारे देश में आनन्द और उत्साह का प्रदर्शन किया जाता है। देश के स्वाधीन होने से पहले २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस के रूप में मनाया जाता था, क्योंकि सन् १९२१ में लाहौर कांग्रेस के अवसर पर देश को पूर्ण स्वाधीन कराने की शपथ २६ जनवरी को ही ली गई थी। २६ जनवरी को नया संविधान लागू करने के पीछे भी यही भावना काम कर रही थी कि स्वाधीनता-संग्राम के लम्बे समय में जो दिन 'स्वाधीनता-दिवस' नाम से मनाया जाता रहा, उसकी स्मृति को गणतन्त्र-दिवस के रूप में स्थायी बना दिया जाए।

यों तो गणतन्त्र-दिवस सारे देश में ही बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है, पर देश की राजधानी दिल्ली में इसकी शोभा निराली ही होती है। इस दिन सब दफ्तरों और शिक्षा-संस्थाओं में छुट्टी रहती है। सब बाज़ार बन्द रहते हैं और इंडिया गेट के मैदान में जल, स्थल और वायु सेना की टुकड़ियां राष्ट्रपति को सलामी देती हैं। इस समारोह को देखने के लिए न केवल सारी दिल्ली उमड़ पड़ती है, बल्कि हज़ारों लोग दूर-दूर के नगरों से भी आते हैं।

अभी सवेरा हो भी नहीं पाता, कि चार बजे से ही लोग इंडिया गेट की ओर चलने लगते हैं। कुछ मोटरों में, कुछ तांगों में, और बहुत-से पैदल ही इस मैदान तक पहुंचते हैं। यहां पुलिस और सेना का अच्छा प्रबन्ध रहता है, जिससे अव्यवस्था न होने पाए। इतना विशाल दीख पड़ने वाला मैदान लोगों से खचाखच भर जाता है। फिर भी कितने ही लोग भीड़ के कारण इस मैदान तक पहुंच ही नहीं पाते। लाखों लोग मैदान की ओर न आकर उस रास्ते के दोनों ओर खड़े होकर प्रतीक्षा करते रहते हैं, जहां से गणतन्त्र-दिवस के जलूस को गुज़रना होता है। स्त्रियों और बच्चों को इस भीड़भाड़ में असुविधा भी होती है, परन्तु अपने उत्साह के कारण वे असुविधा का तनिक भी ख्याल नहीं करते।

लगभग सवा नौ बजे राष्ट्रपति अपनी शानदार बग्घी में सवार होकर अभि-

वादन-मंच की ओर आते हैं। उनके आगे और पीछे अपनी रंगीन पोशाकों में उनके घुड़सवार अंगरक्षक होते हैं। अभिवादन-मंच के पास भारत सरकार के मन्त्री, उच्च पदाधिकारी तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग पहले ही आ चुके होते हैं। प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति का स्वागत करते हैं और उन्हें अभिवादन-मंच तक ले जाते हैं। इसी समय इकत्तीस तोपें गरजकर राष्ट्रपति को सलामी देती हैं। सैनिक वाद्य बजने लगते हैं। राष्ट्रपति अपने भाषण में राष्ट्र को सन्देश देते हैं।

उसके बाद वीरता के कार्य करने वाले सैनिकों को उपाधियां एवं पारितोषिक दिए जाते हैं। फिर सैनिक टुकड़ियां कवायद करती हुई राष्ट्रपति के सामने से गुज़रती हैं और सलामी देती हैं। सैनिकों का यह जलूस बहुत लम्बा और शानदार होता है। सैनिकों के अतिरिक्त इसमें तोपें, टैंक, विमानवेधी तोपें तथा अन्य सैनिक उपकरणों की गाड़ियां भी होती हैं। इस विशाल जलूस को देखकर देश की सैन्य शक्ति की एक अच्छी झांकी मिल जाती है।

सैनिकों के बाद घुड़सवार और ऊंट-सवार सेनाएं भी अपनी अद्भुत और सुंदर पोशाकों में आती हैं। बीच-बीच में सैनिक वाद्य-दल बाजा बजाते हुए चलते हैं, जो देखने और सुनने, दोनों में ही भले लगते हैं। जलूस में कुछ हाथी भी होते हैं, जिनसे जलूस की शोभा चौगुनी हो जाती है।

सैनिकों के अतिरिक्त नेशनल कैडेट कोर तथा लोक-सहायक सेना की टुकड़ियां भी पूरी सजधज के साथ आती हैं। भूतपूर्व सैनिक ढेरों पदक लगाए बड़े गर्व के साथ फौजी मोटरगाड़ियों में बैठकर आते हैं। विद्यालयों के छात्र और छात्राएं भी सैनिकों की भांति कवायद करते हुए आते हैं और राष्ट्रपति को सलामी देते हैं।

देश की केवल सैनिक शक्ति का प्रदर्शन ही इस जलूस में नहीं रहता, अपितु देश के विभिन्न राज्यों के जीवन की जीती-जागती झांकियां भी इसमें रहती हैं। प्रत्येक राज्य की ओर से वहां के जन-जीवन अथवा हाल में की जा रही प्रगति के सम्बन्ध में कोई न कोई झांकी अवश्य होती है। ये झांकियां इतनी मनोहारी और कलापूर्ण होती हैं कि बस देखते ही बनती हैं।

सबसे अन्त में खुली मोटरों में चढ़े लोक-नर्तक आते हैं, जो अपने-अपने नृत्य की रंग-बिरंगी और रोचक वेश-भूषाओं में गाते और नाचते हुए गुज़रते हैं। संक्षेप

में, यह जलूस देश की शक्ति, समृद्धि और कला का प्रतीक होता है।

जलूस की समाप्ति पर वायु-सेना के विमान व्यूह बनाकर उड़ते हुए आते हैं और नीचे झुककर राष्ट्रपति को सलामी देते हुए आगे चले जाते हैं। उसके बाद इंडिया गेट पर समारोह समाप्त हो जाता है, किन्तु जलूस राजधानी के प्रमुख मार्गों से गुजरता हुआ लालकिले तक पहुंचता है और वहां पहुंचकर समाप्त हो जाता है। इस आठ मील लम्बे मार्ग पर एक फुट भर स्थान भी ऐसा नहीं होता जहां उत्सुक दर्शकों की भीड़ कई पंक्तियों में न खड़ी हुई हो।

रात के समय सरकारी भवनों को बिजली के बल्बों से सजाया जाता है और नई दिल्ली और पुरानी दिल्ली में आतिशबाज़ी की जाती है, जो बहुत ही आकर्षक होती है। ऐसी अच्छी आतिशबाज़ी और किसी अवसर पर शायद ही कभी देखने में आती हो। लोग बड़े चाव से इस आतिशबाज़ी को देखने के लिए एकत्र होते हैं।

इस प्रकार गणतन्त्र-दिवस का यह धूमधाम और आनन्द से भरा समारोह समाप्त होता है। इसे देखकर सभी देशवासी अपने गौरव का अनुभव करते हैं, स्वाधीनता के मूल्य को पहचानते हैं और उसे अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए मन में दृढ़ संकल्प करते हैं।

अन्य संभावित शीर्षक

१. हमारा राष्ट्रीय पर्व
२. राष्ट्रीय उत्सव

चिड़ियाघर की सैर

वैसे तो सभी शहरों में देखने लायक अनेकानेक वस्तुएं होती हैं, परन्तु यदि कहीं चिड़ियाघर हो, तो उसकी तुलना में और सभी दर्शनीय वस्तुएं फीकी पड़ जाती हैं। मुझे चिड़ियाघर देखने का विशेष रूप से चाव है और अब तक मैं भारत

के लगभग सभी बड़े-बड़े चिड़ियाघरों को देख चुका हूं। फिर भी इन्हें देख-देखकर मेरा मन अभी भी भरा नहीं है।

वैसे तो चिड़ियाघर का अर्थ है, जहां चिड़ियां रखी गई हों, परन्तु चिड़ियाघरों में केवल अद्भुत पक्षी ही नहीं रखे जाते, अपितु वनों में विचरण करने वाले पशु, सर्प और नदियों में रहने वाले प्राणी भी रखे जाते हैं। इसलिए नाम से केवल चिड़ियों का घर होने पर भी चिड़ियाघर सभी विचित्र प्राणियों का संग्रहालय होता है।

अभी कुछ दिन पहले ही हम कई मित्र मिलकर चिड़ियाघर देखने गए थे। चिड़ियाघर के अन्दर घुसते ही बाईं ओर एक छोटा-सा हौज बना हुआ था, जिसके ऊपर लोहे का जंगला लगा हुआ था। पानी के अन्दर नेवले जैसे कुछ प्राणी तैर रहे थे। ये ऊदबिलाव थे। यदि पानी में कोई आदमी पैसा या इकन्नी डालता था, तो ये डुबकी लगाकर उसे चट से निकाल लाते थे और हौज़ के अन्दर की ओर बने हुए एक छोटे-से आले में रख देते थे।

कुछ थोड़ा और आगे बढ़ने पर बन्दरों के कठघरे थे, जिनमें तरह-तरह के बन्दर बैठे हुए थे। इनमें से कुछ बन्दर तो बहुत बड़े-बड़े और बदसूरत थे। कुछ छोटे-छोटे और सुन्दर थे। कुछ लंगूर भी थे। लोग इन बन्दरों के सामने चने डाल रहे थे, जिन्हें वे बड़े चाव से खा रहे थे। बच्चों और बन्दरों में कुछ समानता थी, इसीलिए माता-पिता के रोकते-रोकते भी बच्चे बन्दरों को छेड़ देते थे और बदले में बन्दर भी उन्हें घुड़कियां दे रहे थे।

और आगे बढ़ने पर एक बहुत बड़ा बाड़ा दिखाई पड़ा। इस बाड़े के चारों ओर जालियां लगी हुई थीं और अंदर हिरन थे। कुछ हिरन बैठे हुए जुगाली कर रहे थे; कुछ इधर-उधर टहल रहे थे; कोई-कोई बाड़े के पास आकर दर्शकों के पास खड़े हो जाते थे। ये हिरन भी कई प्रकार के थे। कोई बारहसिंगा था, तो कोई चीतल था। किसीके सींग लम्बे-लम्बे थे, तो किसीके छोटे-छोटे। एक जगह हिरनों के छोटे-छोटे बच्चे भी थे, जो दर्शकों को देखते ही कुलांचे भरते हुए दूर भाग जाते थे।

आगे दाईं ओर को मुड़ने पर एक बड़ा-सा चौड़ा गड्ढा था, जिसके अंदर दो-

तीन पेड़ भी खड़े थे। गड्ढे की दीवारें ऊंची और सीधी खड़ी थीं। इनके ऊपर लोहे की नुकीली सलाखों की बाड़ लगी हुई थी। गड्ढे के अन्दर झांककर देखा, तो तीन-चार भालू खेल में मस्त थे। भालुओं को इस तरह रखने का यह प्रबन्ध मैंने पहली बार देखा था। दूसरे चिड़ियाघरों में भालू छोटे-छोटे पिंजड़ों या कठघरों में रखे देखे थे। किन्तु यहां तो ये भालू खूब खुले उछल-कूद कर रहे थे। कभी वे एक दूसरे से कुश्ती लड़ने लगते और कभी पेड़ के ऊपर चढ़ जाते थे। लोग भालुओं के लिए मूंगफलियां फेंक रहे थे। भालू उन्हें छिलके समेत चबाकर खा जाते थे और ऐसी दृष्टि से ताकने लगते थे, जैसे और मांग रहे हों।

थोड़ा और आगे चलने पर छोटी-छोटी जालियों से बने हुए ऊंचे-ऊंचे कठघरे थे, जिनमें तरह-तरह के पक्षी चहचहा रहे थे। एक ओर एक सफेद मोर था। ऐसा मोर मैंने पहले कभी नहीं देखा था। लम्बी-लम्बी पूंछों वाले विचित्र तोते थे। सुन्दर कबूतर थे। कई छोटी-छोटी चिड़ियां थीं, ऐसी जैसी कि हमने पहले कभी नहीं देखी थीं। एक पिंजड़े में कोयल थी। एक में कुछ बुलबुलें थीं। एक में उल्लू बैठा हुआ था, जिसकी आंखें दिन के प्रकाश के कारण झंपी-सी जा रही थीं।

बाईं ओर मुड़ने पर छोटे-छोटे कठघरे थे। इनमें से मांस की बदबू आ रही थी। इन कठघरों में भेड़िये, गीदड़ और लोमड़ियां थीं। भेडिया देखने में मामूली कुत्ते से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। गीदड़ देखने में ही बहुत डरपोक लगता था और लोमड़ी की चालाकी उसके चेहरे पर ही लिखी-सी जान पड़ती थी।

उनसे थोड़ा-सा आगे एक छोटी-सी जगह को जालियों से घेर दिया गया था। उसके अंदर सफेद खरगोश रखे गए थे। ये खरगोश देखने में बहुत प्यारे मालूम होते थे। वे कभी बैठकर घास कुतरने लगते थे और कभी उछल-उछलकर इधर-उधर भागने लगते थे। इन खरगोशों के पास ही एक और जाली में सफेद चूहे रखे हुए थे, जिन्हें गिनी पिग भी कहते हैं। ये सफेद चूहे खरगोशों से भी अधिक सुन्दर और प्यारे जान पड़ते थे।

अब हमें मुड़कर थोड़ी दूर जाना पड़ा। यहां काफी बड़ी जगह को लोहे की ऊंची-ऊंची सलाखों से घेर दिया गया था। अन्दर की जगह काफी बड़ी थी। उसमें बांस के झुरमुट भी थे और जहां-तहां छोटे-छोटे कुंड बने हुए थे, जिनमें पानी भरा

हुआ था। यहां कौन-सा पशु रखा गया होगा, यह देखने के लिए जब हमने निगाह दौड़ाई तो देखा कि बांस के कुंज की छाया में एक विशालकाय बाघ पड़ा हुआ सो रहा है। इससे पहले चिड़ियाघरों में मैंने बाघ कठघरों में ही बन्द देखे थे, परन्तु यहां तो यह ऐसा दृश्य था जैसे मैं जंगल में ही बाघ को देख रहा होऊं। इतना अवश्य था कि लोहे के सींखचों की सुरक्षा होने से यहां भय नहीं लग रहा था। चारों ओर घूमकर देखा तो और दो-तीन बाघ उस बनावटी जंगल में विश्राम कर रहे थे। एक बाघ बैठा हुआ था और बड़े ध्यान से दूर एक ही दिशा में देख रहा था। हमने उस ओर निगाह दौड़ाई, तो पता चला कि बाघ की दृष्टि दूर एक हिरन पर थी, जो अपने बाड़े में टहल रहा था।

कुछ बाघ अपने कठघरों में बैठे थे। ये प्राणी कुछ ऐसे भयंकर होते हैं कि इनको पिंजड़े में बन्द देखकर भी शरीर में एक सिहरन-सी दौड़ जाती है। जब कभी वे मुंह फाड़ते, तो उनकी जीभ और लम्बे-लम्बे दांत देखकर विनोद भी होता और कुछ भय भी लगता।

बाघों के पास ही सिंहों के पिंजड़े भी थे। सिंह कहने को ही पशुओं का राजा है, पर भयानकता और शक्ति में बाघ से उसकी कोई बराबरी नहीं है। किन्तु उसकी आकृति अधिक प्रभावोत्पादक और तेजपूर्ण होती है। उसकी गर्दन के बाल उसकी शोभा को बढ़ाते हैं, जिनके कारण वह भयानक न लगकर सुन्दर अधिक लगता है। सिंह के पास ही सिंहनी भी बैठी थी। यह देखने में बाघिन की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक सुन्दर थी। इसके शरीर पर धारियां नहीं थीं, किन्तु जब वह हिलती-डुलती या चलती थी तो ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसका सारा शरीर रबड़ का बना हुआ है। इतनी लचक कम प्राणियों में ही देखने को मिलती है।

इससे आगे के कठघरां में चीते थे। इन चीतों को न जाने क्या धुन थी कि वे एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं बैठ रहे थे और लगातार अपने कठघरों में चक्कर लगाए जा रहे थे। इनके शरीर पर चित्तियां पड़ी हुई थीं, जिनके कारण इन्हें चीता कहा जाता है। किन्तु पेट के नीचे का भाग एकदम सफेद था। यहां कठघरों में देखने पर ये अत्यन्त सुन्दर प्राणी जान पड़ते थे। इनकी चुस्ती, फुर्ती और लचक देखकर इनके शरीर पर हाथ फेरने की इच्छा होती थी, किन्तु हमें यह पता था कि

सुन्दर होने पर भी चीता कितना खतरनाक प्राणी होता है।

एक ओर कुछ दूर हटकर एक गड्ढे में एक बड़े-से अजगर सांप को रखा गया था। इस गड्ढे के चारों ओर लोहे की सलाखें इस ढंग से और इतने पास-पास लगाई गई थीं कि उनमें से होकर अजगर बाहर न निकल सके। हम जितनी देर खड़े रहे उतनी देर वह कुंडली मारे बैठा रहा, इसलिए उसे चलते हुए देखने का आनन्द हम न पा सके।

अब हम दाईं ओर मुड़कर कुछ दूर निकल गए। यहां हमने एक विचित्र पशु देखा। वह ज़मीन पर खड़ा-खड़ा एक ऊंचे वृक्ष की पत्तियां खा रहा था। उसके शरीर पर विचित्र चित्रकारी हुई थी। उसके सींग छोटे-छोटे थे, किन्तु गर्दन इतनी लम्बी थी कि इससे पहले हमने किसी प्राणी की न देखी थी। यह जिराफ था जो अफ्रीका के जंगलों में पाया जाता है। इसकी गर्दन ऊंट से भी लम्बी और पतली थी। ऊंचाई की दृष्टि से ऊंट इसके सामने बौना जान पड़ता था।

उससे अगले बाड़े में कुछ गधे जैसे प्राणी चर रहे थे, किन्तु अन्तर इतना था कि वे सफेद या काले नहीं थे, अपितु उनके शरीर पर काली-काली पट्टियों जैसी धारियां पड़ी हुई थीं। ये ज़ेबरे थे। ये भी अफ्रीका में ही पाए जाते हैं और घोड़ों और गधों की तरह घासाहारी पशु हैं।

इसी कतार में अगले बाड़े में कंगारू थे। कंगारू आस्ट्रेलिया का एक विचित्र ही पशु है। इसकी अगली टांगें छोटी थीं और पिछली टांगें ऊंची-ऊंची थीं। सबसे मनोरंजक बात यह थी कि इसके पेट के नीचे एक थैली थी, जिसमें यह अपने बच्चे को रख लेता है। इस समय कोई बच्चा उसके पास नहीं था। इसलिए हम बच्चे को इस थैली में बैठे हुए न देख सके।

बिलकुल अलग एक ओर हटकर गैंडे के लिए बाड़ा बनाया गया था। यह गैंडा हाल ही में आसाम के जंगलों से पकड़कर लाया गया था, इसलिए बहुत उपद्रवी था। लोगों को देखते ही यह उत्तेजित हो उठता था और भागने-दौड़ने लगता था। ऐसा पशु प्रकृति में शायद और कोई नहीं है। इसकी थूथ के ऊपर उगा हुआ सींग बहुत ही भयावना जान पड़ता था। मोटी खाल और परिपुष्ट शरीर को देखकर ही इसकी शक्ति का बहुत कुछ अनुमान हो जाता था।

अब हम लगभग सारा चिड़ियाघर घूम चुके थे। लौटते हुए एक ओर ऊंचे-ऊंचे पिंजड़े जैसे कमरे बने हुए थे। जब उनके पास जाकर देखा, तो अन्दर आदमी से भी ऊंचे-ऊंचे पक्षी चलते हुए दिखाई पड़े। पता चला कि यह शतुरमुर्ग है। सच-मुच ही यह पक्षी देखने में ऊंट से कम नहीं जान पड़ता था; इसलिए जिन्होंने इसे उष्ट्रपक्षी नाम दिया, उन्होंने ठीक ही किया। देखने में बिल्कुल भोला-भाला और हानिरहित यह पक्षी रेगिस्तान में घोड़े से अधिक तेज़ दौड़ सकता है और चोंच और टांग की चोट से आदमी का भुर्ता बना सकता है।

अब चिड़ियाघर में देखने को और कुछ शेष नहीं था। मन में एक ही बात बार-बार उठती थी कि प्रकृति ने भी कैसे-कैसे विचित्र प्राणी संसार में उत्पन्न किए हैं। चिड़ियाघर को देखकर हम लौट आए, किन्तु उन पशु-पक्षियों की छाप मेरे मन पर अब तक भी अमिट बनी हुई है।

भाखड़ा-नांगल की यात्रा

दुनिया के सबसे ऊंचे बांध के रूप में भाखड़ा का नाम मैं बहुत दिन से सुन रहा था, इसलिए इसे देखने की इच्छा मन में तीव्र और तीव्रतर होती जा रही थी। किन्तु जाने का कोई सुयोग नहीं बन रहा था। एक दिन जब मैंने सुना कि हमारे कार्यालय के कर्मचारियों की ओर से एक दल भाखड़ा और नांगल घूमने के लिए जा रहा है, तो मैंने भी बड़े उत्साह के साथ उस दल में अपना नाम लिखवा दिया और इस प्रकार मेरी बहुत दिन से अपूर्ण इच्छा को पूरा होने का अवसर मिला।

कार्यक्रम यह था कि एक बस तीसरे पहर ३ बजे हमारे कार्यालय पर आ जाएगी। सब लोग अपना सामान लेकर वहीं पहुंच जाएंगे। ठीक साढ़े तीन बजे बस रवाना हो जाएगी। पहली रात अम्बाला में बिताकर अगले दिन शाम को नांगल पहुंच जाएंगे। उस दिन नांगल का बांध देखेंगे और अगले दिन भाखड़ा जा-

कर वहां का बांध देखकर दोपहर को चण्डीगढ़ पहुंच जाएंगे। रात चंडीगढ़ में बिताने के बाद अगले दिन दिल्ली वापस लौट आएंगे।

जब लगभग पौने चार बजे बस चली, उस समय आकाश में अच्छी धूप थी और वर्षा की कोई संभावना नहीं दीख पड़ती थी। यद्यपि बस उन्हीं रास्तों पर से होती हुई जा रही थी जिनपर से हम लोग प्रायः नित्य ही गुजरते हैं, परन्तु इस समय यात्रा की मनोदशा में होने के कारण वे रास्ते भी हमको कुछ नये-से लग रहे थे। आधे घंटे तक बस दिल्ली शहर की भीड़-भाड़ में ही चलती रही। जब शहर समाप्त हो गया और सड़क के दोनों ओर दूर-दूर तक खुला मैदान दिखाई देने लगा, तो मन में एक नया ही आनन्द भर उठा।

लगभग दो घंटे के बाद जब हम पानीपत पहुंचे, तो आकाश में बादल घिर आए थे और हल्की-हल्की बूंदाबांदी शुरू हो गई थी। हमारे बिस्तर मोटर की छत पर थे। गीला हो जाने के डर से उन्हें उतारकर हमने अन्दर ही रख लिया और मोटर फिर आगे बढ़ने लगी। जब हम अम्बाला पहुंचे, तब काफी रात हो चुकी थी। हमारे ठहरने का प्रबंध पहले से ही हो चुका था, किंतु भोजन की व्यवस्था हमारे अपने साथ ही थी। भोजन बनाने के लिए हम रसोइये और सब आवश्यक सामान साथ ले चल रहे थे। भोजन बनते और खाते रात के ग्यारह बज गए। यात्रा के कारण हल्की-सी थकान अनुभव हो रही थी, जिसके कारण खूब मीठी नींद आई।

अगले दिन सवेरे उठकर थोड़ा-सा प्रातराश करके हम फिर बस में सवार हो गए और नांगल की ओर चल दिए। अम्बाला से चंडीगढ़ लगभग ४०-४५ मील दूर है। वहां हमारी बस थोड़ी देर के लिए रुकी और हमने दूर-दूर तक फैले हुए इस नये बनते हुए शहर पर एक उड़ती-सी नजर डाली। चंडीगढ़ पंजाब की राजधानी है और यह शहर अभी बनने की ही दशा में है। शहर नये नमूने पर बन रहा है।

रास्ते में एक प्रसिद्ध दर्शनीय स्थान पड़ता है गुरुद्वारा आनंदपुर साहिब। हम सब इसे देखने गए। यह गुरुद्वारा एक ऊंची पहाड़ी के ऊपर बना हुआ है। किसी समय सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह यहां रहते थे और फर्रुखसियर आदि मुगल बादशाहों की फौजों से लोहा लिया करते थे। गुरुद्वारा एक छोटे-से दुर्ग के रूप में

बना हुआ है और ऐसी जगह पर है, जहां से आने वाली सेना को मीलों दूर से ही देखा जा सकता है। यह गुरुद्वारा सिख लोगों की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। इसे केशगढ़ साहिब भी कहते हैं। इसका यह नाम इसलिए पड़ा है, क्योंकि गुरु तेगबहादुर का सिर इसी स्थान पर लाया गया था और यहीं उसकी अंत्येष्टि की गई थी। गुरुद्वारे में पुराने सिख वीरों के स्मारक के तौर पर कई अस्त्र-शस्त्र रखे हुए हैं। वहां के ग्रन्थी महोदय ने वे अस्त्र-शस्त्र हमें दिखाए और उनका संक्षेप में इतिहास भी बताया।

यह स्थान देखने में बहुत सुन्दर है। शिवालिक की पर्वतमाला इसके बिलकुल निकट से गुज़र रही है और यह पहाड़ी भी उसीका अंश-सा मालूम होती है। दाईं ओर दूर ऊंची पहाड़ी पर नैना देवी का मंदिर दिखाई पड़ रहा था, जो हिन्दुओं की दृष्टि में बहुत पवित्र माना जाता है।

जो बादल आकाश में रात घिरे थे, वे अब तक भी फटे नहीं थे। यद्यपि वर्षा नहीं हुई थीं, फिर भी मौसम बहुत सुहावना हो उठा था और इस बादलों की छाया में शिवालिक की पर्वतमालाएं सांवली-सी पड़कर और भी सुन्दर हो उठी थीं।

दोपहर का भोजन हमें गंगुवाल पहुंचकर करना था। गंगुवाल में नंगल नहर के किनारे एक अच्छा डाक बंगला बना हुआ है। दोपहर का विश्राम हमने यहीं किया। जब तक भोजन तैयार हो, तब तक हम गंगुवाल का बिजलीघर देखने चले गए। बाहर से देखने पर यह विजलीघर मामूली-सा दीखता था। परंतु जब अंदर पहुंचे, तो आश्चर्य से अवाक् ही रह जाना पड़ा। चारमंज़िले मकान जितनी ऊंची-ऊंची दो मशीनें पानी के ज़ोर से चल रही थीं, जिनसे बिजली पैदा हो रही थी। कैसे इतनी बड़ी-बड़ी मशीनें यहां लगाई गई होंगी! और इनके चलाने और देख-भाल के लिए जो विचित्र प्रबंध किए गए हैं, उनको पूरा-पूरा न समझ पाने पर भी इतना अवश्य समझ में आ गया कि यह सब कुछ बहुत ही बड़ा काम है। इनमें से एक-एक मशीन २४००० किलोवाट बिजली पैदा कर रही थी। यह बिजलीघर नंगल नहर पर बनाया गया है, जो अपने ढंग की भारत में नई नहर है।

शाम होते-होते हम नांगल जा पहुंचे। नांगल में सतलुज नदी को रोककर

उसमें से नंगल नहर निकाली गई है। यहां पर एक बहुत बड़ा बांध बनाया गया है, जिससे सारी सतलुज नदी के पानी को काबू में कर लिया गया है और उसे इच्छानुसार नहर में या नदी में छोड़ा जा सकता है। इस बांध की एक और बड़ी विशेषता यह है कि नदी की ओर ज़मीन के अंदर ७० फुट की गहराई पर नदी के आर-पार एक सुरंग बनाई गई है। इस सुरंग में अंदर की ओर पानी रिसता रहता है, जिसे बिजली के पंपों द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, किंतु इस रिसते हुए पानी से इंजीनियर लोग यह अनुमान लगा लेते हैं कि बांध की रचना पर पानी का कितना दबाव पड़ रहा है और कहीं मरम्मत की तो आवश्यकता नहीं है।

नांगल छोटा-सा शहर है और यहां के लगभग सभी मकान सरकारी मकान हैं। यह सारी बस्ती ही सरकारी है। जो लोग दिन में भाखड़ा बांध पर काम करने जाते हैं, वे भी शाम को लौटकर यहीं वापस आ जाते हैं। सतलुज नदी के किनारे नये ढंग से बसा हुआ यह शहर बहुत ही प्यारा मालूम होता था। वैसे भी इन दिनों सब ओर बरसात ने हरियाली का मखमल बिछाया हुआ था, जो बादल घिरे होने के कारण गहरे हरे रंग का दिखाई पड़ता था। रात होते ही नदी पर बने हुए बांध पर तेज़ रोशनी वाली बिजली की बत्तियां जगमगाने लगीं, जिनके प्रतिबिम्ब नदी के पानी में बहुत ही सुन्दर दीखने लगे। नहर की ओर नदी का पानी प्रपात के रूप में गिर रहा था, जिसके कारण ऊंची-ऊंची फुहारें उठ रही थीं और एक भारी-सी आवाज लगातार हो रही थी।

रात होते-होते अच्छी वर्षा होने लगी, किन्तु हम लोग खा-पीकर आराम से सो गए। अगले दिन भी बादल फटे नहीं थे, किंतु वर्षा रुक गई थी। हम बस पर चढ़कर भाखड़ा की ओर रवाना हुए। नांगल से भाखडा कोई दस मील है। वहां रेल भी जाती है और मोटर भी जा सकती है। रास्ता सतलुज के किनारे-किनारे ही चला गया है। यह पहाड़ी स्थान है और यहां मोटर चलाने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। जगह-जगह सूचना-पट्ट लगे हुए थे, जिनपर मोटर-चालकों को गाड़ी सावधानी से चलाने के लिए चेतावनियां लिखी हुई थीं। अभी हम भाखड़ा से दूर ही थे कि हमने सड़क से कुछ हटकर एक रबड़ का पट्टा चलता देखा। यह पट्टा मशीनों की सहायता से घूम रहा था। पट्टे के ऊपर रेत और कंकड़ पड़े हुए

थे, जो पट्टा घूमने के साथ-साथ तेज़ी से एक ओर को चले जा रहे थे। पता चला कि यह पट्टा साढ़े चार मील दूर से इसी तरह रोड़ियां और रेत ढोकर भाखड़ा के बांध तक पहुंचाता है। ढुलाई का यह सुविधाजनक और जल्दी काम करने वाला साधन है। इसे देखकर बहुत आश्चर्य हुआ।

भाखड़ा में सतलुज नदी दो तंग पहाड़ियों में से होकर बह रही थी। इंजीनियरों ने यह हिसाब लगाया कि यदि इस स्थान पर बांध बना दिया जाए, तो उससे अस्सी वर्ग मील की एक झील तैयार हो जाएगी, जिसमें वर्षा का पानी भरकर जमा होता रहेगा और उसी पानी को सर्दियों और गर्मियों में साल भर सिंचाई के काम में लाया जा सकेगा। इसी योजना को पूरा करने के लिए साढ़े सात सौ फुट ऊंचा यह बांध तैयार किया जा रहा है। बांध का अढ़ाई सौ फुट हिस्सा तो नींव के रूप में ज़मीन के अन्दर है और पांच सौ फुट ऊंचा बांध ज़मीन के ऊपर है। अभी यह बांध पूरा नहीं बना था। चार सौ फुट ऊंचा बांध बनना अभी शेष था। फिर भी जितना कुछ काम वहां हो रहा था, उसे देखकर आश्चर्य ही होता था कि इन ऊंची-नीची पहाड़ियों में इतना सारा निर्माण-कार्य कैसे हो रहा है! सारी नदी को बांधकर एक बहुत छोटे-से स्थान में से बांध के ऊपर से गिराया जा रहा था। नदी का यह प्रपात बहुत ही नयनाभिराम था। वहां के सन्दर्शकों ने बतलाया कि यहां दो बिजलीघर बनाए जाएंगे, जिनसे नब्बे हज़ार किलोवाट बिजली पैदा होगी।

हमने पहाड़ पर ऊपर चढ़कर बांध के दोनों ओर देखा। बांध के दूसरी ओर जो झील बनती है, वह इस समय यद्यपि बहुत छोटी थी, फिर भी बड़ी भली मालूम हो रही थी। हमें बताया गया कि इस समय यह झील कुल बारह वर्ग मील की है। बांध पूरा बन जाने पर यह अस्सी वर्ग मील हो जाएगी। हमने उस दृश्य की मन ही मन कल्पना की और इसमें सन्देह न रहा कि जब यह झील पूरी बन जाएगी, तो सचमुच ही दर्शनीय होगी।

काफी देर तक बांध और उसके आसपास की दूसरी रचनाओं को हम देखते रहे और सन्दर्शकों से बांध के बारे में जानकारी प्राप्त करते रहे। दोपहर के लगभग हम वापस लौट पड़े।

दोपहर का भोजन हमने नांगल में किया और उसके बाद रवाना होकर चंडीगढ़

जा पहुंचे। रात चंडीगढ़ में बिताई। अगले दिन सवेरे उठकर घूम-फिरकर चंडीगढ़ देखा। इतने विस्तृत शहर में घूमना-फिरना भी आसान काम नहीं है। सरकारी सचिवालय और उच्च न्यायालय के भवन प्रभावोत्पादक प्रतीत हुए। दोपहर को हम चंडीगढ़ से दिल्ली के लिए रवाना हो गए और शाम होते-होते दिल्ली पहुंच गए। ऐसा लगता है कि बादल हमारे दिल्ली पहुंचने की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। क्योंकि दिल्ली पहुंचते ही मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई।

अन्य संभावित शीर्षक

१. कोई यात्रा
२. भारत के नये तीर्थ

हिमालय पर विजय

रूपरेखा

हिमालय की विजय के प्रयत्न बहुत पहले से चल रहे हैं। हिमालय के सर्वोच्च शिखर का नाम चौंगुलागामा है। इसपर चढ़ने की इच्छा साहसिक यात्रियों के मन में तभी से थी, जब से इस शिखर का पता चला था।

चौंगुलागामा का अर्थ है—पर्वतों की रानी। इसी शिखर को माउण्ट ऐवरेस्ट भी कहते हैं। इसकी ऊंचाई २९१४१ फुट है।

हिमालय का वर्णन। हिमालय की तराई, जिसमें घने जंगल हैं और तरह-तरह के वनपशु रहते हैं। उसके ऊपर पर्वतीय शिखर, जहां सुन्दर नगर बसे हुए हैं और सबसे ऊपर हिमाच्छादित चोटियां, जिनपर बर्फ कभी समाप्त ही नहीं होती।

चौंगुलागामा पर अभियान के लिए तिब्बत और नैपाल की सीमा में से गुज़रना आवश्यक है। पहले पहल १९२१ में तिब्बत सरकार ने चौंगुलागामा पर

जाने के लिए एक दल को अनुमति दी। इस दल का नेता कर्नल हावर्ड बरी था। यह दल १८००० फुट की ऊंचाई तक गया। वहां आधार-शिविर बनाकर ये लोग ५००० फुट और ऊपर चढ़ सके। किन्तु वहां से इन्हें वापस लौटना पड़ा। १९२२ में ब्रिगेडियर जनरल ब्रूस ने चौंगुलागामा पर चढ़ाई की, पर ब्रूस अधिक से अधिक २८१०० फुट की ऊंचाई तक चढ़ सका और वापस लौट आया। दल के दो सदस्य ऐंड्रयू इरवाइन और ली-मैलौरी चौंगुलागामा पर चढ़ने गए, पर कभी वापस नहीं लौटे। १९३३, १९३५, १९३६ और १९३८ में भी कई यात्री-दल गए, किन्तु उनमें से किसीको विशेष सफलता न मिली।

हिमालय पर चढ़ाई की कठिनाइयां। चौंगुलागामा पर चढ़ने के लिए पहले तो लगभग दो सौ मील का रास्ता तय करके पहाड़ की जड़ तक पहुंचना होता है। यह रास्ता भी बहुत थका देने वाला है। इन ऊंचे शिखरों पर सर्दी बहुत पड़ती है। यहां चढ़ने के लिए विशेष कपड़े बनाए जाते हैं जो गर्म, हवारोक और साथ ही हल्के भी हों। हवा हल्की होने के कारण सांस फूलता है, थकान आती है और वज़न उठाना कठिन हो जाता है। जी मिचलाता है और वज़न घटने लगता है। जगह-जगह कच्ची बर्फ का खतरा रहता है, जिसके कारण यात्री गहरे गड्ढों में गिर सकते हैं, जो शेरपा कुली मामूली पहाड़ों पर डेढ़ मन वज़न उठाकर चल सकते हैं, वे इस ऊंचाई पर दस सेर से अधिक वज़न नहीं उठा सकते।

सन् १९५१ में ऐरिक शिप्टन ने नैपाल होकर चौंगुलागामा पर दक्षिण की ओर से चढ़ने के लिए एक नये मार्ग का पता लगाया। १९५२ में एक स्विस यात्री-दल के दो सदस्य रेमण्ड लैम्बर्ट और तेनसिंह नोरके २८२०० फुट की ऊंचाई तक चढ़ सके।

१९५३ में कर्नल हंट के नेतृत्व में एक दल गया, जिसे चौंगुलागामा को विजय करने में सफलता प्राप्त हुई। उस दल के दो सदस्य तेनसिंह नोरके और ऐडमण्ड हिलेरी २९ मई को इस शिखर के ऊपर पहुंच गए, कर्नल हंट ने पुराने अनुभवों से फायदा उठाया था। यह दल इतना सामान लेकर चला था कि उसे उठाने के लिए ३६२ कुली किए गए थे। औक्सीजन के नये और हल्के यन्त्र बनाए गए थे और सबसे बढ़कर इस दल के सदस्य दृढ़ सकल्प के साथ जा रहे थे। तेनसिंह नोरके तो

जान पर खेलकर भी चौंगुलागामा पर पहुंचने के लिए बेचैन था।

२५ मई को दल के दो सदस्य बोर्डिलोन और ईवान्स को चढ़ाई के लिए भेजा गया, पर वे २८२७० फुट की ऊंचाई तक पहुंचकर लौट पड़े। २७ मई को तेनसिंह और हिलेरी को भेजा गया। २८ मई को सारे दिन हवा चलती रही। इसलिए ये दोनों तम्बू में पड़े रहे। २९ मई को इन्होंने चढ़ाई शुरू की। इनके यन्त्रों में औक्सीजन गैस बहुत कम रह गई थी। इसके सहारे जाना और लौट पाना सम्भव नहीं था। तभी इन्हें पहले दिन बोर्डिलोन और ईवान्स द्वारा फेंके हुए दो औक्सीजन-यन्त्र मिल गए, जिनसे इन्हें बड़ी सहायता मिली। कठोर परिश्रम करते हुए ये दोनों शिखर के ऊपर जा पहुंचे और वहां तेनसिंह ने भारत, नैपाल और इंग्लैंड के झंडे फहरा दिए और हिलेरी ने उसका फोटो खींच लिया।

मनुष्य की बुद्धि, साहस और संकल्प के सामने प्रकृति को हार माननी पड़ती है। साहसी लोगों का संसार में सम्मान होता है।

प्रदर्शनी

रूपरेखा

मैंने पहले भी अनेक प्रदर्शनियां देखी हैं। १९५५ में दिल्ली में हुई उद्योग-प्रदर्शनी तो बहुत ही सुन्दर थी। उसके बाद दिल्ली में ही रेल-प्रदर्शनी हुई थी। १९५८ में दिल्ली में भारत के औद्योगिक विकास की एक प्रदर्शनी हुई, जिसमें सारे भारत की झलक दिखाई गई थी। यह प्रदर्शनी मुझे बहुत ही अच्छी लगी।

प्रदर्शनी में बिजली की रंग-बिरंगी बत्तियों की ऐसी भरमार थी कि पास पहुंचते ही प्रदर्शनी में घुसने से पहले ही ऐसा लगता जैसे इन्द्रपुरी में आ पहुंचे हों। दो बड़ी-बड़ी सर्चलाइटों का प्रकाश आकाश में छोड़ा जाता था, जो कई मील तक दिखाई पड़ता था।

प्रदर्शनी के अन्दर घुसने पर तो हम अवाक् ही रह गए। सब ओर खूब सजी हुई और प्रकाश से दमकती हुई दूकानें थीं। एक ओर किसी साइकिल कम्पनी का प्रदर्शन-कक्ष था, जहां एक नकली आदमी बैठा हुआ साइकिल चला रहा था। लोगों की सवारी के लिए भी कई साइकिलें बिजली से चलाई जाती थीं। कुछ और आगे बढ़ने पर चीनी मिट्टी के बर्तनों की दूकानें थीं। ऐसे सुन्दर चीनी मिट्टी के बर्तन हमने पहले कहीं नहीं देखे थे।

रेशमी कपड़ों की दुकानें भी बहुत सुन्दर थीं। एक जगह जूट से तैयार होने वाले रस्सों, दरियों और कालीनों का प्रदर्शन था। इसी प्रकार अनेक बड़ी-बड़ी कम्पनियों ने अपने बनाए हुए सामान का प्रदर्शन किया हुआ था। इनके अतिरिक्त अलग-अलग राज्य-सरकारों ने अपने-अपने राज्य की विकास-योजनाओं का प्रदर्शन किया था। कहां-कहां नदियों पर बांध बंध रहे हैं, उनसे कितनी नहरें निकलेंगी, कितनी बिजली पैदा होगी, ये सब बातें नमूने बनाकर और चार्ट बनाकर दिखाई गई थीं। इसके अतिरिक्त कृषि के सुधार और शिक्षा के प्रसार के लिए बरते जा रहे उपायों का भी प्रदर्शन था। सभी राज्यों के प्रदर्शन-कक्ष बहुत सुन्दर बने हुए थे। राजस्थान के कक्ष के सामने तो एक पिंजड़े में दो शेर के बच्चे भी रखे हुए थे।

रक्षा मन्त्रालय का प्रदर्शन-कक्ष अलग था, जिसमें तरह-तरह के हथियार और दूसरा सामान दिखाया गया था। पास ही दो-तीन छोटे-छोटे विमान भी थे और पानी में चलने वाली नौकाएं भी थीं। रेलवे मंत्रालय की ओर से रेल और इंजिनों के अलग-अलग भागों का प्रदर्शन किया गया था। यह प्रदर्शनी इतनी बड़ी थी कि यदि सारी प्रदर्शनी को देखा जाता, तो २७ मील चलना पड़ता। इसलिए हम केवल मुख्य-मुख्य भागों को ही देख पाए।

प्रदर्शनी के अन्दर ही एक झील भी बनी हुई थी। इसके बीच में भाखड़ा-नांगल के बांध का नमूना बहुत बड़ा और सुन्दर बनाया गया था और झील में नौकाएं चलाने का भी प्रबन्ध था। हमने नौका पर भी सवारी की।

किंतु मुझे तो सबसे अधिक आनन्द उस भाग को देखकर आया, जिसमें तरह-तरह के मनोरंजक खेल थे। एक बड़ा ऊंचा गोल झूला था। जब उसमें हम बैठे, तो बहुत ही आनंद आया। जब झूला ऊपर जाता था, तो सारी प्रदर्शनी एक दृष्टि में

दिखाई पड़ती थी और जब झूला नीचे उतरता था, तो थोड़ा डर-सा लगता था। पर शीघ्र ही वह डर दूर हो गया। यहां और भी तरह-तरह के झूले थे। एक जगह अपनी शक्ति आज़माने के लिए मशीन लगी हुई थी। लोग वहां पैसे दे-देकर अपनी शक्ति-परीक्षा कर रहे थे। जगह-जगह ऐसे कई खेल थे, जिनमें लोग निशाना लगाकर इनाम प्राप्त कर सकते थे। परन्तु मैंने किसीको इनाम पाते नहीं देखा। एक जगह एक विचित्र लड़की थी, जिसके शरीर से आग निकलती थी। वह एक कुर्सी पर बैठ जाती थी और उसके शरीर को मशाल छुआने से मशाल जल उठती थी। एक और लड़की थी, जिसका सिर तो लकड़ी का था, पर बाकी शरीर सांप का था। वह आदमी की तरह बोलती थी। इसी प्रकार और भी अनेक विचित्र वस्तुएं देखकर हम अन्त में बहुत थक गए और कुछ खाने बैठे।

यहां खाने-पीने की दूकानें तो बहुत बड़ी थीं, किंतु सामान बहुत गन्दा और मंहगा था। हमने यह सोचा कि अगर कभी प्रदर्शनी देखने जाना ही हो, तो कम से कम खाने का सामान अपने साथ लेकर जाना चाहिए। जब प्रदर्शनी देखकर बाहर निकले, तो बस के अड्डे पर लंबी कतार लगी हुई थी, किंतु शीघ्र ही कई बसें आ गईं और सारी कतार खत्म हो गई। हम मज़े से घर लौट आए।

अभ्यास के लिए कुछ प्रश्न

१. दशहरा
२. शिवरात्रि
३. संग्रहालय की सैर
४. हरिद्वार की यात्रा
५. भारत की राजधानी के दर्शन

विवरण-प्रधान निबन्ध

(१) जीवनचरितात्मक (२) समस्यामूलक

विवरण-प्रधान निबंध (१) जीवनचरितों या घटनाओं को लेकर या फिर (२) कुछ समस्याओं को लेकर भी लिखे जा सकते हैं।

जीवनचरित के रूप में लिखे गए निबंधों में व्यक्ति के जन्म, काल, स्थान आदि के साथ उसके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख भी रहना चाहिए। उसके जीवन में जो घटना जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण रही हो, उसका वर्णन उतने ही अधिक विस्तार के साथ किया जाना चाहिए। परंतु घटनाओं का क्रम महत्त्व के आधार पर बदलना ठीक नहीं है। वे तो काल-क्रम से ही लिखी जानी चाहिएं। जीवनवृत्त लिखने के अतिरिक्त यह भी बताना आवश्यक है कि वह व्यक्ति किसलिए प्रसिद्ध हुआ। उसने जीवन में अपना क्या लक्ष्य बनाया था, जिस तक पहुंचने के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी? उस व्यक्ति का जाति, समाज और देश पर क्या प्रभाव पड़ा? व्यक्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता या विशेषता का उल्लेख भूमिका वाले भाग में किया जा सकता है और समाज या जाति पर पड़े प्रभाव का उल्लेख उपसंहार वाले भाग में।

समस्यामूलक विवरण-प्रधान निबंधों में उस समस्या का पिछला इतिहास और वर्तमान स्वरूप—उस समस्या की पृष्ठभूमि, उसके वर्तमान रूप, उसके पक्ष-विपक्ष में लोगों के विचार और उसे हल करने के उपाय—लिख देना होता है। इस प्रकार के निबंधों में विवरण के साथ-साथ कुछ अंश विवेचन का भी आ जाता है इसलिए इन्हें विवरणात्मक न कहकर विवरण-प्रधान कहा गया है।

जीवनचरितात्मक

शिवाजी

भारतीय इतिहास में शिवाजी का नाम सर्वश्रेष्ठ सेनापतियों में गिना जाता है। उनका जन्म एक सामान्य परिवार में हुआ था; किन्तु अपनी सूझ-बूझ, वीरता और साहस के बल पर उन्होंने मराठा साम्राज्य की स्थापना की और उस समय की सबसे बड़ी शक्ति मुगल साम्राज्य से टक्कर ली। शिवाजी उस समय के अत्याचारी मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोही बनकर खड़े हुए थे। इस कारण देश-वासी एक राष्ट्रनेता के रूप में भी उनका सम्मान करते हैं।

शिवाजी के पिता शाहजी बीजापुर दरबार के एक सामन्त थे और शिवाजी की माता जीजाबाई बहुत धर्मपरायण महिला थीं। शिवाजी जो कुछ बने, उसका अधिकांश श्रेय उनकी माता को ही है। जीजाबाई ने बाल्यकाल में ही वीरता की अनेक गाथाएं सुना-सुनाकर शिवाजी के मन में साहस की भावना कूट-कूटकर भर दी थी। क्षत्रिय बालक को घुड़सवारी करना, तलवार और भाला चलाना आदि जो विद्याएं आनी चाहिएं, वे सब शिवाजी ने बहुत जल्दी सीख ली थीं।

जब शिवाजी बालक ही थे, तभी वे लड़ाइयों और दुर्ग जीतने के खेल खेला करते थे। उन्होंने बहुत-से साथी इकट्ठे कर लिए थे और उनकी एक छोटी-सी सेना तैयार कर ली थी। इन साथियों की सहायता से एक बार उन्होंने खेल ही खेल में बीजापुर राज्य के कुछ किलों पर सचमुच ही अधिकार कर लिया। बदले में बीजापुर के नवाब ने उनके पिता शाहजी को कैद कर लिया। अपने पिता को कैद से छुड़ाने के लिए शिवाजी को वे किले वापस लौटा देने पड़े।

कुछ समय बाद उन्होंने मुगल साम्राज्य की ओर मुख मोड़ा और उनके किलों पर अधिकार करना शुरू कर दिया। इससे दिल्ली के मुगल बादशाह और बीजापुर का सुल्तान, दोनों उनके विरोधी हो गए और शिवाजी को कुचलने का उपाय सोचने लगे।

एक-एक करके शिवाजी ने बहुत-से किलों पर कब्ज़ा कर लिया था और अपना एक छोटा-मोटा राज्य ही खड़ा कर लिया था। बीजापुर के सुल्तान ने अफ़ज़ल खां नामक सेनापति को शिवाजी को दबाने के लिए भेजा। अफ़जल खां बड़ा अभिमानी और धूर्त सेनापति था। उसने शिवाजी के साथ संधि की चर्चा चलाकर उन्हें धोखे से कैद करना चाहा। यह तय हुआ कि था शिवाजी और अफ़ज़ल खां एक तम्बू में मिलेंगे और यहां संधि की शर्तें तय कर लेंगे। शिवाजी सावधान थे और इस बात के लिए तैयार थे कि शत्रु उनके साथ धोखा कर सकता है। अफजल खां ने मिलते ही शिवाजी को बगल में दबाने की कोशिश की और जब वे काबू में न आए, तो उसने उनपर तलवार से वार किया। तलवार सिर पर लगी, पर शिवाजी ने सिर पर लोहे का शिरस्त्राण पहना हुआ था। उसके कारण वे बच गए। तब उन्होंने अफ़ज़ल खां को पकड़ लिया और बखनखों से उसका पेट चीर दिया। उसके बाद शिवाजी की सेना ने अफ़ज़ल खां की सेना को लूट लिया और तम्बुओं में आग लगा दी। बीजापुर की सेना में फिर कभी शिवाजी का सामना करने का दम न रहा।

शिवाजी की सफलता से दिल्ली का बादशाह औरंगज़ेब बहुत चिन्तित हुआ। उसने अपने मामा शाइस्ता खां को एक बड़ी फौज देकर शिवाजी को हराने के लिए भेजा। इस फौज के साथ जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह भी थे। मुगलों की फौज बहुत बड़ी थी। उसने धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए शिवाजी के बहुत-से किलों पर कब्ज़ा कर लिया। शिवाजी की राजधानी पूना थी। शाइस्ता खां ने पूना पर भी अधिकार कर लिया। कुछ समय बाद शाइस्ता खां बेफिक्र हो गया और आराम से पूना में रहने लगा। एक दित रात के समय शिवाजी और उनके सिपाही एक बरात का स्वांग भरकर शहर में घुस आए। आधी रात के समय जब सब लोग सो रहे थे शिवाजी और उनके सैनिकों ने उस महल पर धावा बोल दिया जिसमें शाइस्ता खां रहता था। शाइस्ता खां बड़ी मुश्किल से जान बचाकर भाग सका। उस रात की लड़ाई में हज़ारों मुगल सिपाही मारे गए। शाइस्ता खां को वापस लौट आना पड़ा।

इसके बाद औरंगज़ेब ने जयपुर के राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध लड़ने भेजा। जयसिंह ने शिवाजी को समझाया कि इस समय औरंगज़ेब से लड़ने में कोई लाभ नहीं है। अच्छा यह हो कि आप भी औरंगज़ेब के सामन्त बनकर मुगल दर-

बार में आ जाएं और फिर हम सब लोग मिलकर औरंगज़ेब पर दबाव डाल सकेंगे। शिवाजी तैयार हो गए। वे दिल्ली गए। परन्तु औरंगज़ेब ने उन्हें पांच-हज़ारी मन-सबदार बनाया। शिवाजी ने इसे अपना अपमान समझा और उन्होंने औरंगज़ेब को कुछ कटु वचन कह दिए। इसपर उन्हें उनके मकान में ही नज़रबन्द कर दिया गया। उस समय शिवाजी ने एक चाल चली। उन्होंने अपने बहुत अधिक बीमार होने की खबर सब ओर फैलवा दी। कुछ दिन बाद उनके स्वस्थ होने की खबर फैली और स्वस्थ होने की खुशी में वे मिठाइयों के टोकरे अपने इष्ट-मित्रों के पास भिज-वाने लगे। अन्त में शाम के समय ऐसे ही मिठाई के टोकरों में बैठकर शिवाजी अपने पुत्र सम्भाजी को साथ लेकर औरंगज़ेब की कैद से निकल भागे। कुछ दिन वे साधु का वेश बनाकर यात्रा करते रहे और अन्त में महाराष्ट्र में पहुंचकर उन्होंने मुगलों के विरुद्ध फिर लड़ाई छेड़ दी। यह लड़ाई फिर तब तक समाप्त नहीं हुई जब तक कि मराठों ने सारी दिल्ली पर ही कब्ज़ा नहीं कर लिया।

अपना राज्य स्थापित करके शिवाजी ने बाकायदा अपना राज्याभिषेक किया। कहा जाता है कि बहुत-से ब्राह्मण पण्डितों ने उनका अभिषेक कराने से इंकार कर दिया था, किन्तु अन्त में एक ब्राह्मण पण्डित ने उनका राज्याभिषेक करवाया और वे छत्रपति शिवाजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शिवाजी बहुत वीर और साहसी थे, यह तो उनकी विजयों और सफलताओं से ही स्पष्ट है। परन्तु उनका सबसे अधिक महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने भारत में एक नई युद्धकला का प्रारम्भ किया। शिवाजी से पहले राजपूत लोग यह सम-झते रहे थे कि युद्ध में पीठ दिखाना कायरता की निशानी है, इसलिए चाहे अपना बल कम और शत्रु का बल अधिक भी हो, तब भी युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाना ही सबसे बड़ी वीरता है। परन्तु शिवाजी ने इस बात को समझा कि युद्ध का अंतिम उद्देश्य विजय है; वीरता-प्रदर्शन अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए शत्रु को असावधान देखकर उसपर आक्रमण करना चाहिए; किन्तु यदि अपनी शक्ति उसकी अपेक्षा कम हो, तो युद्ध से पीछे हट जाना चाहिए और आक्रमण का नया अवसर खोजना चाहिए। यह छापामार युद्ध ही शिवाजी की सफलता का सबसे बड़ा कारण था। मुगलों की सेना जब शिवाजी से युद्ध करने चलती थी, तो शिवाजी

की सेना कहीं दिखाई ही नहीं पड़ती थी। और फिर एकाएक रात के समय या किसी भी समय असावधान पाकर वह मुगलों पर हमला कर देती, रसद लूट लेती और फिर जैसे आंधी की तरह आई थी, वैसे ही चली जाती।

शिवाजी केवल वीर योद्धा ही नहीं थे, अपितु कुशल शासक भी थे। उन्होंने राज्याभिषेक के बाद अपने शासन का काम बड़ी कुशलता से चलाया, जिसके कारण उनकी मृत्यु के बाद भी मराठा साम्राज्य अधिकाधिक शक्तिशाली होता चला गया। यदि शासन और संगठन की बुद्धि उनमें न होती, तो उनकी सफलताएं उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गई होतीं।

शिवाजी कला-प्रेमी और कला-पारखी भी थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भूषण शिवाजी के आश्रम में ही रहते थे और शिवाजी ने उनका बहुत सम्मान किया था। भूषण की कविताओं को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि औरंगज़ेब द्वारा हिंदुओं पर किए जाने वाले अत्याचारों का विरोध करने के लिए ही शिवाजी लड़ रहे थे। अपना निजी साम्राज्य बढ़ाने की उनकी इच्छा चाहे जितनी प्रबल रही हो, किन्तु मुगलों के विरोध से हिन्दू शक्ति को बलवान बनाना भी उनका बड़ा उद्देश्य था और इस उद्देश्य में उनको सफलता मिली।

केवल वीरता और रण-कौशल के कारण शिवाजी को सफलता नहीं मिली, अपितु वह उच्च कोटि के कूटनीतिज्ञ भी थे। औरंगज़ेब उनके विरुद्ध जिन हिन्दू राजाओं को लड़ने के लिए भेजता था, उन्हें वह अंशत: अपनी ओर मिला लेते थे। उनके गुप्तचर शत्रु की हर गति-विधि का समाचार उन तक पहुंचाते थे। सारा महाराष्ट्र प्रदेश मुगलों के लिए परदेश था और वहां के सभी निवासी प्रसन्नता से शिवाजी के लिए गुप्तचर का काम करने को उद्यत रहते थे।

साधारण परिवार में उत्पन्न होकर बड़ा साम्राज्य स्थापित करने वाले वीर योद्धा इतिहास में बहुत नहीं हुए। सिकन्दर, नेपोलियन और हिटलर के अतिरिक्त ऐसे सफल योद्धा कम ही हुए होंगे, जिनकी तुलना शिवाजी के साथ की जा सके। शिवाजी की सफलता का महत्त्व इसलिए और भी अधिक हो जाता है, कि उन्होंने जिन शक्तियों से लोहा लिया वे कोई दुर्बल या पिछड़ी हुई सैनिक शक्तियां नहीं थीं, अपितु वे उस समय के संसार की सबसे बड़ी और उन्नत शक्तियां थीं। इसी-

लिए शिवाजी का नाम भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. छत्रपति शिवाजी
२. कोई इतिहास-प्रसिद्ध वीर

राणा प्रताप

स्वाधीनता की वेदी पर अपना सर्वस्व निछावर कर देने वालों और स्वाधीनता के लिए भयंकरतम कष्ट सहने वाले वीरों में राणा प्रताप का नाम सबसे ऊपर लिखे जाने योग्य है। भारत के इतिहास में राणा प्रताप वीरता के प्रतीक गिने जाते हैं। उन्होंने आजीवन कष्ट सहकर भी अपनी राजपूती आन को बनाए रखा और हज़ार प्रलोभन होने पर भी वे डिगे नहीं और उन्होंने अकबर का सामन्त बनना स्वीकार नहीं किया। स्वाधीनता के लिए किए गए बलिदानों ने उनके नाम को सदा के लिए उज्वल कर दिया है।

राजस्थान में मेवाड़ एक छोटा-सा राज्य है। इसकी राजधानी चित्तौड़ थी। वहां सिसोदिया वंश का राज्य था। इस वंश में पहले बड़े-बड़े वीर राजा जन्म ले चुके थे। राणा कुम्भा ने बडी-बड़ी विजयें प्राप्त करके चित्तौड़ में एक कीर्ति-स्तम्भ बनवाया था। कुम्भा के बाद राणा संग्रामसिंह ने भी अपनी वीरता की धाक दूर-दूर तक जमाई, किन्तु बाबर के साथ हुई सीकरी की लड़ाई में सांगा हार गया। सांगा के पुत्र उदयसिंह ने कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं किया; किन्तु उदयसिंह के पुत्र राणा प्रताप में अपने दादा की वीरता फिर दिखाई पड़ी।

उन दिनों दिल्ली पर अकबर का राज्य था। अकबर वीर, बुद्धिमान और नीति-निपुण शासक था। उसने यह समझ लिया था कि यदि उसे भारत में अपना साम्राज्य जमाना है, तो हिन्दू राजाओं से वैर-विरोध करके उसका काम नहीं चल

सकता। इसलिए उसने हिन्दू राजाओं को अपना मित्र बनाने की हर संभव चेष्टा की; यहां तक कि उनके साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किए। अकबर की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि थोड़े समय में लगभग सभी हिन्दू राजा अकबर के मित्र बन गए, जिसका अर्थ था कि वे अकबर के अधीन हो गए।

परन्तु मेवाड़ के राणा अपने आपको राजपूतों में सर्वश्रेष्ठ समझते थे, इसलिए उन्होंने अकबर की अधीनता स्वीकार करना या अपनी कन्याओं का विवाह मुगलों के साथ करना स्वीकार नहीं किया और प्राण रहते अपनी स्वाधीनता बनाए रखने का संकल्प किया।

किन्तु शक्तिशाली अकबर यह कैसे देख सकता था कि जब बाकी सारा राजस्थान बल या नीति से उसके वश में हो गया है, तब एक छोटा-सा मेवाड़ राज्य स्वतन्त्र रह जाए। इसलिए वह सदा मेवाड़ को हराने के लिए प्रयत्नशील रहता था। परन्तु मेवाड़ को हराना आसान काम नहीं था। मेवाड़ दिल्ली से दूर था और बीच का रास्ता सेनाओं के अवागमन के लिए बहुत भला नहीं था; और सबसे बड़ी बात यह कि मेवाड़ की प्रजा भी अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ मरने को तैयार थी।

एक बार जयपुर के राजा मानसिंह का राणा प्रताप से कुछ वैमनस्य हो गया। मानसिंह का अकबर के दरबार में बहुत प्रभाव था। अकबर ने राणा प्रताप को हराने के लिए एक बड़ी सेना भेजी। राणा प्रताप ने हल्दीघाटी में इस सेना से मोर्चा लिया। राजपूतों ने युद्ध में अनुपम वीरता दिखाई, किन्तु इतनी बड़ी मुगल सेना के मुकाबले में वे जीत न सके। अधिकांश राजपूत सेना युद्ध में ही कट मरी। राणा प्रताप भी उस युद्ध में ही काम आए होते, किन्तु झालावाड़ के नरेश मानसिंह ने उनको बचाने के लिए अपने प्राण दे दिए और उनसे अनुरोध किया कि वे युद्धक्षेत्र से बाहर निकल जाएं, जिससे मेवाड़ की स्वाधीनता की लड़ाई को आगे भी जारी रख सकें।

राणा प्रताप का अपने छोटे भाई शक्तिसिंह से पहले कभी झगड़ा हो गया था, जिससे रुष्ट होकर शक्तिसिंह अकबर के पास चला गया था। अब जब राणा प्रताप युद्धक्षेत्र से लौटने लगे तब शक्तिसिंह ने उन्हें देख लिया। उसने यह भी

देखा कि दो मुगल सिपाही राणा प्रताप का पीछा कर रहे हैं। उसके हृदय में भ्रातृ-प्रेम जाग उठा। उसने अपना घोड़ा उन मुगल सिपाहियों के पीछे डाल दिया। कुछ दूर पहुंचने पर उसने उन दोनों सिपाहियों को मार डाला और राणा प्रताप से भेंट की। इस विपत्ति के समय में दोनों अपनी पुरानी शत्रुता भूल गए और प्रेम से गले मिले। उसी समय राणा प्रताप के स्वामिभक्त घोड़े चेतक की मृत्यु हो गई। शक्तिसिंह ने राणा प्रताप को अपना घोड़ा दे दिया और वापस लौट आया।

उसके बाद राणा प्रताप का घोर कठिनाइयों का जीवन शुरू हुआ। चित्तौड़ उन्हें छोड़ देना पड़ा। वे पहाड़ों में रहते थे और समय-समय पर मुगलों की रसद को लूटकर अपना काम चलाते थे। परन्तु बहुत बार उन्हें खाने को रोटी तक न मिलती थी। वर्षों तक इस प्रकार लड़ते-लड़ते और कष्ट सहते-सहते एक बार कहते हैं कि राणा प्रताप की भी हिम्मत टूट गई और उन्होंने अकबर के नाम संधि का संदेश भेजा। अकबर के दरबार में पृथ्वीराज नाम का एक राजपूत कवि रहता था। संदेश देखकर उसने अकबर से कहा कि यह कोई जाली संदेश मालूम होता है। ये राणा प्रताप के हस्ताक्षर नहीं हैं। पृथ्वीराज ने एक पत्र लिखकर राणा प्रताप को अपनी लड़ाई जारी रखने के लिए उत्साहित किया। राणा प्रताप में नया साहस और नया धैर्य आ गया। उन्होंने फिर अपनी लड़ाई शुरू कर दी। अपनी मृत्यु से पहले वह मेवाड़-राज्य के काफी बड़े भाग को वापस जीत चुके थे।

मृत्यु के समय राणा प्रताप को इस बात का भय था कि उनका पुत्र अमरसिंह वैसा दृढ़चित्त और धैर्यवान योद्धा नहीं है, जैसे कि वे स्वयं थे; इसलिए कहीं वह युद्ध बन्द करके अकबर का सामन्त बनना स्वीकार न कर ले। परन्तु राणा प्रताप के विश्वस्त सरदारों ने उन्हें भरोसा दिलाया कि हमारे जीते जी ऐसा नहीं होगा। अमरसिंह मेवाड़ को स्वाधीन रखेगा। यह सुनकर राणा प्रताप को बहुत संतोष हुआ और उन्होंने बड़ी शान्ति के साथ इस संसार से प्रस्थान किया।

राणा प्रताप का जीवन दृढ़ता, वीरता, बलिदान, साहस और धैर्य की एक उज्वल कहानी है। स्वाधीनता का ऐसा पुजारी हमारे देश के इतिहास में शायद ही कोई हुआ हो। उन्हें मालूम था कि उनका विरोधी अकबर बहुत शक्तिशाली है और अनेक हिन्दू राजा उसके साथ मिल चुके हैं; उसका विरोध करके विजय

की आशा नहीं है, फिर भी पराजित होकर अधीनता का जीवन बिताना, उन्होंने पसन्द नहीं किया। यदि वे चाहते तो अरावली की सूखी पहाड़ियों में भटकने के बजाय अकबर से सन्धि करके सुख से महलों में निवास कर सकते थे। परन्तु सुख के लिए अपने आदर और सम्मान का बलिदान करना उन्हें न रुचा। उन्होंने यह समझा कि स्वाधीनता की सूखी रोटी गुलामी के हलवे से कहीं अच्छी है। यही कारण है कि आज इतिहास में राणा प्रताप का उल्लेख तो इतने विस्तार और सम्मान के साथ होता है, किन्तु जिन अनेक राजाओं ने युद्ध और कष्ट से बचने के लिए, सुख पाने के लिए, अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, उनके नाम भी कोई नहीं जानता; और यदि कभी जान भी पाता है तो उनको सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता।

राणा प्रताप स्वाधीनता के महान् पुजारी और हमारे महान् जातीय नेता थे। उनकी वीरता की कहानी चिरकाल तक युवकों के हृदय में साहस और बल का संचार करती रहेगी।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. इतिहास-प्रसिद्ध कोई वीर
२. कोई स्वाधीनता का पुजारी

महर्षि दयानन्द

यदि भारत के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास को ध्यान से पढ़ा जाए, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में अंग्रेज़ों के पांव जब से जमे, तभी से भारत की स्वाधीनता की लड़ाई प्रारम्भ हो गई थी। राजनीतिक घटना-चक्रों में पड़कर शासन-सत्ता अंग्रेज़ों के हाथ में आती अवश्य चली गई, किन्तु देश के विचारकों और जन-नेताओं ने विदेशी शक्ति के उत्थान को कभी अच्छा नहीं समझा और

उसको उखाड़ फेंकने के लिए वे पहले दिन से ही प्रयत्न करते रहे। कई बार १८५७ के विद्रोह को भारत की स्वाधीनता की पहली लड़ाई कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग तो १८५७ के बहुत पहले से देश में सुलग रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अवनति की चरम सीमा आ चुकी थी। शिक्षा का नितान्त अभाव था। धन विदेशों में खिचा जा रहा था। तीर्थ और मंदिर पाखंडों के गढ़ बने हुए थे। अस्पृश्यता के कारण जाति का एक बड़ा भाग निष्क्रिय और उदासीन पड़ा था। इस अवसर का लाभ उठाकर ईसाई प्रचारक और मुसलमान मौलवी हिन्दुओं को बड़ी तेज़ी से ईसाई और मुसलमान बनाते जा रहे थे। विघटन और ह्रास की प्रक्रिया पूरी तेज़ी पर थी।

ऐसे दिनों में महर्षि दयानन्द का जन्म सन् १८२४ में टंकारा नामक ग्राम में हुआ। टंकारा गुजरात में है। बचपन में दयानन्दजी का नाम मूलशंकर था। उनके पिता अम्बाशंकर शैव ब्राह्मण थे और तत्कालीन आचार-विचारों के अनुसार ही जीवन व्यतीत करते थे।

मूलशंकर के जीवन में पहली बड़ी घटना तब हुई, जब उनकी आयु केवल चौदह वर्ष की थी। शिवरात्रि के पर्व पर नियमानुसार वे उपवासपूर्वक रात्रि-जागरण कर रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा कि मन्दिर में एक चूहा शिवलिंग के ऊपर चढ़कर इधर-उधर घूमकर पूजा में चढ़ाए हुए मिष्टान्न को खाने लगा। मूलशंकर को पढ़ाया गया था कि शिव भगवान् सारे संसार के स्वामी हैं। उनकी इच्छामात्र से संसार का संहार हो सकता है और मन्दिर में स्थित शिवलिंग ही उन शिवजी का प्रतीक है। चूहे को इस प्रकार का उत्पात करते देखकर मूलशंकर के मन में यह बात आई कि यह पत्थर का शिवलिंग शिव कदापि नहीं हो सकता और अगर यह शिव है, तो इसमें कोई शक्ति नहीं है।

यह बड़ी मामूली-सी बात थी किन्तु इसका महत्त्व इस कारण बहुत अधिक है कि यह उस समय की सामान्य विचारधारा के विरोध में थी और नई थी। सभी लोग आंख मूंदकर मूर्तिपूजा करते थे और अंधविश्वासों में डूबे रहते थे।

मूर्ति भगवान् नहीं है और मूर्ति की पूजा से कुछ लाभ नहीं होगा, इस बात को उन दिनों ज़ोर देकर कहना भी हर किसीके वश का न था।

कुछ समय बाद मूलशंकर की बहिन की मृत्यु हो गई। फिर थोड़े दिन बाद चाचा की मृत्यु हो गई। मूलशंकर को वैराग्य हो गया और वे चुपचाप रात के समय घर से भाग खड़े हुए और साधु बन गए। एक बार उनके पिता उन्हें पकड़-कर वापस ले आए। किन्तु वैरागी को बांधकर नहीं रखा जा सका। मूलशंकर फिर भाग गए और देश में दूर-दूर तक भ्रमण करते रहे। वे साधु हो गए और उनका नाम दयानन्द पड़ा। पहले उन्हें योग सीखने की बड़ी इच्छा थी। किसी सच्चे योगी गुरु की खोज में वे दूर-दूर तक घूमे, पर सभी जगह उन्हें ढोंगी और धूर्त साधु ही दिखाई पड़े। अन्त में योग की ओर से निराश होकर १८६० में दयानन्द मथुरा पहुंचे और वहां दण्डी स्वामी विरजानन्द के पास रहकर उनसे वेद, व्याकरण इत्यादि सीखने लगे।

विरजानन्द जी आंखों से अन्धे थे। देश में फैले हुए पाखंडों के कारण उन्हें बड़ी मनोवेदना होती थी। जब दयानन्द की शिक्षा समाप्त हुई, तो विरजानन्दजी ने उनसे अनुरोध किया कि दयानन्द, तुम देश में वैदिक धर्म का प्रचार करो। वेदों और शास्त्रों का उद्धार करो और अज्ञान के अंधकार को मिटाओ।

उस समय दयानन्द अकेले थे। न उनके पीछे परिवार का बल था, न किसी संस्था का। अकेले अपने बल पर देश में फैले हुए पाखंडों को दूर करने के साहस की भी प्रशंसा करनी होगी। उन दिनों हरिद्वार में कुम्भमेला हो रहा था। वहां जाकर उन्होंने अपनी 'पाखंडखंडिनी' पताका फहराई। पाखंडों का विरोध करने के लिए वे पाखंडों के गढ़ में ही जा पहुंचे। कुम्भ मेले में उन्हें विशेष सफलता न मिली, किंतु धीरे-धीरे उनकी बात सुनने वाले लोगों की संख्या बढ़ती गई। दयानन्दजी शास्त्रों के अच्छे विद्वान् थे और बड़े-बड़े पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे। उस ज़माने में जो व्यक्ति शास्त्रार्थ में जीत जाता था, उसकी धाक सब जगह जम जाती थी। उन दिनों काशी पौराणिक विद्वानों का गढ़ समझा जाता था। दयानन्दजी ने काशी में शास्त्रार्थ करके भी विजय प्राप्त की और उनका यश दूर-दूर तक फैल गया।

उस समय और भी अनेक सामाजिक नेता सामाजिक सुधारों की मांग कर

रहे थे। बंगाल के राजा राममोहनराय ने सती-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन करके उसे समाप्त करवाया और विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी स्त्री-शिक्षा के लिए प्रयत्न किया। दयानन्दजी ने हिन्दू जाति की सर्वांगीण उन्नति की आधारशिला रखी। एक ओर उन्होंने अंधविश्वासों और पाखंडों का विरोध किया, जिसमें मूर्तिपूजा का विरोध सबसे प्रमुख था। दूसरी ओर उन्होंने अस्पृश्यता हटाने अर्थात् छुआछूत का भेद मिटाने के लिए आवाज़ उठाई। स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन किया। बाल-विवाह का उन्होंने कड़ा विरोध किया। समय बीतने के साथ-साथ अनेक प्रभावशाली व्यक्ति, यहां तक कि कई राजा भी उनके भक्त बन गए।

१८७५ में दयानन्दजी ने आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज का प्रचार तेजी से हुआ और कुछ ही समय में देश के लगभग सभी बड़े शहरों में आर्यसमाज खुल गए और स्थिति यहां तक हो गई कि आर्यसमाजी शब्द का भावार्थ सुधारवादी और प्रगतिशील व्यक्ति समझा जाने लगा। आर्यसमाज ने विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में कार्य किया। उत्तरभारत में स्त्री-शिक्षा के लिए सबसे पहले आवाज़ आर्यसमाज ने उठाई और पंजाब जैसे उर्दू-प्रधान प्रदेश में हिन्दी का प्रचार केवल आर्यसमाज के कारण ही हो सका। आर्यसमाज ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बाद में कांग्रेस ने भी इन कार्यक्रमों को अपना लिया।

ऋषि दयानन्द ने अपने विचारों और कार्यों द्वारा देश में आत्मगौरव का भाव जगाया। उन दिनों की शिक्षा पाने वाले लोग यूरोप की सभ्यता से इतने प्रभावित हो रहे थे कि वे अपने देश के इतिहास और साहित्य को बहुत क्षुद्र और हीन समझने लगे थे। ईसाइयों का प्रचार शासकों का समर्थन पाकर दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। दयानन्दजी ने वेदों और संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर बल देकर लोगों के मन में यह भावना जगाई कि हमारे पूर्वज महान् थे; हमारी संस्कृति उच्च है और हमें किसीके भी सम्मुख झुकने की आवश्यकता नहीं है। अपने ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उन्होंने जहां पर एक ओर वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित की, वहां साथ ही अन्य विरोधी धर्मों और संस्कृतियों की बड़ी-बड़ी त्रुटियों और दोषों का

भी ऐसा वर्णन किया कि जिससे लोग अन्य प्रचारकों के बहकावे में न आएं।

दयानन्द से पहले बहुत-से धर्म-संस्थापक हुए, परन्तु उनमें से अधिकांश लोग केवल अशिक्षित जनता को ही अपनी ओर आकृष्ट कर पाए। उदाहरण के लिए किसी समय जब बुद्ध ने एक नया धर्म चलाया, तो प्रारम्भ में केवल अशिक्षित जनता ही उनके धर्म में दीक्षित हुई। इसी प्रकार कबीरदास भी अशिक्षितों को ही अपना अनुयायी बना पाए। भारत में आने पर मुसलमान और ईसाई लोग भी केवल अशिक्षित और पिछड़े वर्गों को ही अपनी ओर खींच पाए। इसके विपरीत दयानन्दजी का सारा प्रभाव शिक्षित समाज पर पड़ा। उन्होंने शुरू में ही पौराणिक विद्वानों से टक्कर ली। शास्त्रार्थों में उन्हें बार-बार परास्त किया, जिसके फलस्वरूप सुशिक्षित और समझदार लोगों में उनकी धाक बैठ गई। यह दयानन्दजी की अद्भुत विशेषता समझी जानी चाहिए।

दयानन्दजी क्रान्तदर्शी थे। अपने समय को लांघकर वे भविष्य को देख सकते थे। स्वयं गुजराती होते हुए भी उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना हिन्दी में की। उस समय हिन्दी अभी निर्माण की दशा में ही थी, फिर भी जैसी हिन्दी उन्होंने लिखी है, वह अगले पांच सौ साल तक भी पुरानी नहीं पड़ेगी। उन्होंने कुछ पुस्तकें संस्कृत में भी लिखीं। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से उनकी विद्वत्ता का अच्छा परिचय मिलता है। अपने समकालीन विदेशी विद्वानों से भी पत्र-व्यवहार द्वारा उन्होंने अच्छे मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बना रखे थे।

दयानन्द केवल सामाजिक सुधारक ही नहीं थे। वे समझते थे कि देश के स्वाधीन हुए बिना समाज कभी सुधर नहीं सकता। इसलिए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा कि बुरे से बुरा स्वदेशी शासन अच्छे से अच्छे विदेशी शासन से अच्छा है। वह राजस्थान के राजाओं को संगठित करने का प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु उस काम को पूरा कर पाने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई।

उनकी मृत्यु भी कुछ रहस्यमय ही हुई। दयानन्दजी ने निःस्वार्थ भाव से जिस सत्य का प्रचार किया था, उससे अनेक लोगों के स्वार्थों को चोट पहुंचती थी। इसलिए उनपर अनेक बार आक्रमण किए गए; कई बार विष दिया गया, किन्तु डरना तो दयानन्दजी जैसे जानते ही नहीं थे। कहा जाता है कि अन्त में कुछ

लोगों ने षड्यन्त्र करके उनके रसोइये द्वारा उन्हें दूध में विष दिलवा दिया। विष के प्रभाव से दयानन्दजी बीमार पड़ गए। बहुत दिन तक चिकित्सा होने के बाद अन्त में दिवाली के दिन उनका स्वर्गवास हुआ।

दयानन्दजी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उनकी निर्भयता और निःस्वार्थता है। उन्होंने अपना कोई मठ या गद्दी स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने अन्य पैगम्बरों की भांति अपने-आपको ईश्वर का दूत बतलाने का यत्न नहीं किया। उन्होंने आर्यसमाज का एक बड़ा नियम यह बनाया कि सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। उस समय के अन्धविश्वासों का उन्मूलन करने लिए तर्क पर ज़ोर देने की बड़ी आवश्यकता थी। दयानन्दजी को आधुनिक युग का प्रथम बुद्धिवादी भारतीय कहना चाहिए।

दयानन्दजी ने वेदों को हर क्षेत्र में अन्तिम प्रमाण माना था, किन्तु उनके विचार निरन्तर प्रगति कर रहे थे और यदि वे कुछ और वर्ष जीवित रहते, तो कोई आश्चर्य नहीं कि इस दिशा में भी उनके विचारों में कुछ परिवर्तन हो जाता। उनका स्वर्गवास पैंतालीस वर्ष की अल्प आयु में ही हो गया। यदि वे कुछ समय और जीवित रहते होते तो देश और समाज की कहीं बड़ी सेवा कर पाते। अब भी वर्तमान भारत की स्थापना करने वाले महापुरुषों में उनका स्थान अग्रगण्य है।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. कोई महान् समाज-सुधारक
२. आर्यसमाज के प्रवर्तक

सुभाषचन्द्र बोस

भारत की स्वाधीनता के लिए जितना बड़ा त्याग और जितना महान् कार्य नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने किया, उतना शायद ही अन्य किसी नेता ने किया हो।

उनमें देश-प्रेम की अदम्य ज्वाला भरी हुई थी और देश की स्वाधीनता के लिए वे किसी भी बलिदान को अधिक नहीं समझते थे। वीरता और आत्मबलिदान की पवित्र भावना के साथ-साथ उनमें चाणक्य की-सी नीति-निपुणता भी थी और शिवाजी की भांति संगठन की क्षमता भी। अत्यन्त विषम परिस्थितियों में बहुत अल्प साधनों से जितनी सफलता उन्होंने पाई, वह विस्मयजनक है।

सुभाष बाबू का जन्म एक सम्पन्न बंगाली परिवार में २३ जनवरी, १८९७ को हुआ था। उनके पिता कटक में वकालत करते थे। सुभाष मेधावी होने के साथ-साथ बचपन से ही बड़े स्वाभिमानी भी थे। जिन दिनों वे कलकत्ता के प्रेज़ीडेन्सी कालेज में पढ़ते थे उन दिनों एक अंग्रेज़ प्रोफेसर ने कक्षा में भारतीयों के लिए कुछ अपमानजनक बातें कहीं। इसपर सुभाष बाबू अपने को वश में न रख सके और उन्होंने उस प्रोफेसर को बुरी तरह फटकारा। अपने आवेश में उन्होंने भविष्य के परिणाम की तनिक भी चिन्ता नहीं की; और वह परिणाम यह था कि उन्हें कालेज से निकाल दिया गया।

१९१९ में बी० ए० की परीक्षा प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण करके वे आई० सी० एस० की परीक्षा के लिए इंग्लैंड गए और उसमें भी शान के साथ उत्तीर्ण हुए। उन दिनों आई० सी० एस० परीक्षा पास करने वाले भारतीयों की संख्या बहुत कम होती थी और जो लोग इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते थे, वे सरकारी नौकरी करके अपने जीवन को धन्य समझते थे; क्योंकि ऐसी बड़ी नौकरी पाकर मनुष्य अपना जीवन सुख और चैन से बिता सकता था।

छात्रावस्था में एक बार सुभाष बाबू को योग-साधना की भी धुन सवार हुई थी। वे घर छोड़कर निकल गए थे और योगियों की खोज में हिमालय के अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते रहे थे। योगी तो शायद उन्हें नहीं मिला, किंतु अपने देश को देख पाने का सुअवसर उन्हें अवश्य मिला और तभी से उनके मन में देश-प्रेम की भावना बहुत गहरी जम गई।

आई० सी० एस० परीक्षा पास करने के बाद भी सुभाष ने यह अनुभव किया कि विदेशी सरकार की नौकरी कर पाना उनके वश का नहीं है। नौकरी चाहे बड़ी हो चाहे छोटी, नौकरी ही है और सुभाष बाबू उन लोगों में से थे, जो नौकरी

करने के लिए जन्म नहीं लेते, बल्कि शोषितों और पीड़ितों को उनके छिने हुए अधिकार दिलाने के लिए अवतार लेते हैं। ऐसे लोग अपने सुखों को ठोकर मार-कर जानते-बूझते क्रांति और संघर्ष का मार्ग अपनाते हैं, जहां अभाव और कष्ट के सिवाय और कुछ नहीं होता।

सुभाष बाबू ने भी सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दिया और देश-सेवा के कार्य में लग गए। संगठन करने में वे बहुत कुशल थे और शीघ्र ही सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। १९२२ में उत्तरी बंगाल के बाढ़-पीड़ितों के लिए उन्होंने जैसी लगन के साथ कार्य किया, उसके कारण उनका प्रभाव देश के कांग्रेसी नेताओं पर बहुत अच्छा पड़ा। १९२४ में वे कलकत्ता कारपोरेशन के मुख्य कार्यकारी अफसर बनाए गए। इस पद को भी उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ निबाहा।

उन दिनों देश में कई क्रांतिकारी आतंकवादी दल कार्य कर रहे थे। बंगाल विशेष रूप से उनका गढ़ था। सरकार का विश्वास था कि सुभाष बाबू का भी आतंकवादी दलों से संबंध है। इस सन्देह में ही सन् १९२४ में उन्हें गिरफ्तार करके बर्मा में मांडले भेज दिया गया। उसके बाद सरकार ने सुभाष को कई बार गिरफ्तार किया और कई बार छोड़ा, किन्तु एक दिन के लिए भी वह सुभाष की ओर से निश्चित नहीं हुई। जब तक सुभाष बाबू भारत में रहे, उनका और पुलिस का सम्बन्ध लगभग अटूट ही बना रहा।

सुभाष की जीवन-कथा का बड़ा भाग गिरफ्तारी और नज़रबंदी से ही भरा हुआ है। सरकार उन्हें पकड़कर नज़रबंद कर देती। जेल में रहते हुए सुभाष बीमार हो जाते। उनकी हत्या का कलंक अपने सिर न लेने के लिए सरकार उन्हें छोड देती और ज्योंही वे फिर कुछ स्वस्थ होते, त्योंही फिर गिरफ्तार कर लिए जाते। १९३० में सुभाष बाबू को गिरफ्तार किया गया। मज़े की बात यह है कि सरकार के कोप-भाजन होते हुए भी उसी वर्ष वे कलकत्ता के मेयर चुने गए। जेल में स्वास्थ्य बहुत बिगड़ जाने पर उन्हें चिकित्सा के लिए रिहा किया गया, किन्तु शर्त यह रखी गई कि यह चिकित्सा यूरोप में होगी, भारत में नहीं। यूरोप की यह यात्रा सुभाष बाबू के लिए बड़ी लाभकारी सिद्ध हुई। इस यात्रा में उन्होंने

हिटलर और मुसोलिनी से भी भेंट की, जो आगे चलकर उनके काम आई।

१९३८ में सुभाष बाबू अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रधान चुने गए। उन दिनों देश के सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी थे और सुभाष बाबू के सिद्धांत गांधी-जी के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाते थे। गांधीजी नहीं चाहते थे कि सुभाष प्रधान चुने जाएं। परंतु जनता ने जानते-बूझते सुभाष को ही प्रधान चुना। उनके मुकाबले में डाक्टर पट्टाभिसीतारमैया प्रधान पद के लिए उम्मीदवार थे, जिन्हें गांधी जी का समर्थन प्राप्त था। डा० पट्टाभि के हार जाने पर गांधीजी ने यहां तक कहा कि "पट्टाभि की हार मेरी हार है।" इसके बाद भी अगले वर्ष फिर सुभाष बाबू दुबारा कांग्रेस के प्रधान चुने गए। इस बार गांधीजी और सरदार पटेल ने सुभाष बाबू के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। कांग्रेस में फूट न पड़े, इसलिए सुभाष बाबू ने प्रधानपद से त्यागपत्र दे दिया।

उन दिनों यूरोप में दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ चुका था। गांधीजी तथा उनके साथी कांग्रेसी नेता यह चाहते थे कि अंग्रेज़ों का विरोध न किया जाए और इस संकट से लाभ उठाने की चेष्टा न की जाए बल्कि अंग्रेज़ों को समझा-बुझाकर देश को स्वाधीन कराने का प्रयत्न किया जाए। इसके विपरीत सुभाष बाबू का कथन था कि इस समय देश को आज़ाद कराने के लिए हमें अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा देनी चाहिए। यदि हम इस अवसर पर चूक गए, तो फिर अगले सौ साल तक भी देश का स्वाधीन हो पाना कठिन हो जाएगा। इसी नीति-सम्बन्धी मतभेद के कारण सुभाष को कांग्रेस से त्यागपत्र देना पड़ा। कांग्रेस से अलग हो जाने पर उन्होंने अपनी फारवर्ड ब्लाक नाम की एक पृथक् संस्था बनाई। यह संस्था भी जल्दी ही पनप गई।

वस्तुतः सुभाष बाबू देश की आज़ादी के लिए कुछ न कुछ करने को बेचैन थे। उन्होंने 'काल-कोठरी स्मारक हटाओ' आन्दोलन शुरू किया, जिसपर सरकार ने उन्हें जेल भेज दिया। उस समय सुभाष बाबू जेल में नहीं रहना चाहते थे, क्योंकि उनकी कुछ अपनी अन्य योजनाएं थीं। जेल से छूटने के लिए उन्होंने अनशन प्रारंभ कर दिया। इसपर सरकार ने उन्हें उनके घर में ही नज़रबन्द कर दिया।

यद्यपि सुभाष के ऊपर सरकार की बड़ी सतर्क दृष्टि थी, पुलिस और खुफिया

पुलिस का उनपर कड़ा पहरा था, फिर भी सुभाष बाबू सबको चकमा देकर देश से बाहर निकल गए और एक दिन एकाएक बर्लिन रेडियो से उनकी आवाज़ सुनाई पड़ी, जिससे स्पष्ट था कि वे जर्मनी पहुंच गए हैं।

जर्मनी और फिर बाद में जापान जाकर उन्होंने आज़ाद हिन्द सेना का संगठन किया। १९४२ में आज़ाद हिन्द सेना ने भारत को अंग्रेज़ों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए बर्मा की ओर से भारत के लिए कूच किया। यह सेना आगे बढ़ती हुई मणिपुर और आसाम तक आ पहुंची। साधनों और सामग्री का अभाव होते हुए भी इस छोटी-सी सेना ने जिस वीरता के साथ युद्ध किया, वह भारतीय इतिहास की एक अमर गाथा है। इस सेना की सारी वीरता और बलिदान के पीछे सुभाष बाबू का अपना ओजस्वी और बलिदानी व्यक्तित्व था, जिसके कारण सभी लोग अपने-अपने ढंग से स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने के लिए कटिबद्ध हो गए थे।

कुशल संगठनकर्ता होने के साथ-साथ सुभाष बाबू श्रेष्ठ वक्ता भी थे। उनके भाषणों से जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी। धनी अपना धन लुटाने को और युवक अपने प्राण देने को भी तैयार हो जाते थे। स्वाधीनता-युद्ध के संचालन के लिए उनके भाषण से प्रभावित होकर स्त्रियों ने अपने गहने तक उतारकर दे दिए। उनकी वाणी में बल इसलिए था, क्योंकि वे उनके सच्चे हृदय से निकलती थी।

परन्तु आज़ाद हिन्द सेना को सफलता न मिली। युद्ध का पासा पलट चुका था। जर्मनी और जापान का पक्ष दुर्बल पड़ गया था। आज़ाद हिन्द सेना को भी आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। नेताजी सुभाष विमान में बैठकर बैंकाक से जापान जा रहे थे। विमान में आग लग गई और उसके बाद उनका कुछ पता न चला।

आज़ाद हिन्द सेना के सैनिक आदर और श्रद्धा से सुभाष बाबू को 'नेताजी' कहा करते थे। तब से वह 'नेताजी सुभाष' नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। जर्मनी में रहते हुए नेताजी ने ऐमिली शैंकल नामक एक जर्मन युवती से विवाह किया था। उनकी एक कन्या भी है, जिसका नाम अनीता बोस है। वह इस समय अपनी माता के साथ जर्मनी में ही रह रही है।

सुभाष बाबू का सबसे बड़ा गुण उनकी देशभक्ति था। देश की आज़ादी उनके लिए कोई राजनीतिक खेल नहीं थी, अपितु जीवन का सर्वस्व थी। विदेशी शासकों

के साथ वे किसी तरह का समझौता करने को तैयार नहीं थे और अंग्रेज़ों को वे अपना परम शत्रु मानते थे, जबकि गांधीजी अंग्रेज़ों के प्रति भी प्रेम और मित्रता का ही व्यवहार करना चाहते थे। गांधीजी सन्त थे और सुभाष बाबू राजधर्म का पालन करते थे। विरोधी से प्रेम करने का दावा उन्होंने कभी नहीं किया।

जो बातें अन्य नेताओं के सम्मुख एक बड़ी समस्या बनकर खड़ी हो जाती थीं, उनको सुभाष बाबू इस तरह चुटकी बजाते हल कर लेते थे कि जैसे वह कोई समस्या ही न हो। कांग्रेसी नेताओं ने हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित कराने के लिए लगभग पचीस साल तक अपनी सारी शक्ति लगाई, लेकिन फिर भी वह एकता कभी स्थापित न हो सकी। इसके विपरीत आज़ाद हिन्द सेना में कभी हिन्दू-मुसलमान की साम्प्रदायिक भावना दिखाई तक नहीं पड़ी। हिन्दू और मुसलमान दोनों कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़े।

यदि सुभाष बाबू अपने आज़ाद हिन्द सेना के अभियान में सफल हो जाते, तो भारतीय इतिहास में उनका नाम चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य के समकक्ष लिखा जाता, किन्तु वे सफल नहीं हो पाए। उनकी असफलता उनके गौरव को किसी प्रकार कम नहीं कर सकती। नेपोलियन और हिटलर जैसे महान् विजेता भी अन्त में असफल हो गए। इससे उनकी महत्ता किसी प्रकार कम नहीं होती, बल्कि प्रतिकूलतम परिस्थितियों में सुभाष ने जो कुछ कर दिखाया, वह महान् से महान् विजेता के लिए भी स्पृहा की वस्तु है।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. कोई महान् राष्ट्र-नेता
२. स्वाधीनता-संग्राम का कोई सेनानी

महात्मा गांधी

बीसवीं शताब्दी में भारत के जिन महापुरुषों ने संसार में देश का सिर ऊंचा किया, उनमें महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। न केवल राजनीतिक दृष्टि से, अपितु धार्मिक और नैतिक दृष्टि से गांधीजी की संसार को देन अनुपम है। सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर चलते हुए उन्होंने अपने जीवन को इतना ऊंचा उठाया था कि उनकी तुलना महात्मा बुद्ध और महात्मा ईसा से की जा सकती है। उनकी मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता अलबर्ट आइंस्टीन ने कहा था कि "कुछ समय बाद लोगों के लिए यह विश्वास करना भी कठिन हो जाएगा कि किसी समय सचमुच कोई इतना महान् व्यक्ति पृथ्वी पर जीवित भी था।"

महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी था। कर्मचन्द उनके पिता का नाम था और गांधी उनकी जाति थी। गांधी शब्द गन्धी का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उनके पूर्वज किसी समय गन्ध अर्थात् इत्र इत्यादि का व्यापार करते रहे होंगे। गांधीजी का जन्म २ अक्टूबर, १८६९ में पोरबंदर में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पोरबंदर में ही हुई। गांधीजी पर अपनी माता के शील-स्वभाव का गहरा प्रभाव पड़ा।

जब गांधीजी कुछ बड़े हुए तो यह तय किया गया कि बैरिस्टरी पास करने के लिए उन्हें विलायत भेजा जाए। गांधीजी के पिता राजकोट रियासत के दीवान थे। इसलिए वे अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा भली भांति कराना चाहते थे। उन दिनों बैरिस्टरी पास करके वकालत करना ही सबसे अधिक लाभजनक और प्रतिष्ठा-जनक पेशा समझा जाता था। किन्तु गांधीजी की माता उन्हें विदेश भेजना नहीं चाहती थीं। उनका विश्वास था कि विदेश जाकर युवकों का चाल-चलन दूषित हो जाता है। गांधीजी ने माता की अनुमति प्राप्त करने के लिए उनके सम्मुख प्रतिज्ञा की कि "विदेश में मैं शराब, मांस और अनाचार से दूर रहूंगा।" अपनी इस प्रतिज्ञा का इंग्लैंड में रहते हुए उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता और ईमानदारी के साथ पालन किया।

इंग्लैंड से बैरिस्टर की उपाधि लेकर गांधीजी भारत आ गए किन्तु वकालत का व्यवसाय उनके मन के अनुकूल नहीं था। इस पेशे में असत्य बोले बिना काम चलना कठिन है और गांधीजी ने बचपन से ही सत्य पर डटे रहने का निश्चय किया हुआ था। अदालत में गांधीजी को सफलता नहीं मिली और उन्होंने वकालत का पेशा छोड़ दिया। उन्हीं दिनों एक व्यापारिक संस्था के एक मुकदमे को निपटाने के लिए गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी जिस मुकदमे के सिलसिले में गए थे, उसे उन्होंने समझौते द्वारा निपटवा दिया। किन्तु वहां जाकर उनके जीवन की दिशा ही मुड़ गई। दक्षिण अफ्रीका में बहुत बड़ी संख्या में भारतीय रहते थे। ये भारतीय किसी समय मज़दूरी करने के लिए एक एग्रीमेंट की शर्तों के अनुसार यहां लाए गए थे। इसीलिए इन्हें 'गिरमिटिया' कहा जाता था। गोरे लोग इन भारतीयों के साथ पशुओं से भी बुरा बर्ताव करते थे और वे भारतीय उस सारे अपमान और लांछना को सिर झुकाकर सह लेते थे। गांधीजी ने ऐसे दुर्व्यवहार के सामने सिर झुकाना स्वीकार न किया। एक बार अदालत में उनसे पगड़ी उतारने को कहा गया। गांधीजी ने अदालत से निकल जाना मंजूर किया पर पगड़ी उतारना नहीं। इस प्रकार अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करके उन्होंने भारतीयों में एक नई चेतना जगाई।

वैसे गांधीजी शायद जल्दी ही भारत वापस लौट आते, किन्तु भारतीयों की दुर्दशा को देखकर उन्होंने अफ्रीका में ही रहने का निश्चय कर लिया। उन्होंने १८९४ में नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की, जिसने भारतीयों के अधिकारों के लिए संघर्ष आरम्भ किया। दो वर्ष तक अफ्रीका में आन्दोलन चलाते रहने के बाद गांधीजी भारत आए। उनके आगमन का उद्देश्य यह था कि भारतवासियों को दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति का ज्ञान कराया जाए। भारत में ६ मास तक रहकर उन्होंने सारे देश में प्रचार किया और उसके बाद २०० भारतीयों के साथ अफ्रीका वापस लौटे। इस समय तक अफ्रीका की सरकार सचेत हो चुकी थी। गोरे लोगों में भारतीयों और विशेष रूप से गांधीजी के विरुद्ध द्वेष की आग भड़क चुकी थी। पहले तो २३ दिन तक अफ्रीका की सरकार ने उन भारतीयों को जहाज़ से उतरने ही न दिया और जब उन्हें उतरने दिया गया, तो गोरों ने गांधीजी

महात्मा गांधी

बीसवीं शताब्दी में भारत के जिन महापुरुषों ने संसार में देश का सिर ऊंचा किया, उनमें महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। न केवल राजनीतिक दृष्टि से, अपितु धार्मिक और नैतिक दृष्टि से गांधीजी की संसार को देन अनुपम है। सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर चलते हुए उन्होंने अपने जीवन को इतना ऊंचा उठाया था कि उनकी तुलना महात्मा बुद्ध और महात्मा ईसा से की जा सकती है। उनकी मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता अलबर्ट आइंस्टीन ने कहा था कि "कुछ समय बाद लोगों के लिए यह विश्वास करना भी कठिन हो जाएगा कि किसी समय सचमुच कोई इतना महान् व्यक्ति पृथ्वी पर जीवित भी था।"

महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी था। कर्मचन्द उनके पिता का नाम था और गांधी उनकी जाति थी। गांधी शब्द गन्धी का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उनके पूर्वज किसी समय गन्ध अर्थात् इत्र इत्यादि का व्यापार करते रहे होंगे। गांधीजी का जन्म २ अक्टूबर, १८६९ में पोरबंदर में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पोरबंदर में ही हुई। गांधीजी पर अपनी माता के शील-स्वभाव का गहरा प्रभाव पड़ा।

जब गांधीजी कुछ बड़े हुए तो यह तय किया गया कि बैरिस्टरी पास करने के लिए उन्हें विलायत भेजा जाए। गांधीजी के पिता राजकोट रियासत के दीवान थे। इसलिए वे अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा भली भांति कराना चाहते थे। उन दिनों बैरिस्टरी पास करके वकालत करना ही सबसे अधिक लाभजनक और प्रतिष्ठा-जनक पेशा समझा जाता था। किन्तु गांधीजी की माता उन्हें विदेश भेजना नहीं चाहती थीं। उनका विश्वास था कि विदेश जाकर युवकों का चाल-चलन दूषित हो जाता है। गांधीजी ने माता की अनुमति प्राप्त करने के लिए उनके सम्मुख प्रतिज्ञा की कि "विदेश में मैं शराब, मांस और अनाचार से दूर रहूंगा।" अपनी इस प्रतिज्ञा का इंग्लैंड में रहते हुए उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता और ईमानदारी के साथ पालन किया।

इंग्लैंड से बैरिस्टर की उपाधि लेकर गांधीजी भारत आ गए किन्तु वकालत का व्यवसाय उनके मन के अनुकूल नहीं था। इस पेशे में असत्य बोले बिना काम चलना कठिन है और गांधीजी ने बचपन से ही सत्य पर डटे रहने का निश्चय किया हुआ था। अदालत में गांधीजी को सफलता नहीं मिली और उन्होंने वकालत का पेशा छोड़ दिया। उन्हीं दिनों एक व्यापारिक संस्था के एक मुकदमे को निपटाने के लिए गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी जिस मुकदमे के सिलसिले में गए थे, उसे उन्होंने समझौते द्वारा निपटवा दिया। किन्तु वहां जाकर उनके जीवन की दिशा ही मुड़ गई। दक्षिण अफ्रीका में बहुत बड़ी संख्या में भारतीय रहते थे। ये भारतीय किसी समय मज़दूरी करने के लिए एक एग्रीमेंट की शर्तों के अनुसार यहां लाए गए थे। इसीलिए इन्हें 'गिरमिटिया' कहा जाता था। गोरे लोग इन भारतीयों के साथ पशुओं से भी बुरा बर्ताव करते थे और वे भारतीय उस सारे अपमान और लांछना को सिर झुकाकर सह लेते थे। गांधीजी ने ऐसे दुर्व्यवहार के सामने सिर झुकाना स्वीकार न किया। एक बार अदालत में उनसे पगड़ी उतारने को कहा गया। गांधीजी ने अदालत से निकल जाना मंजूर किया पर पगड़ी उतारना नहीं। इस प्रकार अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करके उन्होंने भारतीयों में एक नई चेतना जगाई।

वैसे गांधीजी शायद जल्दी ही भारत वापस लौट आते, किन्तु भारतीयों की दुर्दशा को देखकर उन्होंने अफ्रीका में ही रहने का निश्चय कर लिया। उन्होंने १८६४ में नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की, जिसने भारतीयों के अधिकारों के लिए संघर्ष आरम्भ किया। दो वर्ष तक अफ्रीका में आन्दोलन चलाते रहने के बाद गांधीजी भारत आए। उनके आगमन का उद्देश्य यह था कि भारतवासियों को दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति का ज्ञान कराया जाए। भारत में ६ मास तक रहकर उन्होंने सारे देश में प्रचार किया और उसके बाद २०० भारतीयों के साथ अफ्रीका वापस लौटे। इस समय तक अफ्रीका की सरकार सचेत हो चुकी थी। गोरे लोगों में भारतीयों और विशेष रूप से गांधीजी के विरुद्ध द्वेष की आग भड़क चुकी थी। पहले तो २३ दिन तक अफ्रीका की सरकार ने उन भारतीयों को जहाज़ से उतरने ही न दिया और जब उन्हें उतरने दिया गया, तो गोरों ने गांधीजी

पर आक्रमण किया और यह केवल संयोग की ही बात थी कि उस दिन गांधीजी के प्राण बच गए।

दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए गांधीजी ने सत्याग्रह और असहयोग की नई पद्धतियों से सरकार का विरोध करना शुरू किया। सत्य पर डटे रहना, अन्यायपूर्ण कानूनों का पालन न करना और अन्याय करने वाली सरकार के साथ सहयोग न करना उनकी नई सूझ थी। उनका कथन था कि यदि हम शत्रु के विरुद्ध भी द्वेष-भाव न रखें, तो हम उसके हृदय को जीतकर उसे अपना मित्र बना सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह द्वारा गांधीजी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। गांधीजी और जनरल स्मट्स में एक समझौता हुआ, जिसके द्वारा भारतीयों को काफी अधिकार दिए गए।

१९१५ में गांधीजी ने भारत में आकर यहां की राजनीति में प्रवेश किया। जिस अहिंसा और सत्याग्रह से उन्हें अफ्रीका में सफलता प्राप्त हुई थी, उसीका प्रयोग भारत को स्वाधीन कराने के लिए उन्होंने शुरू किया। पहला सत्याग्रह-आंदोलन १९२० में शुरू हुआ। किन्तु उस समय तक लोग गांधीजी के सिद्धांतों को पूरी तरह समझ नहीं पाए थे। चौरी-चौरा नामक ग्राम में सत्याग्रह के सिल-सिले में हिंसात्मक उपद्रव हो गया। गांधीजी ने, जो सच्चे हृदय से अहिंसा के समर्थक थे, सत्याग्रह को तब तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक कि लोग अहिंसा का पालन करना भली भांति न सीख जाएं।

दस साल तक गांधीजी देश में प्रचार करके सत्याग्रह के लिए उपयुक्त वाता-वरण तैयार करते रहे। १९३० में दुबारा सत्याग्रह शुरू किया गया और इस बार सरकार को झुकना पड़ा। लन्दन में समझौते के लिए एक गोलमेज कान्फ्रेंस बुलाई गई, किन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। भारत लौटने पर गांधीजी को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया।

गांधीजी ने स्वाधीनता-आंदोलन को जनता का आंदोलन बना दिया। उनसे पहले स्वाधीनता की लड़ाई या तो आरामकुर्सियों पर बैठने वाले नेताओं के हाथ में थी या फिर हिंसात्मक कार्रवाई द्वारा शासन-सत्ता को उलटने का प्रयत्न करने वाले आतंकवादियों के हाथ में। किन्तु गांधीजी के नेतृत्व में देश के सब मज़दूर

और किसान इस लड़ाई में भाग लेने को तैयार हो गए। सरकार ने अछूत कहे जाने वाले वर्ग को हिन्दुओं से पृथक् करने के लिए 'साम्प्रदायिक निर्णय' नामक घोषणा की। जिससे अछूतों को चुनावों में पृथक् अधिकार दिए गए थे। गांधीजी ने इस निर्णय के विरोध में २१ दिन का अनशन किया और इस निर्णय को कुछ अंशों में बदलवा दिया।

१९३० से १९३९ तक का समय रचनात्मक कार्यक्रम में बीता। १९३९ में दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ गया। प्रथम महायुद्ध में गांधीजी ने इस आशा से अंग्रेज़ों की सहायता की थी कि लड़ाई के बाद भारत को स्वाधीन कर दिया जाएगा। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के बाद सरकार ने भारत में और भी अधिक कठोर कानून बनाकर दमन शुरू किया। इसलिए द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने पर गांधीजी ने तब तक अंग्रेज़ों की सहायता करने से इन्कार कर दिया जब तक वे भारत को स्वाधीन न कर दें। १९४२ में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया और अंग्रेज़ों के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने बड़ी सख्ती से इस आन्दोलन को दबा दिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर विश्व की राजनीतिक स्थिति बहुत बदल गई। लड़ाई से पहले जो ब्रिटेन संसार की सबसे बड़ी शक्ति समझा जाता था, अब घटकर तीसरे नम्बर पर आ गया। भारत में १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन और आज़ाद हिन्द सेना के बलिदान के कारण प्रबल राजनीतिक चेतना जाग उठी थी। सेना, वायुसेना, नौसेना और पुलिस तक ने हड़तालें कीं। अंग्रेज़ों ने भारत को छोड़ जाने में ही अपना कल्याण समझा और १९४७ में देश को, भारत और पाकिस्तान, दो टुकड़ों में बांटकर वे चले गए।

देश के बंटवारे के समय जगह-जगह भयानक मारकाट हुई। अहिंसा के पुजारी गांधीजी को इससे बड़ा दुःख हुआ। नोआखाली में शान्ति स्थापित करने के लिए उन्होंने पैदल यात्रा की और दिल्ली में दंगों को रोकने के लिए उन्होंने आमरण अनशन भी किया। गांधीजी का रुख सारे जीवनभर मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की ही ओर रहा। शायद वे समझते थे कि अल्पसंख्यक होने के नाते मुसलमानों को हिन्दुओं से वैसा ही बर्ताव मिलना चाहिए, जैसा छोटे भाई को बड़े भाई से मिलता

है। उनके इस रुख से बहुत-से लोग खिन्न और क्षुब्ध थे। एक दिन ३० जनवरी, १९४८ की शाम को जब वे अपनी प्रार्थना-सभा में पहुंचे, तो नाथूराम गोडसे नामक व्यक्ति ने पिस्तौल से तीन गोलियां चलाकर उनकी हत्या कर दी।

गांधीजी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है—अन्याय के विरुद्ध विद्रोह। यद्यपि शारीरिक बल की दृष्टि से गांधीजी बिल्कुल मामूली थे और बचपन में वे बड़े दब्बू और झेंपू भी थे, फिर भी उनका मनोबल असाधारण था। सत्य के लिए हठ करना और प्राणभय होने पर भी उसपर अडिग रहना ही गांधीजी की वह सबसे बड़ी विशेषता थी जिसने उन्हें संसार के सबसे बड़े महापुरुषों की श्रेणी में ला खड़ा किया। उन्होंने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को अपनाया था। न केवल व्यक्तिगत जीवन में, अपितु राजनीति में भी वे इनका प्रयोग करते थे और वे शायद सबसे पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने कहा कि जीवन और राजनीति के सिद्धान्त पृथक् नहीं होने चाहिएं। यदि व्यक्तिगत जीवन में सत्य का महत्त्व है तो राजनीति में भी उसका वैसा ही महत्त्व होना चाहिए।

बहुत-से लोगों का विचार है कि गांधीजी की अहिंसा एक राजनीतिक चाल थी। क्योंकि पराधीन देश निःशस्त्र था और परम शक्तिशाली ब्रिटिश सत्ता का शस्त्रबल से विरोध नहीं कर सकता था, इसलिए गांधीजी ने अहिंसा का मार्ग अपनाया। यह बात अंशतः ठीक हो भी सकती है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ऐसी अहिंसा की साधना के लिए उससे भी अधिक साहस की आवश्यकता है, जितनी हिंसात्मक युद्ध के लिए।

गांधीजी ने केवल राजनीति ही नहीं, अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में लोगों को मार्ग दिखाने की चेष्टा की। सन्त तो वे बन ही गए थे; दीन-दरिद्रों और रोगियों की सेवा में उनका काफी समय बीतता था। गांवों की दशा सुधारने, स्त्रियों को शिक्षा देने और अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों को सवर्ण हिन्दुओं के समान अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने बहुत कार्य किया। अंग्रेजों पर उन्होंने जो सबसे बड़ी चोट की वह थी—स्वदेशी आन्दोलन। उनका कथन था कि हमें स्वदेश में बनी वस्तुओं का ही व्यवहार करना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि लंकाशायर और मानचैस्टर की मिलों में काम ठप्प हो गया।

गांधीजी सिद्धहस्त लेखक भी थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। 'हरिजन' और "हरिजन-सेवक' नामक साप्ताहिक पत्र भी वे निकालते थे। उससे पहले उन्होंने 'यंग इंडिया' नामक पत्र भी निकाला था। उनकी भाषा सरल और सुबोध तथा प्रतिपादन-शैली अत्यन्त प्रभावशाली थी।

इतने महान् होते हुए भी गांधीजी अपने आपको असफल समझते थे। उनके जीते जी देश को स्वाधीनता प्राप्त हो गई, इससे उन्हें बड़ा सन्तोष होना चाहिए था; किन्तु वे हिन्दू-मुसलमानों में एकता स्थापित नहीं करा सके। देश का विभाजन उनके न चाहते हुए हुआ। उनका खादी और स्वदेशी आन्दोलन स्वाधीनता मिलने के साथ ही समाप्त-सा हो गया। किन्तु इस सबसे इतना ही ज्ञात होता है कि गांधीजी के लक्ष्य और आदर्श और भी अधिक ऊंचे थे। गांधीजी ने न केवल भारत, अपितु सारे संसार के सामने एक ऐसी नई विचारधारा रखी, जिसके कारण वे सदा अमर रहेंगे।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. भारत के राष्ट्रपिता
२. अहिंसा के पुजारी
३. संसार का कोई महान् सन्त

श्री चन्द्रशेखर वैंकट रमन

भारत के जिन मेधावी महापुरुषों ने अपने देश का यश दूर-दूर विदेशों में फैलाया है, उनमें श्री चन्द्रशेखर वैंकट रमन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिस प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द ने, काव्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने और राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी ने भारत की यशःपताका सारे संसार में फहराई, उसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में पहले-पहल भारत का नाम

उज्वल करने वाले श्री चन्द्रशेखर वैंकट रमन और आचार्य जगदीशचन्द्र बोस थे। इनकी सफलता का महत्त्व और भी अधिक इसलिए है, क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में भारत बहुत पिछड़ा हुआ समझा जाता था और इस क्षेत्र में आगे बढ़ने के अवसर यहां नहीं के बराबर थे।

श्री रमन का जन्म एक मध्यवित्तीय विद्याव्यसनी परिवार में हुआ। उनके पिता श्री चन्द्रशेखर अय्यर कालेज में प्रोफेसर थे। उन्हें गणित, भौतिकी विज्ञान, खगोल विज्ञान और संगीत में बहुत रुचि थी। श्री रमन में भी इन विद्याओं और कलाओं के प्रति चाव अपने पिता के कारण ही उत्पन्न हुआ। श्री रमन की माता श्रीमती पार्वती अम्मल बहुत धैर्यशील और दृढ़ संकल्प वाली महिला थी। इस परिवार में ७ नवम्बर, १८८८ को बालक रमन का जन्म हुआ। माता-पिता की देख-रेख में रहकर बालक की स्वाभाविक प्रतिभा का विकास बहुत भली भांति हो सका।

बारह वर्ष की आयु पूरी होने से पहले ही बालक रमन मैट्रिक पास कर कालेज में प्रविष्ट हुआ। अपनी कक्षा में सबसे कम आयु होने पर भी उसका ज्ञान अन्य छात्रों की अपेक्षा कुछ अधिक ही था। इस कारण वह अपने प्रोफेसरों का प्रिय छात्र बन गया।

कालेज में पढ़ते समय श्री रमन का झुकाव पहले गणित और विज्ञान की ओर था। कुछ समय बाद श्रीमती ऐनी बैसेंट की थियोसोफी का प्रभाव उनपर पड़ा। कुछ समय तक उनकी रुचि धार्मिक साहित्य की ओर भी रही, पर अन्त में वे फिर विज्ञान की ही ओर झुक आए। बी० ए० में भौतिकी विज्ञान में सर्वप्रथम रहने के कारण उन्हें 'अरणी स्वर्णपदक' प्रदान किया गया। इससे उत्साहित होकर उन्होंने आगे भी भौतिकी विज्ञान के अध्ययन को ही जारी रखने का निश्चय किया।

कालेज में पढ़ते समय ही श्री रमन ने विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी नई बातें खोज निकाली थीं जो आश्चर्यजनक थीं। इस प्रकार के अनुसन्धान-सम्बन्धी उनके कई लेख विदेशों के मासिक पत्रों में भी प्रकाशित हो चुके थे। इससे उनका उत्साह और अधिक बढ़ा। मद्रास विश्वविद्यालय में विज्ञान विषय लेकर प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास करने वाले वे पहले छात्र थे।

श्री रमन के अध्यापक प्रोफ़ेसर जोन्स उनसे बहुत प्रसन्न थे और उन्होंने सिफारिश करके श्री रमन को इंग्लैंड में विज्ञान का अध्ययन करने के लिए छात्र-वृत्ति दिलवा दी। इस सुअवसर को पाकर श्री रमन बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु जहाज़ पर सवार होने से पहले डाक्टर ने उन्हें विदेश जाने के अयोग्य बताया, क्योंकि वे बहुत कृश और दुर्बल थे। डाक्टर ने यह भी कहा कि इंग्लैंड का बहुत ठंडा जलवायु उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। श्री रमन को इससे बड़ी निराशा हुई।

विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने का मार्ग न देखकर श्री रमन अखिल भारतीय वित्त-प्रतियोगिता परीक्षा में बैठ गए और अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल पर उसमें सर्वप्रथम नम्बर पर पास हुए। इस समय उनकी आयु केवल १८ वर्ष थी। इस परीक्षा में पास हो जाने के कारण वे कलकत्ता में वित्त-विभाग में उप-महालेखाकार के पद पर नियुक्त हो गए। इसके बाद उनका विवाह हो गया और कुछ दिन तक जीवन की गाड़ी सामान्य लीक पर चलती रही।

पर उनका विज्ञान का शौक एकदम समाप्त नहीं हो गया था। एक दिन सड़क पर जाते हुए उनकी दृष्टि एक साइनबोर्ड पर पड़ी—भारतीय विज्ञान-विकास-संघ। वे जाकर इस संघ के मंत्री से मिले और यह अनुमति प्राप्त कर ली कि वे अपने खाली समय में संघ की प्रयोगशाला में अपने परीक्षण कर सकते हैं। इस प्रकार दिन भर दफ्तर में काम करने के बाद शेष समय वे विज्ञान के परीक्षणों में बिताने लगे। अपने परीक्षणों का विवरण और उनसे निकाले गए निष्कर्ष लिख-लिखकर वे पत्र-पत्रिकाओं और दूसरे प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं के पास भेजते। कुछ ही समय में उनकी गिनती कुशल विज्ञानवेत्ताओं में होने लगी।

अब एक कठिनाई यह हुई कि उनका तबादला कलकत्ता से रंगून हो गया और कलकत्ता में प्रयोगशाला की जो सुविधा थी, वह रंगून में न रही। परन्तु १९११ में वे फिर कलकत्ता लौट आए और फिर उसी तरह अपने परीक्षणों में मग्न रहने लगे।

१९१९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से विज्ञान कालेज खोला गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति उन दिनों आशुतोष मुखर्जी थे। वे श्री रमन

से परिचित थे और चाहते थे कि किसी प्रकार इस कालेज में श्री रमन को विज्ञान के प्रोफेसर के रूप में नियुक्त कर लिया जाए। परन्तु कठिनाई यह थी कि श्री रमन को जितना वेतन उपमहालेखाकार के पद पर मिल रहा था उतना कालेज में नहीं मिल सकता था। उस समय श्री रमन ने अधिक वेतन छोड़कर कम वेतन पर विज्ञान का प्रोफेसर बनना स्वीकार कर लिया।

एक कठिनाई फिर भी आ पड़ी। विज्ञान कालेज की स्थापना के लिए बहुत बड़ी धनराशि श्री तारकनाथ पालित ने दी थी। वे यह शर्त लगा गए थे कि विज्ञान का प्रोफेसर उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाए, जिसने विदेश में विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की हो। श्री रमन ने न तो विदेश में शिक्षा पाई थी, और न वे इस शर्त को पूरा करने के लिए विदेश जाने को तैयार ही थे। अन्त में बिना इस शर्त को पूरा किए ही श्री रमन को कालेज में विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त कर लिया गया।

कालेज में पहुंच जाने पर श्री रमन को अपनी रुचि का ही काम मिल गया। अब वे अपना सारा समय विज्ञान की खोजों में लगाने लगे। प्रकाश और ध्वनि के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक नये आविष्कार किए। इनके परिणामस्वरूप इससे पहले की अनेक धारणाओं में आमूलचूल परिवर्तन हो गया। श्री रमन ने पहले पहल इस रहस्य का उद्‌घाटन किया कि आकाश नीला क्यों दिखाई पड़ता है और समुद्र में तैरने वाले विशाल हिम-शैल नीले क्यों दीख पड़ते हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने जो सबसे बड़ी खोज की, उसे 'रमन-प्रभाव' कहा जाता है। इस 'रमन-प्रभाव' के लिए ही १९३० में उन्हें संसार का सबसे बड़ा पुरस्कार नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

श्री रमन ने विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुसन्धान किए। उन्होंने यह भी खोज की कि धातुओं में एक वैद्युतिक तरल पदार्थ विद्यमान रहता है। वह निरन्तर गति करता रहता है और इस गति के कारण ही ठोस धातुओं के अंदर भी प्रकाश की किरणें प्रवेश कर जाती हैं। अपनी इस प्रकार की अनेक खोजों को श्री रमन ने पत्रिकाओं और पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करवाया, जिससे उनकी धाक सारे संसार में बैठ गई।

श्री रमन का यश सब ओर फैल जाने का परिणाम यह हुआ कि संसार के सभी देशों के विश्वविद्यालयों की ओर से उनके पास भाषण देने के लिए निमन्त्रण

आने लगे। इन भाषणों के सिलसिले में श्री रमन अनेक देशों की यात्रा कर चुके हैं। १६२६ में वे भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। इंग्लैंड की रायल सोसायटी ने उन्हें अपना 'फैलो' बनाया, जो बहुत बड़ा सम्मान है। उसी वर्ष उन्हें 'नाइट' की भी उपाधि दी गई।

विज्ञान कालेज में सेवाकाल पूरा हो जाने के बाद श्री रमन ने बंगलौर के भारतीय विज्ञान प्रतिष्ठान (इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस) का काम संभाल लिया और इस समय बड़ी योग्यता के साथ उसे कर रहे हैं। भारत सरकार ने आपको आपकी सेवाओं के लिए 'पद्मविभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया है।

इतना यश और सम्मान प्राप्त होने के बाद भी श्री रमन बहुत सरल और साधु स्वभाव के व्यक्ति हैं। सरस्वती के सच्चे पुजारी का-सा आदर्श जीवन आप व्यतीत करते हैं। प्रतिभा और परिश्रम का जैसा मणि-कांचन संयोग आपमें दिखाई पड़ता है, वह संसार में दुर्लभ ही है। उनकी सफलता का जितना श्रेय उनकी प्रतिभा को है, उससे कम उनके परिश्रम को नहीं है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस व्यक्ति को स्वास्थ्य दुर्बल होने के कारण विदेश जाने से रोक दिया गया था, वह इतने दीर्घकाल तक इतना कठोर परिश्रम करता हुआ जीवन में इतनी बड़ी सफलता प्राप्त कर दिखाए ?

अन्य संभावित शीर्षक

१. कोई भारतीय विज्ञानवेत्ता

अभ्यास के लिए अन्य विषय

१. लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर
३. स्वामी विवेकानन्द
४. जगदीशचन्द्र बोस
५. तेनसिंह

समस्यामूलक

एशिया और अफ्रीका का जागरण

कभी प्राचीन इतिहास में एशिया और अफ्रीका के देशों ने बड़ी उन्नति की थी और संसार की प्राचीनतम सभ्यताएं, जिसमें चीन, भारत और मिश्र की सभ्यताएं प्रमुख हैं, इन्हीं प्रदेशों में पनपी थीं। परन्तु पिछले पांच सौ सालों का इतिहास इन महाद्वीपों के घोर पतन और दुर्दशा का इतिहास है। व्यापार और उपनिवेशों की खोज में भटकती हुई यूरोपियन जातियों ने इन प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा लिया और बड़ी निर्ममतापूर्वक इनका शोषण किया। दासता के चंगुल में फंसे रहने के कारण एशिया और अफ्रीका के देश न केवल शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़े रहे, अपितु उद्योग-धंधों की दृष्टि से भी वे पूर्णतया यूरोप पर निर्भर हो गए।

जनसंख्या की दृष्टि से एशिया और अफ्रीका बहुत बड़े महाद्वीप हैं। संसार की लगभग तीन-चौथाई जनसंख्या इनमें निवास करती है। यहां के लोग अत्यन्त भद्र और सहिष्णु हैं। यहां पर यूरोपियन जातियां पांव ही इसलिए जमा पाईं कि ये लोग परोपकारी और आतिथ्य-परायण थे। परन्तु अशिक्षा और दरिद्रता के कारण इनके गुणों का पूरा विकास न हो सका। यूरोपियन शासकों ने यहां के प्राकृतिक साधनों को यहां के निवासियों के लाभ के लिए विकसित करने का कभी प्रयत्न न किया। परिणाम यह हुआ कि जहां अल्प साधन और कम जन-संख्या वाले यूरोप के छोटे-छोटे देश भी बड़ी उन्नति कर गए, वहां एशिया और अफ्रीका के देश अत्यन्त अविकसित दशा में ही रहे। इन देशों को अविकसित रखने में यूरोपियन जातियों का स्वार्थ निहित था और वह यह कि इन देशों को एक ओर तो कच्चा माल पैदा करने का क्षेत्र बनाए रखा जाए और दूसरी ओर इन्हें ऐसा बाज़ार बनाए रखा जाए, जहां पर वे अपना तैयार माल बेच सकें।

उन्नीसवीं शताब्दी में धीरे-धीरे एशिया में राजनीतिक चेतना का जागरण हुआ। जापान सबसे पहला देश था, जिसने एशियाई देशों में गौरव का भाव

जगाया। रूस और जापान में हुए युद्ध में जापान की विजय और रूस की पराजय से एशियाई लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि यूरोपियन जातियां अजेय नहीं हैं और एशियाई लोग भी युद्ध में लड़कर उन्हें परास्त कर सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस और ब्रिटेन दो बड़े-बड़े साम्राज्य थे, जिन्होंने एशिया और अफ्रीका के विस्तृत भूभागों पर अपना अधिकार जमाया हुआ था। जहां उनका प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन नहीं भी था, वहां भी उनका आर्थिक दबाव था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एशिया में राजनीतिक स्वाधीनता के लिए आंदोलन प्रारंभ हुए। चीन ने भी विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष किया। दूसरी ओर भारत की स्वाधीनता की लड़ाई भी लगभग साठ साल तक जारी रही। यह लड़ाई पहले तो केवल कागज़ी प्रस्ताव पास करने के रूप में थी, परन्तु बाद में सत्याग्रह और असहयोग के रूप में बदल गई। उसके बीच में कभी-कभी आतंकवादियों के हिंसात्मक आंदोलन भी हुए। अन्त में नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने आज़ाद हिंद फौज का संगठन करके अंग्रेज़ों के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध भी किया। इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १९४७ में भारत स्वाधीन हो गया। उसी समय बर्मा भी स्वाधीन हुआ और श्रीलंका को भी औपनिवेशिक राज्य बना दिया गया।

दक्षिण अफ्रीका में बहुत पहले गांधीजी ने भारतीयों को राजनीतिक अधिकार दिलाने के लिए आंदोलन किया था। उस समय उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिल गई थी। परन्तु बाद में गोरी जातियों ने फिर भारतीयों और अफ्रीका के मूल निवासियों को कुचलना शुरू किया और उनसे राजनीतिक अधिकार छीन लिए। अफ्रीका महाद्वीप का लगभग सारा भाग ही विदेशियों के शासन में था। किन्तु गत दो महायुद्धों में पश्चिमी देशों की शक्ति कम होती गई और अफ्रीका के देश भी स्वाधीन होने के लिए प्रयत्न करने लगे। इस दृष्टि से सबसे पहले सफलता मिस्र को मिली। मिस्र में पहले बादशाह फारूख का शासन था, जो अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली बना हुआ था। मिस्र के सेनाध्यक्षों ने क्रांति कर दी। फारूख को भगा दिया और प्रजातन्त्र की स्थापना की। इस समय मिस्र का राष्ट्रपति नासिर अफ्रीका और मध्य एशिया के देशों की स्वाधीनता का प्रमुख नेता बना हुआ है।

ट्यूनीसिया और मोरक्को पर फ्रांस का शासन था। काफी समय तक संघर्ष करने के बाद ये दोनों देश स्वतन्त्र हो गए हैं। परन्तु अल्जीरिया में लाखों राष्ट्र-वादियों के रक्तपात के बाद भी अभी तक फ्रांस उसे छोड़ने को तैयार नहीं है। इस समय भी वहां फ्रांस की साम्राज्यवादी शक्ति और अल्जीरियाई राष्ट्रवादियों के बीच घोर संघर्ष चल रहा है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि अब संसार की कोई शक्ति अल्जीरिया को पराधीन नहीं रख सकेगी।

मिस्र ने पश्चिमी एशिया के देशों को संगठित करने का प्रयत्न शुरू किया और सीरिया तथा यमन को साथ मिलाकर एक बड़ा संघ बनाया जिसका नाम संयुक्त-अरब-गणतन्त्र रखा गया। अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों ने स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर मिस्र को कुचलने के लिए मिस्र पर आक्रमण भी किया, परन्तु रूस के हस्तक्षेप के कारण उन्हें वहां से वापस लौटना पड़ा। इससे मिस्र का प्रभाव पश्चिमी एशिया में काफी बढ़ गया। पर कुछ समय बाद ईराक के प्रश्न को लेकर रूस और मिस्र में भी मनमुटाव हो गया।

पश्चिमी एशिया संसार में तेल के उत्पादन का सबसे बड़ा केन्द्र है। ईरान, ईराक और कुवैत में बहुत बड़ी मात्रा में मिट्टी का तेल निकाला जाता है। पश्चिमी देश इस तेल के लिए ही इस भाग पर अपना कब्ज़ा रखना चाहते हैं। किन्तु उनके विरुद्ध इस प्रदेश में बड़ा असन्तोष है। १९५८ में ईराक में भी क्रान्ति हुई, जिसमें पश्चिमी देशों के पक्षपाती राजा फैज़ल की हत्या कर दी गई और सेना ने राज्य अपने अधिकार में ले लिया। ईराक की नई सरकार का रुख मिस्र और अरब राष्ट्रीयता के प्रति मित्रतापूर्ण है।

१९५४-५५ में पूर्वी अफ्रीका में अंग्रेज़ों के विरुद्ध अफ्रीकन राष्ट्रवादियों ने बड़ा प्रबल आंदोलन किया था जिसे 'माऊ माऊ आंदोलन' का नाम दिया गया था। अंग्रेज़ सरकार ने माऊ माऊ आंदोलन को बड़ी कठोरता से कुचल दिया। हज़ारों आदमियों को मार डाला। परन्तु यह प्रदेश अभी भी शान्त नहीं है और जब तक स्वाधीन नहीं हो जाएगा, तब तक शान्त होगा भी नहीं।

अफ्रीका के पश्चिमी किनारे पर बसे हुए एक छोटे-से देश घाना को भी १९५८ में स्वाधीनता मिली है। घाना की स्वाधीनता आसपास के अन्य छोटे-छोटे देशों के

लिए बड़ी सहायक सिद्ध होगी। घाना के प्रधान मन्त्री श्री नकरुम्मा और मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर बार-बार स्पष्ट ऐलान कर चुके हैं कि वे केवल अपने देश को ही स्वाधीन कराकर चुप नहीं बैठ जाएंगे, बल्कि अपने पड़ोसी देशों की स्वाधीनता के लिए भी सक्रिय प्रयत्न करेंगे।

एशिया में भी इंडोनेशिया और इंडोचाइना ने क्रमशः डचों और फ्रांसीसियों के चंगुल से मुक्ति पा ली है। मलाया को भी अभी हाल में ही ब्रिटेन के शासन से स्वाधीनता मिली है। इस समय एशिया में ऐसे प्रदेश बहुत कम हैं, जहां विदेशी शासन हो, किन्तु अफ्रीका का काफी बड़ा भाग अभी तक उपनिवेशवाद के पैरों तले दबा हुआ है।

पिछले दिनों अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप मध्य अफ्रीका के अनेक छोटे-छोटे देश स्वतन्त्र हो गए हैं जिनमें निम्नलिखित नाम मुख्य हैं। कांगो, कैमेरून, टोगो, माली, मैलेगैसी, सोमालिया, भूतपूर्व फ्रांसीसी कांगो, दाहोमी, ऊपरी वोल्टा, नाइजर, आइवरी कोस्ट, गैबन, छड, मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र। इनके अतिरिक्त भूमध्यसागर में स्थित साइप्रस भी ब्रिटेन के चंगुल से निकलकर स्वतन्त्र हो गया है।

अफ्रीका और एशिया के देश अपनी पिछड़ी हुई दशा को अनुभव करते हैं और साथ ही अपने महत्त्व को भी पहचानते हैं। अफ्रीका और एशिया के सब देशों को संगठित करने के लिए १९५५ में इंडोनेशिया में बांडुंग सम्मेलन हुआ। इसमें २९ देशों ने भाग लिया। एशियाई और अफ्रीकन स्वतंत्र देशों का यह पहला सम्मेलन था। इस दृष्टि से इस सम्मेलन का महत्त्व बहुत अधिक है। यह सम्मेलन बांडुंग नगर में १८ अप्रैल से शुरू हुआ था।

इस सम्मेलन का आयोजन बर्मा, इंडोनेशिया, भारत, श्रीलंका और पाकिस्तान की ओर से किया गया था। बांडुंग सम्मेलन में एशियाई देशों की अनेक समस्याओं पर विचार किया गया और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यह पास किया गया कि संसार के सब पराधीन देशों को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दिया जाए, अर्थात् हरएक देश के निवासियों को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता दी जाए कि वे अपने देश में चाहे जिस शासन-प्रणाली को और चाहे जिस सामाजिक व्यवस्था को अप-

नाएं। बांडुंग सम्मेलन में सब देशों के लिए स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार की घोषणा से पराधीन देशों के स्वाधीनता-आन्दोलनों को नैतिक सहायता प्राप्त हुई है। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अब एशिया और अफ्रीका में कोई देश पराधीन नहीं रह सकेगा। यह बात दूसरी है कि सब देशों को स्वाधीन होने में कितना समय लगे।

दक्षिण अफ्रीका में गोरी जातियां अफ्रीकनों और हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध बहुत भेद-भाव और अपमान का बर्ताव कर रही हैं। अमेरिका में भी काले हब्शियों के साथ बहुत भेद-भाव किया जाता है। बांडुंग सम्मेलन में एक प्रस्ताव के द्वारा यह भी घोषणा की गई कि जाति अथवा रंग के आधार पर मनुष्यों में भेद-भाव करना बहुत बुरा है और यह भेद-भाव समाप्त किया जाना चाहिए। इसी प्रकार एक और प्रस्ताव द्वारा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की निंदा की गई। सम्मेलन ने यह घोषणा की कि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद विश्व-शान्ति के लिए संकटजनक हैं।

इस प्रकार बांडुंग सम्मेलन ने अफ्रीका और एशिया के सब देशों का एक संगठन बनाने के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। संयुक्त राष्ट्र संघ के होते इन देशों का पृथक् संगठन बनाना अभी तक वांछनीय नहीं समझा गया, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर कभी भी ऐसा संगठन बन सकता है।

१९५७ में मिस्र पर ब्रिटेन और फ्रांस के आक्रमण के सिलसिले में एशिया और अफ्रीका के देशों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे एशिया और अफ्रीका के किसी भी देश पर आक्रमण सहन करने को तैयार नहीं हैं। यद्यपि सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण अभी ये देश एकाएक कोई सक्रिय सहायता एक दूसरे को नहीं दे सकते, फिर भी सबको एक दूसरे का नैतिक समर्थन प्राप्त होना भी बहुत बड़ी बात है।

इस समय अंतर्राष्ट्रीय विवादों का हल वार्तालाप और समझौते द्वारा करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ नाम की संस्था बनी हुई है। उसमें भी अफ्रीका और एशिया के देशों के प्रतिनिधि काफी बड़ी संख्या में हैं। अभी तक उनकी आवाज़ कम सुनी जाती है, क्योंकि उनकी आवाज़ के पीछे सैनिक बल नहीं है, किन्तु ज्यों-ज्यों इन

देशों की स्थिति सुधरेगी, त्यों-त्यों इनकी आवाज़ अधिकाधिक सुनी जाएगी। भारत और चीन जिस तेज़ी से प्रगति कर रहे हैं, उसको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अगले बीस साल में विश्व की राजनीति और शक्ति के संतुलन में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाएगा। एशिया और अफ्रीका के देशों में जो नवजागरण शुरू हुआ है, उसके परिणामस्वरूप इन महाद्वीपों के सब देश न केवल स्वतंत्र होकर रहेंगे, अपितु वे सुखी और समृद्ध जीवन भी बिता सकेंगे।

अन्य संभावित शीर्षक

१. साम्राज्यवाद का पतन
२. पूर्व का स्वाधीनता-आन्दोलन

पश्चिमी एशिया में क्रांति

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में राजनीतिक परिस्थितियों और औद्योगिक क्रांति का लाभ उठाकर यूरोपियन देशों ने एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देशों पर अधिकार कर लिया था। पश्चिमी एशिया के देश यूरोप के पास पड़ते थे और आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे, इसलिए इनपर अधिकार करना यूरोपियन देशों के लिए आसान था। इसके अतिरिक्त भारत आने के लिए भी समुद्री मार्ग भूमध्य सागर और लाल सागर में से होकर था। इस मार्ग को सुरक्षित बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि भूमध्य सागर के दक्षिणी तट तथा लाल सागर के दोनों ओर के देशों पर यूरोपियन लोगों का कब्ज़ा बना रहे। परिणाम यह हुआ कि इन सब देशों पर यूरोपियन देशों ने बड़ी कठोरतापूर्वक अपना अधिकार जमाए रखा और इस बात का हर एक सम्भव प्रयत्न किया कि ये देश आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से पिछड़े रहें।

पश्चिमी एशिया में संसार के सबसे बड़े मिट्टी के तेल के कुएं हैं। ईरान, ईराक, साउदी अरब, कुवैत आदि से संसार का एक तिहाई से भी अधिक पैट्रोलियम निकलता है। इस तेल की यूरोपियन देशों को बहुत आवश्यकता रहती है। इस तेल को निकालने और बेचने का सारा अधिकार यूरोप और अमेरिका की कम्पनियों के हाथों में है। इस तेल के लिए भी पश्चिम के देश इस प्रदेश पर कब्ज़ा जमाए रखना चाहते थे।

इसके लिए उन्होंने इन सब देशों में राजाओं को अपने हाथ की कठपुतली बनाया हुआ था। फ्रांस और इंग्लैंड जैसे प्रजातन्त्रवादी देशों ने भी इन देशों में राजतंत्र को बनाए रखने में अपना हित देखा। राजाओं को अपने विलास के लिए यथेष्ट धन-राशि दे दी जाती थी और उसके बाद देश की बाकी जनता की चिंता किसीको नहीं थी। लोग बेहद गरीब थे। शिक्षा का कहीं नाम नहीं था। जीवन की शेष सुविधाओं का तो कहना ही क्या ?

परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही पूर्वीय देशों में राजनीतिक चेतना जागी। १९१७ में रूस में साम्यवादी क्रांति हुई और उसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ा। पराधीन देशों को यह अनुभव हुआ कि पराधीनता उनके सब दुःखों की जड़ है। इसलिए उनका सबसे पहला लक्ष्य स्वाधीनता होना चाहिए। जब कोई देश स्वाधीन होगे के लिए दृढ़ संकल्प कर ले, तो फिर उसे देर तक गुलाम नहीं रखा जा सकता। एक के बाद एक, सभी देश विदेशियों के शासन से छुटकारा पाने लगे। परन्तु स्वाधीनता की इस दौड़ में भी पश्चिमी एशिया के देश सबसे पिछड़े रहे।

द्वितीय विश्व-युद्ध में इन देशों में से कुछ ने स्वाधीनता पाने की आशा की थी और कुछ असंगठित प्रयत्न भी किया था, परन्तु उन दिनों मित्रराष्ट्रों की सेनाएं बहुत बलवान थीं, इसलिए ये देश स्वाधीनता पाने में सफल न हुए। विश्व-युद्ध के बाद स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया। पहले जहां ब्रिटेन और फ्रांस सबसे बड़ी शक्तियां समझे जाते थे, वहां युद्ध के बाद सबसे बड़ी शक्तियां रूस और अमेरिका हो गए। रूस और अमेरिका दोनों का ही कोई स्वार्थ मध्य एशिया के देशों के पराधीन रहने में नहीं था। ब्रिटेन और फ्रांस कमज़ोर पड़ गए थे; इस-

लिए एक-एक करके पश्चिमी एशिया के देश स्वतन्त्र होने लगे।

इस दिशा में पहला प्रयत्न ईरान के प्रधान मंत्री डाक्टर मुसादिक ने किया था। उसने ईरान के तेल का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। परन्तु पश्चिमी देशों ने आर्थिक और राजनीतिक दबाव डालकर डाक्टर मुसादिक को प्रधान मन्त्री-पद से हटवा दिया और ईरान के शाह के हाथ में फिर पूरी सत्ता आ गई, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा ईरान का शोषण फिर जारी हो गया।

उसके बाद मिस्र में सफल क्रान्ति हुई। मिस्र में पहले राजा फारूख शासन कर रहा था। उसका शासन बहुत ही दुर्बल और भ्रष्टाचारपूर्ण था। मिस्र के सैनिक अफसरों ने क्रान्ति करके शासन अपने हाथ में ले लिया। राजा फारूख इटली भाग गया। कुछ समय बाद मिस्र की बागडोर कर्नल नासिर के हाथों में आ गई। उसने अपने देश की उन्नति के लिए स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया, जिससे मिस्र को बहुत आमदनी होने लगी। स्वेज़ के राष्ट्रीयकरण से इंग्लैंड और फ्रांस बहुत चिढ़े और उन्होंने मिस्र के विरुद्ध बाकायदा लड़ाई छेड़ दी। उनकी फौजें पोर्टसईद में पहुंच गईं। परन्तु रूस के धमकाने पर अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों को असफल होकर वापस लौट आना पड़ा।

इस सफलता से सारे पश्चिमी एशिया में एक नया उत्साह फैल गया। अरब देशों में राष्ट्रीयता की भावना पनप उठी। उन्होंने अनुभव किया कि हमारी दुर्दशा का सारा कारण यह है कि विदेशी लोग हमारे तेल को ले जाते हैं। यदि हम इस तेल का उपयोग अपने हित के लिए कर सकें या इसका उचित मूल्य पा सकें तो हमारी दशा शीघ्र ही सुधर सकती है। कर्नल नासिर ने अरब राष्ट्रों को स्वाधीन और संगठित करने का बीड़ा उठाया। सबसे पहली सफलता उसे यह मिली कि सीरिया और मिस्र, दोनों देश आपस में मिल गए और उन्होंने अपने आपको 'संयुक्त अरब गणतन्त्र' नाम दिया। कुछ ही समय बाद यमन भी इस गणतन्त्र में सम्मिलित हो गया।

पश्चिमी देश मिस्र को नीचा दिखाने के लिए तरह-तरह के हथकंडे सोच ही रहे थे कि ईराक में सैनिक क्रान्ति हो गई। वहां के राजा और प्रधान मन्त्री को मार डाला गया और ब्रिगेडियर अब्दुल करीम कासिम के नेतृत्व में सैनिक सरकार

काम करने लगी। कुछ ही समय पहले संयुक्त अरब गणतन्त्र के मुकाबले में ईराक और जोर्डन ने अपना संघ बना लिया था। ईराक का राजा फैज़ल जोर्डन के राजा का भाई लगता था। परन्तु ईराक बड़ा देश था और जोर्डन तुलना में बहुत छोटा। इसलिए जोर्डन का राजा ईराक पर फिर अपना अधिकार करने के लिए प्रयत्न न कर सका। ईराक की क्रान्ति के समय अंग्रेज़ और अमेरिकन सेनाएं जोर्डन और लेबनान में पहुंच गई थीं, क्योंकि उन्हें भय था कि इन देशों में भी राष्ट्रवादी तत्त्व कठपुतली सरकारों को उलट देंगे। दूसरी ओर अरब राष्ट्रों को यह भय था कि ये सेनाएं ईराक की क्रान्ति को कुचलने के लिए भेजी गई हैं। परन्तु इस समय संसार में शक्ति-संतुलन ऐसा है कि एकाएक युद्ध छेड़ बैठना किसी भी देश के लिए न सम्भव है और न भला। इसलिए पश्चिमी एशिया में युद्ध की घटाएं दूसरी बार घुमड़कर फिर बिना बरसे ही टल गईं।

इस समय पश्चिमी एशिया में स्थिति यह है कि मिस्र, सीरिया, यमन, ईराक और सूडान विदेशियों के चंगुल से छुटकारा पा चुके हैं और उन्हें अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करने का अधिकार मिल गया है। ईरान, जोर्डन और साउदी अरब पर अभी तक पश्चिमी देशों का प्रभाव है। वस्तुतः इन देशों में सरकारें पश्चिमी देशों की सक्रिय सहायता से ही चल रही हैं। कुछ कहा नहीं जा सकता कि किस समय इन देशों में भी असन्तुष्ट जनता या सेना क्रान्ति कर बैठे और वहां से भी पश्चिमी देशों का प्रभाव समाप्त हो जाए। कुछ समय पहले 'बगदाद पैक्ट' नाम से एक सुरक्षा करार अमेरिका की प्रेरणा पर किया गया था। अब ईराक के पृथक् हो जाने के कारण उस करार की जड़ हिल गई प्रतीत होती है। ईराक की क्रान्ति का अन्य देशों पर बड़ा उत्साहवर्धक प्रभाव पड़ेगा।

दूसरी ओर उत्तरी अफ्रीका में लीबिया, ट्यूनिशिया और मोरक्को स्वतन्त्र हो चुके हैं। यद्यपि इन देशों की सैनिक स्थिति बहुत सुदृढ़ नहीं है, परन्तु वैधानिक तौर पर इन्हें स्वतन्त्रता मिल चुकी है और एक बार स्वतन्त्र हो चुकने के बाद यदि इनमें से किसीपर आक्रमण हो, तो संयुक्तराष्ट्र उसमें दखल दे सकता है। अल्जीरिया में कई वर्षों से लड़ाई जारी है। वहां की राष्ट्रवादी सेनाएं विदेशी फ्रांसीसी शासकों के विरुद्ध लड़ाई लड़ रही हैं। राष्ट्रवादी सेनाएं बाकायदा संगठित सेनाएं

नहीं हैं, अपितु बिखरे हुए दल हैं, जो गुरिल्ला ढंग की लड़ाई लड़ रहे हैं। फ्रांसीसियों ने एक लाख के लगभग अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों को मौत के घाट उतार दिया है, किन्तु वहां अभी लड़ाई जारी है और आशा बंधती है कि यह लड़ाई अल्जीरिया की स्वाधीनता मिलने पर ही समाप्त होगी।

साम्राज्यवाद का चंगुल ढीला पड़ रहा है। अभी हाल में ही देखते-देखते कितने ही अफ्रीकी देश स्वतन्त्र हो गए हैं। हाल में ही स्वतन्त्र होने वाले इन देशों में घाना, कांगो, कैमेरून, टोगो, माली, मैलेगैसी, सोमालिया, भूतपूर्व फ्रांसीसी कांगो, दाहोमी, ऊपरी वोल्टा, नाइजर, आइवरी कोस्ट, गैबन, छड, मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र और साइप्रस आदि देशों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन देशों में से साइप्रस के अतिरिक्त अन्य किसी देश ने स्वाधीनता के लिए सशस्त्र संघर्ष नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का दबाव ही इन्हें स्वाधीन कराने में समर्थ हुआ है।

इस प्रकार पश्चिमी एशिया में इस समय स्वाधीनता के लिए संघर्ष का संग्राम धीरे-धीरे किन्तु स्थिर रूप से प्रगति कर रहा है। संसार के अनेक राजनीतिज्ञों ने यह सम्मति प्रकट की है कि राष्ट्रीयता की इस प्रचंड लहर को रोका नहीं जा सकता। पहले साम्राज्यवादी देशों की सबसे बड़ी सुविधा यह थी कि वे आर्थिक सहायता देकर या रोककर दूसरे देशों पर अपना प्रभाव डाल सकते थे। परन्तु अब साम्यवादी देशों के मैदान में आ जाने के कारण स्थिति बिल्कुल बदल गई है। जिन देशों को साम्राज्यवादी देश सहायता देने से इन्कार कर देते हैं, उन्हें तुरन्त साम्यवादी देशों से सहायता प्राप्त होने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का शिकंजा ढीला पड़ चुका है और अब कुछ समय बाद चिरकाल से शोषित और शासित चले आ रहे देश भी सुख की सांस ले सकेंगे।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. राजनीतिक नवचेतना की व्यापक लहर
२. पश्चिमी एशिया का स्वाधीनता-संग्राम

हमारे पड़ौसी देश

जनसंख्या की दृष्टि से भारत का स्थान संसार के देशों में दूसरे नम्बर पर है। पहला नम्बर चीन का है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का स्थान चौथे या पांचवें नम्बर पर होगा। इस कारण जब भारत स्वाधीन हुआ तो विश्व की राजनीति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक ही था। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान होने का एक बड़ा कारण यह भी है कि भारत की राजनीति कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों पर आधारित है। अवसर देखकर अपने सिद्धान्तों को बदल लेना भारत की नीति नहीं है। भारत की विदेश नीति पंचशील पर आधारित है और पंचशील मुख्यतया तटस्थता, शान्ति-प्रियता, मित्रता और सहअस्तित्व का ही नाम है। भारत की इस तटस्थ और शान्तिप्रिय नीति के कारण संसार की बड़ी-बड़ी शक्तियां भी भारत की सम्मति को आदर की दृष्टि से देखती हैं।

वैसे तो प्रायः सभी राष्ट्र ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की दुहाई देते हैं, किन्तु व्यवहार में उनका पालन नहीं करते। मौका देखकर वे अपने सिद्धान्त भी बदल लेते हैं। ऐसे अवसरवादी राष्ट्रों का अवसरवादी व्यक्तियों की भांति संसार में कोई आदर नहीं है। किन्तु भारत सिद्धान्त और व्यवहार दोनों को एक रखना चाहता है।

किसी भी देश की नीति की सही परीक्षा अपने पड़ौसी देशों के साथ व्यवहार में होती है। भारत की सीमा अनेक देशों के साथ छूती है। पाकिस्तान, अफगानिस्तान, चीन, रूस, तिब्बत, नैपाल, बर्मा और श्रीलंका हमारे पड़ौसी देश हैं, जिनसे हमारा वास्ता पड़ता है। गोआ कोई स्वतन्त्र प्रदेश नहीं है; परन्तु पुर्तगाल के अधीन होने के कारण उसकी समस्या भारत के लिए एक विकट समस्या बनी हुई है। अब हम क्रमशः इन देशों के साथ भारत के सम्बन्धों का विहंगावलोकन कर सकते हैं।

भारत ने अपने पड़ौसी देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने की अपनी ओर से भरसक चेष्टा की और यह यत्न किया कि यदि कोई विवाद हो, तो उसका हल शान्तिपूर्वक विचार-विमर्श द्वारा कर लिया जाए। परन्तु अन्य देशों की दुराग्रहपूर्ण नीति के कारण पाकिस्तान, चीन और गोआ में भारत की इस नीति को सफलता प्राप्त नहीं हुई।

पाकिस्तान स्वाधीनता से पहले कोई स्वतन्त्र देश नहीं था। एक ही देश को काटकर पाकिस्तान और भारत दो भाग कर दिए गए। मुस्लिम लीगी मुसलमानों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी कि देश का विभाजन किए बिना शान्ति की स्थापना असम्भव प्रतीत होती थी। कांग्रेस ने इस आशा में देश का विभाजन स्वीकार लिया था कि विभाजन के बाद दोनों देश शान्ति से रहेंगे और अपनी-अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करेंगे। परन्तु एक तो देश का विभाजन भी शान्तिपूर्वक नहीं हुआ। बड़ी मार-काट हुई और दूसरे विभाजन के बाद भी भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं रह सके। काश्मीर और नहरी पानी के विवाद को लेकर दोनों देशों में काफी तनाव बना रहा।

भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद का सबसे बड़ा कारण काश्मीर है। भारत का दावा है कि काश्मीर भारत का अंग है। न केवल वहां के राजा ने, अपितु वहां की प्रजा द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की विधान सभा ने भी काश्मीर को भारत के साथ मिलाने का आग्रह किया है। ऐसी दशा में वैधानिक दृष्टि से काश्मीर भारत का अंग है। फिर भी पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण करके वहां के काफी बड़े भाग पर अपना कब्ज़ा कर लिया और अन्त में भारतीय सेना को लड़ाई लड़कर पाकिस्तानियों को काश्मीर से खदेड़ना पड़ा। उसी समय संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद बीच में कूद पड़ी और उसने दोनों देशों में युद्ध-विराम सन्धि करवा दी। काश्मीर के कुछ भाग पर पाकिस्तान का अधिकार रह गया और अब उसीके नाते वह सारे काश्मीर पर अपना दावा करता रहता है।

इसी प्रकार नहरी पानी का विवाद भी इन दोनों देशों के बीच विवाद का एक बड़ा कारण था। पाकिस्तान में जाने वाली बहुत-सी नहरें भारत की

नदियों से पानी लेती हैं। भारत अपने क्षेत्रों की सिंचाई के लिए इन नदियों के पानी का उपयोग करना चाहता था, परन्तु पाकिस्तान का कथन था कि यदि भारत ने इन नहरों को पानी देना बन्द किया तो पाकिस्तान के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाएगा। तेरह साल तक यह विवाद चलता रहा। अब १६ सितम्बर १९६० को विश्व बैंक की मध्यस्थता से दोनों देशों में इस विषय में शान्तिपूर्वक समझौता हो गया है। इस समझौते के अनुसार भारत पाकिस्तान में नई नहरें बनाने के लिए ८३·३० करोड़ रुपये पाकिस्तान को देगा और अपनी नहरों से अभी पांच साल तक पाकिस्तान को पानी भी देता रहेगा। पाकिस्तान में सिन्धु घाटी की नदियों से जो नहरें निकाली जाएंगी, उनके ८० प्रतिशत पानी का उपयोग पाकिस्तान कर सकेगा और २० प्रतिशत पानी का उपयोग भारत करेगा। भारत की ओर से इतनी उदार शर्तों को स्वीकार कर लिए जाने के बाद शान्तिपूर्ण हल न होने की कोई सम्भावना ही नहीं थी।

विस्थापितों की सम्पत्ति के हर्जाने के प्रश्न को लेकर भी दोनों देशों में कुछ मनमुटाव था। पर अब लगता है कि जिस तरह नहरी पानी के विवाद का हल निकल आया है, ठीक उसी प्रकार इस विवाद का भी कोई न कोई हल निकल आएगा। इन दोनों देशों में पारस्परिक सम्बन्ध सुधरने के कई कारण हैं। पहले पाकिस्तान में बहुत जल्दी-जल्दी सरकारें बदलती रहती थीं। हर नई सरकार अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए भारत के विरुद्ध विष उगलना शुरू कर देती थी। जनरल अयूब की सुदृढ़ सरकार के आने से वह तलवार खड़खड़ाना समाप्त हो गया है। दूसरी बात यह है कि अमेरिका से काफी शस्त्रास्त्र प्राप्त कर लेने के बाद पाकिस्तान की सामरिक स्थिति पहले से कहीं अधिक मज़बूत हो गई है। तीसरी बात यह है कि दोनों देश चीन के बढ़ते हुए खतरे को अधिकाधिक अनुभव करने लगे हैं; यहां तक कि कई बार तो दोनों देशों की सम्मिलित प्रतिरक्षा की योजनाएं भी सोची जाने लगती हैं। इस सबसे ऐसा लगता है कि दोनों देशों के बीच विवाद शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा। पर साथ ही पाकिस्तान की दृढ़ता की नीति और भारत की उदार नीति को देखकर यह भी लगता है कि समझौता पाकिस्तान की सब शर्तों को मान लेने पर ही होगा।

के बाद दूसरा नम्बर चीन का है। चीन के साथ भारत की बहुत बड़ी सीमा छूती है। चीन द्वारा तिब्बत पर पूरा अधिकार कर लिए जाने के बाद तो इस सीमा की लम्बाई लगभग डेढ़ हजार मील हो गई है।

स्वाधीनता के बाद शुरू-शुरू में चीन और भारत के सम्बन्ध बहुत मित्रतापूर्ण रहे। चीन के साथ भारत की बहुत बड़ी सीमा तिब्बत के प्रदेश में छूती है। जब तक भारत स्वाधीन नहीं हुआ था, तब तिब्बत एक स्वतन्त्र देश था, जिसपर ब्रिटिश सरकार का बहुत प्रभाव था। चीन ने कभी तिब्बत में अपना प्रभाव जमाने की उन दिनों सोची भी नहीं। परन्तु भारत के स्वाधीन होने के समय तक चीन काफी शक्तिशाली हो चुका था। उसने तिब्बत में अपने पांव पसारने शुरू किए। किन्हीं पुरानी संधियों को खोजकर यह सिद्ध किया गया कि तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व है। उस समय भारत सरकार ने चीन से मित्रता बनाए रखने के लोभ में चीन को मनमानी करने दी और तिब्बत पर चीन ने लगभग अधिकार-सा ही कर लिया। १९५८ के प्रारम्भ में चीनियों के विरुद्ध तिब्बत में विद्रोह हुआ, जिसे चीनियों ने बहुत कठोरता से दबा दिया। दलाई लामा ने भागकर भारत में शरण ली।

या तो दलाई लामा को शरण देने के कारण अथवा अपना क्षेत्रीय विस्तार करने की प्रबल लालसा के कारण चीन का रुख भारत के प्रति बहुत कठोर हो गया। चीनियों ने पश्चिम की ओर लद्दाख और पूर्व की ओर उत्तर पूर्वी सीमाप्रदेश में भारतीय क्षेत्र में घुसकर बहुत बड़े क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की। एक ओर उन्होंने भारतीय प्रदेश पर सशस्त्र सेना द्वारा कब्ज़ा करने की कोशिश की और दूसरी ओर प्रचार के लिए ऐसे नक्शे छपवाए, जिनमें भारत की लगभग चालीस हज़ार वर्गमील भूमि को चीनी प्रदेश बताया गया था। दो-चार जगह भारतीय सैनिकों की चीनी सैनिकों से मुठभेड़ें भी हुईं, जिनमें भारतीयों को जनहानि उठानी पड़ी। इतना सब उत्पात होने के बाद भी भारत सरकार ने धैर्य नहीं छोड़ा। उसने शान्तिपूर्वक विचार-विमर्श से ही इस समस्या का हल करने की चेष्टा की। बातचीत के लिए चीन के प्रधान मन्त्री चाउ एन लाई नई दिल्ली आए और उन्होंने श्री नेहरू चर्चा की। परन्तु दोनों देश

अपने-अपने दावों पर इतने दृढ़ रहे कि कोई भला परिणाम नहीं निकल सका। इस समय यद्यपि सीमा-क्षेत्र में शान्ति है, परन्तु दोनों देशों में कटुता बनी हुई है और दोनों का एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार जारी है, हालांकि दोनों ही यह मानते हैं कि उन्हें इस सीमांकन की समस्या का हल युद्ध द्वारा नहीं अपितु बातचीत द्वारा करना है। दोनों देशों की नीति को देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि कभी न कभी दोनों शान्तिपूर्वक इस समस्या को हल कर लेंगे और फिर पहले की भांति मित्र बनकर रह सकेंगे।

इन दोनों के अतिरिक्त गोआ की समस्या भी एक बड़ी समस्या है। गोआ भारत की छाती में एक कांटे की तरह गड़ा हुआ है। जब सारा देश स्वतंत्र हो चुका है और फ्रांसीसी भी अपने उपनिवेश छोड़कर जा चुके हैं, तब भी पुर्तगाल अपने छोटे-से भारतीय प्रदेश के लिए ज़िद करके अड़ा हुआ है। यदि भारत बल का प्रयोग करके इस प्रदेश को छीनना चाहे, तो यह समस्या कुछ ही दिनों में हल हो सकती है। परन्तु कठिनाई यह है कि पंचशील का प्रचारक भारत बल का प्रयोग करना नहीं चाहता। पुर्तगाल के अपनी ज़िद पर अड़े रहने का एक मुख्य कारण यह है कि पश्चिमी देशों का समर्थन उसे प्राप्त है। पश्चिमी शक्तियां भारत को परेशानी में डाले रखने के लिए और युद्ध-काल में इस क्षेत्र में अपने सामरिक अड्डे बनाने की आशा में पुर्तगाल को यह सलाह देती हैं कि वह गोआ पर अपना कब्ज़ा बनाए रखे।

रूस भी भारत का पड़ौसी है। रूस इस समय संसार की दो बड़ी शक्तियों में से एक है। रूस और भारत के हित कहीं टकराते नहीं हैं, इसलिए दोनों देशों में मित्रता होने में कोई कठिनाई नहीं है। भारत ने तो सभी देशों के साथ मित्रता-सम्बन्ध रखने का निश्चय किया हुआ है। प्रारम्भ में रूसी लोग भारत को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, किन्तु अब तो रूस से भारत को सब प्रकार का सहयोग मिल रहा है। भारत में रूसी शिल्पज्ञ कई बड़े-बड़े कारखाने भी बना रहे हैं। दोनों देशों में कुछ व्यापारिक समझौते भी हुए हैं। रूस के बड़े-बड़े नेता भारत आ चुके हैं और भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू भी रूस हो आए हैं।

नैपाल भारत का एक और पड़ौसी मित्र देश है। नैपाल की सीमाएं भारत

के साथ इस तरह छूती हैं कि उसे अनेक दृष्टियों से भारत पर निर्भर रहना पड़ता है। जब भारत में अंग्रेज़ों का शासन था, तब नैपाल स्वतन्त्र देश होते हुए भी अंग्रेज़ों के पूरे प्रभाव में रहता था। अब भी नैपाल का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ वर्ष पूर्व नैपाल पर राणा वंश का अधिकार था और वहां के वास्तविक महाराजा बहुत कुछ बन्दियों का-सा जीवन बिताते थे। अब राणाशाही खत्म हो चुकी है। देश में प्रजातन्त्रीय सरकार की स्थापना हो गई है और कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त करके सरकार बनाई है। भारत और चीन दोनों के बीच फंसा होने के कारण नैपाल दोनों से मित्रता बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील है। नैपाल की उन्नति के लिए भारत यथासम्भव सब प्रकार की सहायता दे रहा है।

भारत की पूर्वी सीमा बर्मा से छूती है। अंग्रेज़ों के शासन में कुछ समय तक बर्मा भारत का अंग बनकर रह चुका है। किन्तु अंग्रेज़ जाने से पहले भारत को जिस प्रकार छिन्न-विछिन्न कर गए थे, उसी प्रक्रिया में बर्मा भी भारत से अलग हो गया था। बर्मा भारत से पहले स्वाधीन हो गया था, किन्तु वहां की आंतरिक स्थिति भी बहुत कुछ दुर्बल और डांवाडोल ही चल रही है। पहले भारत बर्मा से चावल, इमारती लकड़ी और पेट्रोल काफी बड़ी मात्रा में लेता था, किन्तु अब इन चीज़ों का आयात काफी घट गया है। राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से दोनों देशों के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में दोनों देशों के विचार लगभग एक जैसे हैं।

श्रीलंका भारत के दक्षिण में स्थित एक द्वीप है। श्रीलंका और भारत का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन है। आज भी श्रीलंका में बौद्धों की जनसंख्या काफी है। इस बौद्ध धर्म का प्रचार किसी समय अशोक ने करवाया था। दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध चिरकाल से घनिष्ठ रहे हैं और दोनों देशों में व्यापार भी खूब होता रहा है। आज भी श्रीलंका की चाय, मसाले और पान भारत में आते हैं। इस समय श्रीलंका बहुत कुछ स्वतन्त्र उपनिवेश है। भारत की तरह श्रीलंका भी राष्ट्र-मंडल का सदस्य है। पिछले दिनों श्रीलंका में भारतीयों के विरुद्ध काफी आंदोलन रहा। श्रीलंका के निवासी यह अनुभव करते थे कि भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में आकर श्रीलंका में बस गए हैं और उन्होंने वहां के व्यापार-व्यवसाय पर कब्ज़ा

किया हुआ है, जिसके कारण सिंहाली लोगों में बेकारी बढ़ रही है। इसलिए भारतीयों को श्रीलंका से खदेड़ने के लिए बहुत कुछ दंगे और उपद्रव भी हुए। वहां की सरकार ने कानून बनाकर उन भारतीयों को श्रीलंका से निकल जाने का आदेश दिया है, जिसके पास वहां का नागरिक होने का प्रमाणपत्र नहीं है। यद्यपि भारत इस विवाद को लेकर बहुत कुछ तनातनी कर सकता था; परन्तु अपनी शांतिप्रिय नीति के कारण उसने ऐसा कुछ नहीं किया और सारे विवाद का हल शांतिपूर्वक समझौते द्वारा ही करने का यत्न किया है और वह हल बहुत कुछ हो भी गया है।

कुछ समय पहले तक तिब्बत स्वतन्त्र देश था, किन्तु अब वह चीन का एक भाग है। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से तिब्बत के साथ भारत का कोई स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार अपने सभी पड़ौसी देशों के साथ भारत मित्रता और सहयोग के सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार के सम्बन्धों से सभी देशों को लाभ ही लाभ है। आशा है कि निकट भविष्य में पाकिस्तान के साथ भी हमारे सम्बन्ध बहुत सुधर जाएंगे।

अन्य संभावित शीर्षक

१. पड़ौसी देशों से भारत के सम्बन्ध

भारत का स्वाधीनता-संग्राम

अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों ने भारत पर धीरे-धीरे कब्ज़ा करना शुरू किया। देश के नेताओं ने, जो उस समय राजा या नवाब होते थे, अंग्रेज़ों के खतरे को अनुभव किया और उनके पांव न जमने देने के लिए भरपूर कोशिश की। परन्तु उस समय की राजनीतिक परिस्थितियां ऐसी थीं कि अंग्रेज़ों की प्रगति को रोका न जा सका और देखते-देखते उन्होंने सारे देश पर अपना अधिकार कर लिया।

परन्तु वस्तुतः भारत की स्वाधीनता की लड़ाई एक दिन के लिए भी बन्द नहीं हुई। जब अंग्रेज़ों का प्रभाव बढ़ रहा था, तब भी वह जारी रही और जब अंग्रेज़ों का पूरा आधिपत्य इस देश पर जम गया, तब भी उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए प्रयत्न जारी रहे। तैयारियां तो बहुत समय से चल रही थीं, परंतु उनका परिणाम पहले पहल १८५७ के महाविद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। यह विद्रोह बहुत बड़े पैमाने पर संगठित किया गया था। परन्तु कुछ सिपाहियों की जल्दबाज़ी के कारण यह समय से पहले शुरू हो गया और बाद में भारतीय सिपाहियों में अनुशासन और संगठन की कमी के कारण यह दबा भी दिया गया। इस विद्रोह को दबाने में पंजाब की कुछ रियासतों ने अंग्रेज़ों की बहुत सहायता की।

विद्रोह को कुचलने के बाद अंग्रेज़ों ने भारत पर बड़ी कठोरता से शासन करना शुरू किया। किन्तु साथ ही उन्होंने इस बात का भी ध्यान रखा कि अब ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न न होने पाएं, जिनसे वैसा ही कोई दूसरा विद्रोह फिर भड़क सके। इसी उद्देश्य से इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया ने भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से छीनकर अपने हाथ में ले लिया। इंग्लैंड में उस समय भी प्रजातन्त्र शासन था, इसीलिए भारत में कुछ न कुछ कानूनी शासन ही चलता रहा।

सन् १८८५ में अखिल भारतीय कांग्रेस नामक संस्था की स्थपना हुई। इसका संस्थापक मिस्टर ह्यूम एक अंग्रेज़ था; और शुरू में कांग्रेस का उद्देश्य यह था कि वह सरकारी कर्मचारियों के लिए कुछ अधिक सुविधाओं की मांग करे। बाद में कांग्रेस में अनेक नये नेता आते गए और समय बीतने के साथ साथ कांग्रेस के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता गया। पहले कांग्रेस ने राजनीतिक सुधारों की मांग की और १९२९ में लाहौर में हुए अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना अपना लक्ष्य घोषित किया।

शुरू में कांग्रेस उन राजनीतिज्ञों का अखाड़ा थी, जो आराम कुर्सी पर बैठकर वाद-विवाद करते थे और सभाओं में लम्बे-लम्बे भाषण देते थे और प्रस्ताव पास करते थे। अंग्रेज़ सरकार इन राजनीतिज्ञों से ज़रा भी भयभीत नहीं थी। परन्तु कुछ समय बाद कांग्रेस में लोकमान्य तिलक जैसे लोगों का प्रभाव बढ़ गया, जो हिंसात्मक उपायों तक से देश को स्वाधीन कराना चाहते थे। ऐसे नेताओं को सर-

कार ने लम्बी-लम्बी सजाएं दीं और उन्हें देश से निर्वासित कर दिया।

एक ओर कांग्रेस वैधानिक उपायों से स्वाधीनता प्राप्त करने की कोशिश कर रही थी, दूसरी ओर कुछ गिने-चुने साहसी युवक सशस्त्र क्रांति द्वारा देश को स्वाधीन कराने के सपने देख रहे थे। ये लोग सरकारी अफसरों को गोली से मार डालते और सरकारी खज़ाने लूट लेते थे। इससे आज़ादी की ओर चाहे बहुत प्रगति न होती हो, परन्तु देश में संघर्ष का वातावरण बन जाता था। जिन क्रांतिकारी नेताओं को सरकार ने देश से निर्वासित कर दिया था, वे विदेशों में रहते हुए भी शस्त्र-बल द्वारा देश को स्वाधीन कराने के लिए प्रयत्नशील थे। एक बार 'कामागातामारू' नामक जापानी जहाज़ द्वारा बहुत-से शस्त्रास्त्र भारत भेजे गए थे, जिनका स्वाधीनता की इस लड़ाई के लिए प्रयोग हो सके। किन्तु वे पहले ही पकड़ लिए गए और प्रयत्न असफल रहा।

१९१२ में भारत की राजनीति में महात्मा गांधी ने प्रवेश किया। उन्होंने कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ली। सत्याग्रह, असहयोग और स्वदेशी आंदोलन द्वारा उन्होंने स्वाधीनता की लड़ाई को आगे बढ़ाया। इन आंदोलनों से एक ओर तो इंग्लैंड पर करारी आर्थिक चोट पड़ी और दूसरी ओर देश में शहर-शहर और गांव-गांव में आज़ादी की पुकार गूंज उठी। पिस्तौल लेकर लड़ मरना हर एक आदमी के बस का नहीं था, परन्तु स्वाधीनता के लिए लाठियां खाना और जेल जाना ऐसा काम था, जिसे करने के लिए मनुष्य अधिक आसानी से तैयार हो जाता था। गांधीजी ने तीन बार सत्याग्रह आन्दोलन किए। उनका १९४२ में किया गया 'भारत छोड़ो' आन्दोलन बहुत बड़ा था। देश की जनता ने इन सब आंदोलनों में त्याग, बलिदान और वीरता का अनुपम परिचय दिया। किन्तु सात समुद्रों पर राज्य करने वाले अंग्रेजों की ताकत इनसे हिली नहीं। १९४२ के आंदोलन को भी अंग्रेज़ों ने बड़ी निर्ममता से कुचल दिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के प्रधान चुने गए। उन दिनों सारे देश पर महात्मा गांधी का एकछत्र प्रभाव था। परन्तु सुभाष बाबू की विचारधारा देश में इतनी लोकप्रिय हुई कि गांधीजी के न चाहते हुए भी उन्हें दो बार कांग्रेस का प्रधान चुना गया। परन्तु कांग्रेस के कुछ कर्णधारों ने सुभाष बाबू

से सहयोग करने से इन्कार कर दिया। घर की फूट को बचाने के लिए सुभाष बाबू ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और मौका पाकर देश से भाग निकले। पहले जर्मनी और बाद में जापान जाकर उन्होंने आज़ाद हिंद फौज का संगठन किया। इस फौज ने जापानियों के साथ मिलकर भारत को स्वाधीन कराने के लिए सशस्त्र लड़ाई लड़ी। अल्प साधनों और प्रतिकूल परिस्थितियों में आज़ाद हिन्द फौज के वीर सैनिकों ने जिस वीरता और धैर्य का परिचय दिया, वह सेनाओं के इतिहास में अनुपम है और भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। परंतु जापानियों के हारने के साथ-साथ आजाद हिन्द फौज भी हार गई।

परन्तु आज़ाद हिन्द फौज का देश पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। सेनाओं में भी अंग्रेज़ों के साथ असहयोग की भावना फैल गई। सेना, नौसेना, वायुसेना और पुलिस में भी हड़तालें होने लगीं। तब अंग्रेज़ों ने यह अनुभव कर लिया कि अब भारत पर शासन करने के उनके दिन लद गए, क्योंकि वे तो पुलिस और सेना के बल पर ही इस देश पर शासन कर रहे थे।

उस ओर द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर संसार का शक्ति-संतुलन बिलकुल बदल गया। युद्ध से पहले जो ब्रिटेन संसार की सबसे बड़ी शक्ति समझा जाता था, वह अब घटकर तीसरे नम्बर पर रह गया। रूस और अमेरिका का इसमें कोई स्वार्थ नहीं था कि भारत पराधीन रहे। उधर अंग्रेजों ने यह देखा कि अब भारत पर शासन करना लाभ का नहीं, अपितु घाटे का सौदा है, इसलिए उन्होंने भलेमानसों की तरह देश को छोड़कर चले जाना भला समझा। उन्होंने भारत का शासन भारतीयों को सौंप दिया और बड़ी शान्ति और सम्मान के साथ भारत से लौट गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत और इंग्लैंड में अब भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध है और व्यापार द्वारा इंग्लैंड को भारत से अब भी करोड़ों रुपये की आय प्रतिवर्ष होती है।

परन्तु अंग्रेज़ देश का शासन भले रूप में नहीं छोड़ गए। जाने से पहले उन्होंने देश को भारत और पाकिस्तान दो हिस्सों में बांट दिया और कुछ समस्याएं ऐसी खड़ी कर दीं, जिनके कारण भारत और पाकिस्तान अब तक भी शान्ति से नहीं बैठ पा रहे हैं। दोनों को रक्षा-व्यवस्था पर भारी धन-राशि

खर्च करनी पड़ रही है। परन्तु स्वाधीनता अपने आपमें इतनी आकर्षक वस्तु है कि उसके लिए यह बलिदान कोई बड़ा बलिदान नहीं है।

अन्य संभावित शीर्षक

१. भारत से अंग्रेजों का पलायन
२. भारत को स्वाधीनता-प्राप्ति

भारत का संविधान

'हम भारत के लोग भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुरक्षित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस विधान सभा में आज २६ जनवरी, १९४९ को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'

यह है भारतीय संविधान की प्रस्तावना, और इसमें संक्षेप में सारे संविधान के मूल तत्त्व आ जाते हैं। इसमें न केवल बिना किसी भेद-भाव के सब नागरिकों की समानता स्वीकार की गई है, अपितु सबको सामाजिक, आर्थिक तथा अभि-व्यक्ति की स्वतंत्रता भी प्रदान की गई है।

भारत का यह संविधान भारत की संविधान-सभा ने तीन वर्ष के परिश्रम से तैयार किया था। यह संविधान २६ जनवरी, १९५० से सारे देश में लागू कर दिया गया और तभी से २६ जनवरी को 'गणतंत्र दिवस' घोषित किया गया। इस संवि-धान को बनाने का श्रेय डा० भीमराव अम्बेडकर, गोपालस्वामी आयंगर, अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी इत्यादि को है।

भारत का संविधान संसार के लिखित संविधानों में सबसे बड़ा है। यह संविधान कोई एकाएक तैयार नहीं हो गया। भारत की स्वाधीनता की लड़ाई के समय ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को बढ़ती हुई आज़ादी की इच्छा को पूरा करने के लिए १९३३ में एक विधान तैयार किया था, जिसका नाम 'भारत सरकार अधिनियम १९३५' था। इस विधान में भारत के लिए एक संघीय शासन की व्यवस्था की गई थी। यह विधान भारत में लागू भी कर दिया गया था और इसके अनुसार १९३७ में देश के विभिन्न प्रांतों में चुनाव भी हुए थे। किंतु १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण इस विधान को स्थगित कर दिया गया। युद्ध १९४५ में समाप्त हो गया और १५ अगस्त, १९४७ को अंगेज़ों ने भारत को स्वतन्त्र कर दिया। उसके बाद उसी १९३५ के भारत-सरकार-अधिनियम में कुछ हेर-फेर करके वर्तमान संविधान तैयार किया गया है।

बीच-बीच में इस संविधान में कुछ संशोधन और परिवर्तन भी हुए हैं। वर्तमान दशा में संविधान के अनुसार भारत दो प्रकार के राज्यों में बंटा हुआ है। एक तो वे राज्य हैं, जिन्हें 'क' श्रेणी का राज्य कहा जाता है। इनमें शासन का अध्यक्ष राज्यपाल होता है। राज्यों का पुनर्गठन होने बाद इन राज्यों की संख्या सोलह हो गई है। पुरानी सब रियासतें समाप्त करके उनको इन राज्यों में ही मिला दिया गया है। दूसरे प्रकार के राज्य 'ग' श्रेणी के राज्य हैं, जिनका शासन चीफ कमिश्नरों या लैफ्टिनेंट गवर्नरों के हाथ में है। ये राज्य केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित प्रदेश समझे जाते हैं। 'क' श्रेणी के राज्यों में तो विधान-सभाएं हैं ही, 'ग' श्रेणी के भी कुछ राज्यों में विधान-सभाएं हैं।

शासन की दृष्टि से कुछ विषय केन्द्र को सौंप दिए गए हैं और कुछ राज्यों को। जिन विषयों का सम्बंध सारे देश से है, वे केन्द्र के हाथ में रखे गए हैं। ये विषय सातवीं अनुसूची की प्रथम सूची में गिनाए गए हैं, जिसे संघीय सूची भी कहा जाता है। जिन विषयों में राज्यों को कानून बनाने के पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं, वे विषय सातवीं अनुसूची की दूसरी सूची में गिनाए गए हैं, जिसे राज्य-सूची कहा जाता है। कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनमें राज्यों की विधान-सभाएं और केन्द्रीय संसद दोनों ही कानून बना सकते हैं। इसे सम्मिलित सूची कहा जाता है और यह

सातवीं अनुसूची की तीसरी सूची है। जहां केन्द्र द्वारा बनाए गए कानूनों का राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों से विरोध हो, वहां केन्द्र द्वारा बनाए गए कानून प्रामाणिक समझे जाएंगे। मोटे तौर पर सेना, मुद्रा, डाक, तार, विदेश-नीति, रेडियो आदि विषय केन्द्र के हाथ में हैं। दूसरी ओर शिक्षा, पुलिस, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई आदि विषय राज्यों के पास हैं।

भारत प्रजातंत्रीय गणतंत्र घोषित किया गया है। यह संघात्मक राज्य है। प्रजातंत्र की भी हमारे यहां संसदीय प्रणाली अपनाई गई है, जो इंग्लैंड में प्रचलित है। अमेरिका वाली राष्ट्रपति-प्रधान प्रणाली को नहीं अपनाया गया। संसदीय प्रणाली में, जिस राजनीतिक दल का संसद में बहुमत होता है, उसका नेता प्रधान-मंत्री चुना जाता है और वह अपना मंत्रिमंडल बनाता है। मंत्रिमंडल संयुक्त रूप में संसद के सम्मुख उत्तरदायी होता है। इसी प्रकार राज्यों की विधान-सभाओं में भी मुख्य मंत्री चुने जाते हैं, जो अपना मंत्रिमंडल बनाते हैं और वे मंत्रिमंडल भी विधान-सभाओं के सम्मुख उत्तरदायी होते हैं। राज्यों की विधान-सभाओं और केन्द्र की संसद के सदस्यों का चुनाव जनता ही करती है।

केन्द्र में विधान बनाने वाली सर्वोच्च संस्था संसद है। संसद के दो भाग हैं—एक लोकसभा और दूसरा राज्यसभा। लोकसभा निचला सदन है और राज्यसभा ऊपरला सदन। वास्तविक शक्ति लोकसभा के हाथ में है। लोकसभा के सदस्य पांच सौ और राज्यसभा के सदस्य अढ़ाई सौ होते हैं। वैधानिक दृष्टि से भारत का सर्वोच्च पदाधिकारी राष्ट्रपति है। न केवल सारे देश का प्रशासन उसके हाथ में है, अपितु सशस्त्र सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति भी वही है।

भारतीय संविधान में प्रत्येक वयस्क नर-नारी को वोट का अधिकार दिया गया है। कहा जाता है कि जितने बड़े पैमाने पर भारत में प्रजातंत्रीय चुनाव होते हैं, उतने संसार के अन्य किसी भी देश में नहीं होते।

वोट के अधिकार के अतिरिक्त सब नागरिकों को समानता का अधिकार दिया गया है। जाति या धर्म के आधार पर या रंग-लिंग के आधार पर किसी भी स्त्री या पुरुष के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाएगा। पहले भारत में सामाजिक विषमता फैली हुई थी। छुआछूत के कारण बहुत-से लोगों की दशा

पहले बड़ी दयनीय थी। किन्तु अब संविधान द्वारा अस्पृश्यता को दंडनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। इसी प्रकार स्त्रियों की दशा भी बहुत कुछ शोषित वर्ग की-सी थी। अब उनको भी पुरुषों के समान ही उन्नति के अवसर दिए गए हैं।

इस संविधान में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने की ओर विशेष ध्यान रखा गया है, जिनमें मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सके। व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्रता में ही हो सकता है, इसलिए सब लोगों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी गई है। यह स्वतन्त्रता उस सीमा तक है, जहां तक कि वह दूसरे नागरिकों की भावनाओं को चोट न पहुंचाए या विभिन्न वर्गों में द्वेष फैलाकर अशान्ति का कारण न बने।

इस संविधान में पहले से चली आ रही पूंजीवादी व्यवस्था को ही स्वीकार कर लिया गया है। सब व्यक्तियों को कानून-सम्मत उपायों से सम्पत्ति अर्जित करने और उसे रखने का अधिकार दिया गया है और राज्य यदि कभी व्यक्ति की सम्पत्ति छीनेगा, तो उसका समुचित मुआवज़ा देगा।

न्याय की दृष्टि से सब लोगों को समान घोषित किया गया है। न्याय-विभाग को प्रशासन से पृथक् रखा गया है और न्याय की व्यवस्था के लिए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। सर्वोच्च न्यायालय महत्त्वपूर्ण मुकद्दमों की अंतिम अपीलें सुनता है और कानून के उलझे हुए प्रश्नों पर अपना निर्णय देता है।

इस संविधान में आवश्यकतानुसार संशोधन या परिवर्तन किए जा सकते हैं, किन्तु इसके लिए संसद के दोनों सदनों के उपस्थित सदस्यों में से दो तिहाई के मत प्राप्त होने चाहिएं। इससे कम मत प्राप्त होने पर संशोधन स्वीकृत नहीं हो सकता।

आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति किसी राज्य में संकटकालीन स्थिति की घोषणा करके वहां का शासन-भार अपने हाथ में ले सकता है और उतनी देर के लिए वहां की प्रजातंत्रीय प्रणाली स्थगित समझी जाएगी। राष्ट्रपति का शासन छह महीने तक जारी रह सकता है।

राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होता है। केन्द्रीय संसद तथा राज्यों के विधान-मंडलों के सदस्य मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करते

हैं और राष्ट्रपति पांच वर्ष के लिए चुना जाता है।

भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। भारत में अनेक धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयायी रहते हैं, किन्तु राज्य को धर्म से कोई सरोकार नहीं है। फ्रांसीसी क्रांति के प्रसिद्ध नारे स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व को भारतीय संविधान में भी प्रमुखता दी गई है। परिगणित जातियों के लिए दस वर्ष तक कुछ रियायतें दी गई हैं, जिससे वे अपनी शताब्दियों से गिरी हुई अवस्था को कुछ सुधार सकें और समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष हो जाएं। दस वर्ष बाद ये रियायतें समाप्त हो जाएंगी।

प्रजातन्त्रीय देशों में भारत के संविधान की बहुत प्रशंसा की गई है। जिन आदर्शों को लेकर यह संविधान खड़ा हुआ है, उनके विरोध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जितनी अल्प अवधि में यह संविधान तैयार करके लागू कर दिया गया, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है।

परन्तु बहुत-से लोग संविधान के आलोचक भी हैं। उनका कथन है कि यह संविधान पहले तो विधान-निर्माताओं की कोई नई सूझ नहीं है, १९३३ के विधान को ही काट-छांटकर नया संविधान बना दिया गया है; फिर अनेक देशों के संविधानों में से कुछ-कुछ बातें लेकर इसे अच्छा-खासा भानमती का पिटारा बना दिया गया है। भारतीय संविधान की सबसे बड़ी विशेषता इसका वयस्क मताधिकार कही जाती है। इतने बड़े पैमाने पर वोट का अधिकार शायद संसार के किसी देश में नहीं है। परन्तु यह विचारणीय है कि भारत जैसे अशिक्षित देश में ऐसा मताधिकार लाभदायक है या हानिकारक। आमतौर से अशिक्षित लोग अपने वोट का दुरुपयोग ही करते हैं। समाजवादी लोग इस संविधान की इस आधार पर भी आलोचना करते हैं कि यह पूंजीवाद को बढ़ावा देता है। राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति की घोषणा करके किसी भी राज्य का शासन-सूत्र अपने हाथ में लेने का जो अधिकार दिया गया है, उसे भी बहुत-से विचारक प्रजातन्त्र की भावना के प्रतिकूल बताते हैं और इसे अधिनायकतावाद की प्रवृत्ति का द्योतक कहते हैं।

किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो प्रजातंत्रात्मक प्रणाली के समर्थन की दृष्टि से भारत का संविधान एक प्रशंसनीय संविधान है। भले ही इसमें कोई क्रांति-

कारी कदम नहीं उठाया गया, किन्तु स्वाधीनता के प्रथम चरण में यदि शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखकर उन्नति की ओर धीमी चाल से भी बढ़ा जा सके, तो वह भी कम सफलता नहीं है। इससे भी बड़े संतोष की बात यह है कि संविधान में संशोधन और परिवर्तन की पूरी गुंजाइश रखी गई है और जब जनता अनुभव करेगी, तब इसमें यथोचित संशोधन कर सकेगी।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. भारतीय संविधान की विशेषताएं

काश्मीर की समस्या

सन् १९४७ में अंग्रेज़ों ने भारत को स्वाधीनता दे दी, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने देश के दो टुकड़े कर दिए तथा भारत और पाकिस्तान में पारस्परिक वैमनस्य के ऐसे बीज बो दिए, जिनके कारण दोनों देश आज भी शान्ति से नहीं बैठ पा रहे हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच जिन विवादों को लेकर तनाव है, उनमें काश्मीर की समस्या सबसे प्रमुख है।

जब भारत को स्वाधीन किया गया, तो अंग्रेज़ों द्वारा शासित प्रान्तों का बंटवारा तो भारत और पाकिस्तान के बीच में हो ही गया था, साथ ही देशी राज्यों को यह छूट दी गई थी कि वे भारत या पाकिस्तान में से जिसके साथ चाहें, मिल जाएं। जो देशी राज्य भारत के या पाकिस्तान के बीच में पड़ते थे, उनके लिए तो यह छूट होना और न होना बराबर ही था, क्योंकि भारत के या पाकिस्तान के बीच में रहते हुए वे दूसरे देश के साथ गठबन्धन नहीं कर सकते थे। परन्तु काश्मीर ऐसा राज्य था, जिसकी सीमा भारत और पाकिस्तान दोनों से छूती थी और वह दोनों में से किसीके भी साथ मिलने की घोषणा कर सकता था।

समस्या इस कारण कुछ और भी अधिक उलझ गई थी कि काश्मीर का

राजा तो हिन्दू था, किन्तु वहां की प्रजा का बहुत बड़ा भाग मुसलमान था। भारतीय स्वाधीनता-अधिनियम के अनुसार कानूनी रूप से राजा को यह चुनने का अधिकार था कि वह भारत या पाकिस्तान में से किसके साथ मिले। किन्तु काश्मीर की सरकार ने दोनों देशों में से किसीके भी साथ न मिलकर दोनों से अलग रहने का निर्णय किया।

स्वाधीनता से पहले भारत की राजनीति में काश्मीर और हैदराबाद दो राज्य एक दृष्टि से बराबर समझे जाते थे। हैदराबाद में प्रजा हिन्दू थी और राजा मुसलमान। काश्मीर में इसके विपरीत राजा हिन्दू था और प्रजा मुसलमान। पाकिस्तान सब मुसलमानों का संरक्षक होने का दावा करता था। इसलिए जब उसने देखा कि हैदराबाद राज्य तो भारत के बीच में जा फंसा है और उसके सामने भारत में मिलने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है; तो उसने काश्मीर पर बलपूर्वक कब्ज़ा कर लेना चाहा। इसके लिए एक अस्थायी आज़ाद काश्मीर-सरकार बनाई गई और उसकी ओर से हज़ारों कबाइलियों को सशस्त्र करके काश्मीर पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया गया। इन कबाइलियों को पाकिस्तानी सेना के शस्त्रास्त्र दिए गए और इनका नेतृत्व भी पाकिस्तान के सैनिक अफसरों ने किया। काश्मीर राज्य की सेना बहुत छोटी-सी थी। उसने बड़ी वीरतापूर्वक इन लुटेरों का मुकाबला किया, किन्तु संख्या में कम होने के कारण वह इन्हें रोक न सकी और कबाइली लोग तूफान की तरह बढ़ते हुए कुछ ही दिनों में काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के पास तक आ पहुंचे।

उस समय काश्मीर की सरकार को होश आया। उसे अपना अस्तित्व संकट में दिखाई पड़ा। वहां के राजा और काश्मीर के सबसे बड़े राजनीतिक दल नेशनल कान्फ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला ने कबाइलियों के रोकने के लिए भारत से सैनिक सहायता मांगी। भारत सरकार ने कहा कि भारतीय सेनाएं काश्मीर की रक्षा के लिए तभी भेजी जा सकती हैं, जबकि काश्मीर सांविधानिक रूप से भारत में सम्मिलित हो जाए। काश्मीर के राजा और शेख अब्दुल्ला दोनों ने काश्मीर का भारत के साथ सम्मिलन स्वीकार कर लिया और उसके बाद अविलम्ब विमानों द्वारा भारतीय सेना काश्मीर भेजी गई। काश्मीर में भारतीय सेना

ने जो कुछ किया, वह स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। कबाइली आक्रान्ता हवाई अड्डे के बिलकुल पास तक पहुंच चुके थे और यदि दो-एक घंटे का भी विलम्ब हो जाता, तो वे हवाई अड्डे पर अधिकार कर लेते और उस दशा में काश्मीर तक सैनिक सहायता भेज पाना लगभग असम्भव ही हो जाता। परन्तु मुट्ठी भर भारतीय सैनिकों ने आक्रमणकारियों को आगे बढ़ने से रोक दिया और ज्यों-ज्यों सेना की नई कुमुक पहुंचती गई, त्यों-त्यों भारतीय सेना का बल बढ़ता गया और उसने आक्रान्ताओं को बहुत दूर तक खदेड़ दिया।

यदि उस समय भारतीय सेना को कुछ और समय की छूट मिल जाती, तो सारे काश्मीर पर भारत का अधिकार हो जाता और यह समस्या कभी की हल हो गई होती। परन्तु तभी भारत सरकार ने काश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने चटपट दोनों देशों में युद्ध-विराम सन्धि करवा दी, जिसके फलस्वरूप काश्मीर का लगभग आधा भाग पाकिस्तान के अधिकार में रह गया और आधे भाग पर भारत का अधिकार है।

जहां तक कानूनी स्थिति का प्रश्न है, काश्मीर की उस समय की वैध सरकार ने काश्मीर को भारत में मिलाना स्वीकार किया था, इसलिए काश्मीर भारत का अंग बन चुका है। केवल राजा ने ही नहीं, अपितु वहां की प्रजा के नेताओं ने भी भारतीय सेनाओं को काश्मीर भेजने की मांग की थी और काश्मीर को भारत के साथ मिलाना स्वीकार किया था। इस प्रकार राजा और प्रजा, दोनों की इच्छा से काश्मीर भारत का अंग बना है। पाकिस्तान के कबाइलियों या पाकिस्तानी सेनाओं का काश्मीर में प्रवेश केवल नग्न आक्रमण के सिवाय कुछ नहीं है।

काश्मीर पर कब्ज़ा करने के लिए पाकिस्तान की एकमात्र युक्ति यह है कि काश्मीर की प्रजा का बड़ा भाग मुसलमान है और मुसलमानों की संस्कृति पाकिस्तान की संस्कृति से मिलती है। इसलिए काश्मीर को पाकिस्तान के साथ मिला दिया जाना चाहिए। किन्तु भारत इस साम्प्रदायिक युक्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। भारत में भी इस समय चार करोड़ मुसलमान रह रहे हैं। इसलिए कोई कारण नहीं कि काश्मीर के मुसलमान भी भारत का अंग बनकर

क्यों न रह सकें। काश्मीर का व्यापार भी पाकिस्तान की अपेक्षा भारत के साथ पहले से ही कहीं अधिक होता रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में काश्मीर के प्रश्न को ले जाने से कोई लाभ नहीं हुआ। पाकिस्तान को आक्रान्ता घोषित किया जाना चाहिए था, किन्तु वैसा न करके अन्य कई नये-नये विवाद खड़े कर दिए गए और सारा प्रश्न अभी तक ज्यों का त्यों अनिर्णीत ही पड़ा हुआ है। इसका कारण यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में राजनीतिक गुटबन्दी है और गुटबन्दियों के फलस्वरूप किसी प्रश्न पर पूरी निष्प-क्षता के साथ निर्णय नहीं हो पाता।

युद्ध-विराम-सन्धि के समय भारत के राजनीतिक नेताओं ने यह घोषणा कर दी थी कि ज्योंही काश्मीर से आक्रमणकारी सेनाएं हटा ली जाएंगी और वहां शान्ति का वातावरण बन जाएगा, त्योंही भारत वहां जनमत-संग्रह करवा कर काश्मीरी जनता को यह निर्णय करने का अवसर देगा कि वह भारत या पाकिस्तान में से किसके साथ मिलना चाहती है। वस्तुतः इस प्रकार की घोषणा करना बिलकुल अनावश्यक था। जनमत संग्रह के लिए आवश्यक शर्तें अबतक भी पूरी नहीं हुई हैं, किन्तु पाकिस्तान तब से निरंतर जनमत-संग्रह का ही राग अलापता रहता है।

इस बीच में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने काश्मीर के विवाद में मध्यस्थता करने के लिए कई मध्यस्थ भेजे। किन्तु अब तक किसीको भी सफलता नहीं मिली। सबसे पहले एडमिरल चैस्टर निमिट्ज मतसंग्रह-अधिकारी बनाए गए थे, किन्तु मत-संग्रह के लिए उपयुक्त वातावरण ही तैयार नहीं किया जा सका। १९५० में सर ओवन डिक्सन को और उनके बाद डाक्टर ग्राहम को मध्यस्थ बनाकर काश्मीर भेजा गया, किन्तु दोनों ही सफल न हो सके। उनके बाद १९५७ में स्वीडन के श्री जारिंग भी इस मामले का फैसला कराने आए, किन्तु भारत और पाकिस्तान दोनों से विचार-विमर्श करने के बाद वे भी असफल ही लौट गए।

इस बीच में काश्मीर की प्रगति रुकी नहीं। १९५१ में काश्मीर में संविधान-सभा के चुनाव हुए और इस संविधान सभा ने अपना एक संविधान बनाकर काश्मीर में लागू कर दिया। इस संविधान ने भी काश्मीर को भारत के साथ मिलाने का समर्थन किया। उस समय काश्मीर में सबसे अधिक लोकप्रिय नेता

शेख अब्दुल्ला था। शेख अब्दुल्ला ने कुछ विदेशी शक्तियों की सहायता से ऐसा षड्यन्त्र रचना शुरू किया, जिससे संविधान-सभा के निर्णय को रद्द करके काश्मीर को फिर एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया जाए। उन्हीं दिनों प्रसिद्ध जनसंघी नेता डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी काश्मीर गए। शेख अब्दुल्ला की सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और गिरफ्तारी की दशा में ही डा० मुखर्जी का देहान्त हो गया। इससे भी शेख अब्दुल्ला के खिलाफ देश भर में रोष छा गया।

अन्त में शेख अब्दुल्ला के षड्यन्त्र का भंडा फूट गया। शेख को गिरफ्तार कर लिया गया और बख्शी गुलाम मुहम्मद काश्मीर के नये प्रधानमंत्री बने। बख्शी गुलाम मुहम्मद काश्मीर और भारत की एकता के पक्के समर्थक हैं। उनका कथन है कि काश्मीर की संविधान-सभा काश्मीरी जनता के सच्चे प्रतिनिधियों की सभा है और उसका निर्णय जनमत-संग्रह के समान ही प्रामाणिक है और अब अलग से जनमत-संग्रह कराने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समय बीतने के साथ-साथ काश्मीर के मामले में और भी नई-नई उलझनें खड़ी होती जा रही हैं। पिछले वर्षों में पाकिस्तान 'बगदाद-पैक्ट' का सदस्य बन गया। इसके अतिरिक्त अमेरिका के साथ एक और सैनिक संधि करके उसने बहुत-सी सैनिक सहायता प्राप्त की, जिसके कारण एशिया का शक्ति-सन्तुलन एकदम बदल गया। भारत का कथन है कि जिन परिस्थितियों में उसने जनमत-संग्रह कराने की बात स्वीकार कर ली थी, वे अब जड़मूल से ही बदल चुकी हैं और पाकिस्तान ने काश्मीर से अपनी सेनाएं भी हटाई नहीं, इसलिए जनमत-संग्रह का प्रश्न अब उठता ही नहीं है।

काश्मीर-समस्या का शान्तिपूर्ण हल खोजने के लिए भारत और पाकिस्तान के प्रधानमन्त्रियों में भी कई बार भेंटें हुईं, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। पिछले वर्षों में पाकिस्तान में सरकारें बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहीं और प्रत्येक सरकार अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए जनता का ध्यान काश्मीर-समस्या की ओर लगाए रखती थी। १९५८ में पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही कायम हो गई और वहां स्थायी और मजबूत सरकार बन गई। शुरू में जनरल अयूब ने भी काश्मीर की समस्या को हल करने के लिए युद्ध तक करने की धमकी दी थी।

किन्तु युद्ध से काश्मीर की समस्या हल हो जाएगी, यह सोचना निरी मूर्खता है। युद्ध दोनों ही देशों के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा और पश्चिमी देश अपने स्वार्थ के लिए भारत और पाकिस्तान को लड़ाए रखना ही चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो काश्मीर के लिए दोनों देशों में युद्ध छिड़कर रहेगा या फिर काश्मीर के जितने भाग पर जिसका अधिकार है, उतने पर ही उसका अधिकार मान लिया जाएगा और वर्तमान स्थिति ही सांविधानिक रूप से ठीक स्थिति स्वीकार कर ली जाएगी। यह निर्णय भले ही न्यायोचित न हो, किन्तु भावी संघर्ष से बचने की दृष्टि से सरल और सुविधाजनक अवश्य रहेगा।

अब १९ सितम्बर, १९६० को नहरी पानी विवाद का समझौता हो जाने से यह आशा होने लगी है कि काश्मीर-समस्या का भी कोई शान्तिपूर्ण हल निकल सकेगा।

भारत की खाद्य-समस्या

१९२० से पहले और बाद के भारतवर्ष में कई दृष्टियों से बहुत स्पष्ट अंतर पड़ गया है। पहले भारतवर्ष की जनसंख्या कम थी, किन्तु १९२० के बाद यह तेज़ी से बढ़नी शुरू हुई। जनसंख्या बढ़ने के कारणों में सबसे बड़ा हाथ चेचक, हैज़ा, प्लेग इत्यादि बीमारियों के निरोधक टीकों का रहा है। पहले इन रोगों से प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में व्यक्ति मर जाते थे, जो निरोधक टीकों के प्रयोग से मरने बन्द हो गए। इससे जनसंख्या बढ़नी शुरू हुई और उसके साथ-साथ अन्न की दृष्टि से भारत की स्थिति चिन्तनीय हो चली। १९२० से पहले देश में इतना अन्न होता था कि अपनी आवश्यकता को पूरा करने के बाद भी उसका निर्यात किया जा सकता था। परन्तु १९२० के बाद भारत का अन्न भारत की आवश्यकता पूरी करने के लिए भी कम पड़ने लगा।

भारत कृषि-प्रधान देश है, इसलिए यहां अन्न की कमी होना विपत्ति का सूचक ही समझा जाना चाहिए। यदि कृषि-प्रधान देश अपने निवासियों का पेट भरने के लिए अन्न बाहर से मंगाए, तो उसका निर्वाह होना कठिन है। परन्तु लगभग पिछले तीस वर्षों से हमें प्रतिवर्ष अन्न का कुछ न कुछ आयात करना ही पड़ रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले भी भारत प्रतिवर्ष बर्मा से लाखों टन चावल मंगाता था। जब युद्ध-काल में बर्मा का चावल आना बन्द हो गया, तो देश में अन्न का संकट उपस्थित हो गया। अन्न के दाम बहुत ऊंचे चढ़ गए। उन ऊंचे दामों पर भी अन्न मिलना दूभर हो गया। उसके बाद से लेकर अब तक अन्न के दाम कुछ ऊंचे ही गए हों तो गए हों, नीचे नहीं आए। १९५१ में दो अरब पन्द्रह करोड़ रुपये का और १९५२ में दो अरब तैंतीस करोड़ रुपये का अनाज विदेशों से मंगाया गया। इसी भारी व्यय को दृष्टि में रखकर योजना-आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में सबसे अधिक बल कृषि पर दिया था। कृषि के सुधार के लिए नदी-घाटी-योजनाओं को सबसे पहले पूरा करने का प्रयत्न किया गया, जिससे नदियों पर बने बांधों से नहरें निकालकर अधिकाधिक भूमि की सिंचाई की जा सके। ऐसी आशा की गई थी कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना की समाप्ति पर देश अन्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाएगा। परन्तु ऐसा दीख पड़ता है कि अन्न का उत्पादन बढ़ने के बाद भी अभी तक हमारे देश में अन्न अपनी आवश्यकता की अपेक्षा कम ही उत्पन्न होता है और इस समय भी हमें विदेशों से अन्न का आयात करना पड़ रहा है।

हमारे देश में कुल ८१ करोड़ एकड़ भूमि है। १९५४-५५ में इसमें से ३१ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि पर खेती की गई। १९५०-५१ में केवल ५ करोड़ १५ लाख एकड़ भूमि ऐसी थी, जहां सिंचाई का प्रबन्ध था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बनाए गए बांधों से १ करोड़ ६० लाख एकड़ भूमि की और सिंचाई होने लगी है। शेष भूमि पर खेती केवल अनिश्चित वर्षा के सहारे ही होती है। जितनी भूमि पर खेती होती है, उसके ८० प्रतिशत भाग में खाद्यान्न ही बोए जाते हैं। इससे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि जिस भूमि पर सिंचाई नहीं हो रही, उसको सिंचाई योग्य बनाकर कृषि की उपज अवश्य बढ़ाई जा सकती है, किन्तु कुल कृषि में खाद्यान्नों का अनुपात बढ़ाना शायद सम्भव न होगा।

इस प्रकार जहां हमारी खाद्य-समस्या के दो बड़े-बड़े कारण बढ़ती हुई जनसंख्या और कृषि योग्य भूमि की अल्पता हैं, वहां खाद्य-समस्या को विकट बनाने वाले कुछ और कारण भी हैं। उनमें से सबसे बड़ा कारण यह है कि जितना अन्न पैदा होता है, उसका भी सही-सही उपयोग नहीं हो पाता। देश में अन्न को रखने के लिए अच्छे गोदामों की व्यवस्था नहीं है; इसलिए बहुत-सा अन्न सड़-गलकर नष्ट हो जाता है। उसे चूहे खा जाते हैं। उसके बाद भी जो अन्न शेष बचता है, उसका वितरण ठीक नहीं हो पाता। व्यापारी लोग अन्न को दबाकर, छिपाकर रख लेते हैं और इस प्रकार एक नकली तंगी पैदा करके मनमाना मुनाफा कमाते हैं। व्यापारियों की रोक-थाम करने के लिए सरकार कई कानून बनाती है; प्रतिबन्ध और नियन्त्रण लागू करती है, किन्तु जब तक बाज़ार में पर्याप्त अन्न उपलब्ध न हो, तब तक ये प्रतिबन्ध और नियन्त्रण स्थिति को और बिगाड़ने में ही सहायक होते हैं, सुधारने में नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि हमें देश की खाद्य-समस्या को हल करना हो, तो हमें अनेक दिशाओं से प्रयत्न करना होगा। सबसे पहला प्रयत्न तो जनसंख्या को कम करने का या कम से कम न बढ़ने देने का होना चाहिए। इसके लिए परिवार-आयोजन आन्दोलन के द्वारा काफी प्रयत्न किया भी जा रहा है। दूसरा प्रयत्न बेकार पड़ी भूमि को कृषि योग्य बनाकर उसपर खेती करके अन्न की उपज बढ़ाने के रूप में होना चाहिए। जिस भूमि पर इस समय अधूरे ढंग से खेती हो रही है, उसपर सिंचाई, खाद और अच्छे बीजों की व्यवस्था करके उपज को कई गुना बढ़ाया जा सकता है। इस दिशा में भी यत्न किया जाना चाहिए। तीसरा प्रयत्न देश में उत्पन्न हुए अन्न को ठीक ढंग से संभालने और उसका समुचित वितरण करने के लिए होना चाहिए, जिससे अन्न का सदुपयोग हो सके।

किन्तु इस सबसे बढ़कर बात यह है कि लोगों की खाने की आदतों में सुधार किया जाना चाहिए। हमारे देश में ऐसे बहुत लोग हैं, जो केवल अन्न पर ही निर्भर रहते हैं। अन्न की कमी एक बड़ी सीमा तक मांस, मछली और फलों द्वारा पूरी की जा सकती है। परन्तु बहुत-से लोग निरामिषभोजी होने के कारण मांस, मछली नहीं खाते तथा फल और सब्ज़ियों का व्यवहार आदत न होने के कारण

नहीं करते। यदि लोग अण्डे, मांस, मछली, फल और सब्जियों का अधिकाधिक मात्रा में व्यवहार करना शुरू करें, तो अन्न की आवश्यकता काफी कम हो जाएगी।

परन्तु इन सब उपायों में सबसे महत्त्वपूर्ण बात जनसंख्या की वृद्धि को रोकने की है। यदि वह न रोकी गई तो अन्य सब उपाय धरे ही रह जाएंगे। हमारे योजना-निर्माताओं का भी यही कथन है कि पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादन बढ़ने के बाद भी लोगों की स्थिति में सुधार इसलिए नहीं हुआ, क्योंकि उतने ही अनुपात में जनसंख्या भी बढ़ गई। वस्तुतः भारत की खाद्य-समस्या खाद्य की नहीं, अपितु खाने वालों की समस्या है।

भारतीय कृषि की समस्याएं

भारत की ८५ प्रतिशत जनता कृषि करके अपना जीवन-निर्वाह करती है, इसलिए यह कहना उचित होगा कि कृषि भारत का सबसे बड़ा उद्योग है। यों तो भारत लगभग सदा से ही कृषि-प्रधान देश रहा है, किन्तु अंग्रेजों का राज्य जमने से पहले यहां के उद्योग-धन्धे भी बहुत विकसित थे और उनसे देश को बहुत बड़ी आय होती थी। समय पाकर अंग्रेज़ों ने अपने स्वार्थ के लिए उन उद्योगों को योजनापूर्वक नष्ट कर दिया और देश की जनता को कृषि पर निर्भर रहने के लिए विवश कर दिया। देश की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग कृषि द्वारा प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि भारत के लिए कृषि और उसकी समस्याएं अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

कृषि हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था का मेरुदण्ड है। सभी खाद्य-वस्तुओं के लिए देश के निवासी कृषि पर निर्भर हैं। इसके अतिरिक्त देश के अनेक उद्योग भी कृषि के आधार पर ही चलते हैं। उन उद्योगों के लिए कच्चा माल देश में खेती द्वारा ही उत्पन्न होता है; जैसे वस्त्र-उद्योगों के लिए कपास, चीनी के लिए

गन्ना, तेल के लिए तिलहन और जूट-उद्योग के लिए कच्चा जूट। इस कारण कृषि का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है; क्योंकि कृषि की दशा बिगड़ने या सुधरने के साथ-साथ इन उद्योगों की दशा भी बिगड़ या सुधर जाएगी।

यद्यपि हमारे देश में कृषि बहुत पुराना धन्धा है, फिर भी हमारी कृषि बहुत पिछड़ी हुई है। हमारे देश में अठारह करोड़ एकड़ भूमि पर खेती होती है; फिर भी खाद्यान्नों की दृष्टि से हमारा देश आत्मनिर्भर नहीं है। हमें प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में अन्न विदेशों से मंगाना पड़ता है। संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत में होने वाली प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। जहां एक ओर मिस्र में प्रति एकड़ १७ मन, इटली में १८ मन, जापान में २५ मन और जर्मनी में ३० मन गेहूं उत्पन्न होता है, वहां भारत में प्रति एकड़ केवल ९ मन गेहूं उत्पन्न होता है।

हमारे देश में प्रति एकड़ इतनी कम उपज के कारण कई हैं। वैसे हमारे देश के किसान अन्य देशों की अपेक्षा कुछ अधिक ही परिश्रमी हैं और हमारी भूमि भी अन्य देशों की तुलना में कम उपजाऊ नहीं है, परन्तु हमारे यहां और कई ऐसी असुविधाएं हैं, जिनके कारण कृषि सुचारु रूप से नहीं हो पाती। वे कारण निम्नलिखित हैं :

कृषि की दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण तो यह है कि हमारे देश में ज़मीन बहुत छोटे-छोटे खेतों में बंटी हुई है। पहले तो, प्रत्येक किसान के पास जो भूमि है, वह इतनी थोड़ी है कि उससे उसका भली भांति निर्वाह नहीं हो सकता; और इससे भी बुरी बात यह है कि एक किसान की सारी भूमि एक जगह नहीं होती, अपितु वह अलग-अलग कई छोटे-छोटे खेतों में बंटी होती है। इनमें से एक खेत कहीं होता है और दूसरा खेत बहुत दूर कहीं और। इसलिए किसान अपनी खेती की सिंचाई के लिए भी कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता और न फसल के बचाव के लिए खेतों के चारों ओर बाड़ ही लगा सकता है। यदि उसकी सारी भूमि एक ही स्थान पर हो, तो वह सिंचाई और फसल की रक्षा का प्रबन्ध भली भांति कर सकता है। उत्तरप्रदेश और बिहार जैसे राज्यों में एक-एक और दो-दो बीघे के खेतों की कमी नहीं और हज़ारों खेत तो इतने छोटे हैं कि उनमें बैलों द्वारा हल चला पाना भी सम्भव नहीं है।

भारत में कृषि की दूसरी समस्या है सिंचाई। देश के अधिकांश भागों में खेती कोई बाकायदा उद्योग न होकर बहुत कुछ जुए जैसी होती है, जो वर्षा होने या न होने पर निर्भर रहती है। लोग भगवान् के भरोसे रहकर खेतों में बीज बो देते हैं और आकाश की ओर देखते रहते हैं। यदि समय पर ठीक वर्षा हो गई, तो उनकी फसल अच्छी हो जाती है और यदि वर्षा न हुई, तो बोए हुए बीज का भी नुकसान ही हो जाता है। सिंचाई के लिए नहरें और कुएं जितनी मात्रा में होने चाहिएं, नहीं हैं। पहली पंचवर्षीय योजना में इस कमी की ओर ध्यान दिया गया था और इसे पूरा करने का प्रयत्न भी किया जा रहा है।

हमारा देश बहुत-कुछ पुराणपन्थी देश है। यहां के लोग प्राचीन परम्पराओं से यत्नपूर्वक चिपटे रहते हैं। इसलिए आज के युग में भी जबकि रूस, अमेरिका, कनाडा आदि देशों में खेती के सब काम मशीनों द्वारा होते हैं, हमारे यहां सारी खेती पुराने ढंग के हलों, फावड़ों और खुरपों के द्वारा ही की जाती है। इसी प्रकार खेती की पद्धतियां भी हमारे यहां अभी तक पुरानी ही चली आ रही थीं; किन्तु अब धीरे-धीरे नई पद्धतियों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए कई राज्यों में धान की खेती के लिए जापानी पद्धति अपनाई गई है, जिसका परिणाम बहुत लाभकारी हुआ है।

कृषि के लिए अच्छे बीज होना बहुत आवश्यक है। यदि बीज अच्छा नहीं होगा, तो फसल अच्छी नहीं हो सकती। हमारे यहां गरीबी के कारण किसान लोग फसल के समय अच्छा अन्न बीज के लिए संभालकर नहीं रख पाते। जब बोने का समय आता है, तब वे गांव के बनिए के पास जाते हैं और वह जो कुछ घटिया किस्म का बीज दे देता है, उसीको बो देते हैं। इसी तरह हमारे किसानों के पास खेती के पशु भी अच्छे नहीं होते। जब तक भारत में कृषि का पूरी तरह यन्त्रीकरण नहीं होता, तब तक इन पशुओं पर ही खेती का सारा भार है। इसलिए इनकी नसल सुधारने की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

हमारे देश में किसान लोग अधिकांशतः अशिक्षित हैं; और जहां अशिक्षा होती है, वहां अन्धविश्वास खूब पनपते हैं। अशिक्षित होने के कारण किसान लोग कृषि के सम्बन्ध में पुस्तकों और समाचारपत्रों में प्रकाशित होने वाले नवीनतम ज्ञान का

लाभ नहीं उठा सकते और अन्धविश्वासों में फंसे होने के कारण वे अनेक प्रकार से हानि उठाते रहते हैं। जंगली पशुओं और टिड्डी आदि से सफल की रक्षा करने के साधन भी उनके पास नहीं के बराबर हैं।

कुछ वर्ष पूर्व तक ज़मींदारी-प्रथा भी कृषि के विकास के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा थी। किन्तु अब तो सभी राज्यों में कानून बनाकर ज़मींदारी-प्रथा का अन्त कर दिया गया है। यह ज़मींदारी-प्रथा अंग्रेज़ों ने अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखते हुए चलाई थी। ज़मींदारों को यह अधिकार था कि वे जब चाहें, किसी भी किसान को बेदखल करके उसकी ज़मीन किसी दूसरे आदमी को खेती के लिए दे दें। ज़मींदार ज़मीन से पैसा कमाते तो थे किन्तु उस ज़मीन के सुधार के लिए वे कोई प्रयत्न नहीं करते थे। किसान भी ज़मीन को सुधारने के लिए कोई कोशिश नहीं करता था, क्योंकि उसे यह भरोसा ही नहीं होता था कि ज़मीन अगले साल उसके पास रहेगी भी या नहीं। इसलिए ज़मीन की दशा उस गाय की तरह बिगड़ती चली गई, जिससे दूध तो रोज़ दुहा जाता हो और जिसे खाने को कुछ न दिया जाता हो। परन्तु अब ज़मींदारी-प्रथा के समाप्त हो जाने से यह स्थिति लगभग खत्म हो गई है। क्योंकि ज़मीन पर उस किसान का ही अधिकार स्वीकार कर लिया गया है, जो उसपर खेती करता है।

सभी उन्नत देशों में कृषि की उपज बढ़ाने के लिए खादों का प्रयोग किया जाता है। पशुओं के गोबर इत्यादि को सड़ाकर बनाए गए खाद के अतिरिक्त रासायनिक खाद भी उपज बढ़ाने में बहुत सहायक होते हैं। हमारे भारत में रासायनिक खादों का प्रयोग तो अभी बहुत दूर की बात है, गोबर के खाद का भी समुचित उपयोग यहां नहीं हो पाता। देश के अनेक हिस्सों में किसान गोबर को ईंधन के रूप में जला डालते हैं और जहां गोबर के खाद का उपयोग किया भी जाता है, वहां बहुत बेढंगेपन से। वैशाख और ज्येष्ठ की कड़ी गर्मी के दिनों में खाद की ढेरियां सूखी ज़मीन पर लगा दी जाती हैं, जिससे पौधों को जीवन देने वाली नाइट्रोजन गैस उसमें से बिलकुल निकल जाती है। किसानों को खाद का सही ढंग से प्रयोग करने की विधि सिखाई जानी चाहिए।

वर्षा द्वारा भूमि के कटाव की समस्या भी एक बड़ी समस्या है, जिसकी ओर

ध्यान दिया जाना चाहिए। पहले देश के काफी बड़े भाग में घने जंगल होने के कारण बाढ़ें कम आती थीं और भूमि का कटाव कम होता था। परन्तु अब वन कट जाने से भूमि का कटाव बहुत बढ़ गया है। और इस कारण बहुत-सी भूमि खेती के लिए अनुपयोगी होती जाती है।

देश की कृषि को सुधारने के लिए इन सभी समस्याओं की ओर यथोचित ध्यान दिया जाना चाहिए। वैसे हमारी सरकार इस सम्बन्ध में प्रयत्न भी कर रही है, किन्तु उस प्रयत्न की गति बहुत मन्द है। भूमि के छोटे-छोटे खंडों में बंटे होने की समस्या का उपाय चकबन्दी है। देश के अनेक भागों में चकबन्दी-आन्दोलन प्रारंभ हो चुका है। परन्तु उसकी चाल चींटी से भी धीमी है। चकबन्दी-आन्दोलन को तेज़ी के साथ बढ़ाया जाना चाहिए। ऐसे नियम बनाए जाने चाहिएं, जिनसे चकबन्दी शीघ्रता और सरलता से हो सके। बल्कि और भी अच्छा तो यह है कि सहकारी कृषि का आन्दोलन प्रारम्भ किया जाए। एक गांव के सब किसानों की ज़मीन एक जगह मिला ली जाए, और उसपर आधुनिक यन्त्रों की सहायता से खेती की जाए। फसल को सब किसान आपस में बांट लें।

इसी प्रकार सिंचाई और यन्त्रों की समस्या का भी हल किया जाना चाहिए। नदी-घाटी योजनाओं द्वारा सिंचाई की समस्या बहुत कुछ हल हो जाएगी; क्योंकि इन सभी योजनाओं में बड़ी-बड़ी नहरें निकालने की व्यवस्था की गई है। जिन प्रदेशों में नहरें न पहुंच सकें, वहां ट्यूबवेल लगाकर सिंचाई का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। देश में कृषि के आधुनिक उपकरण बनाने के कारखाने खोले जाने चाहिएं।

सबसे अधिक ध्यान किसानों को न केवल साक्षर, अपितु शिक्षित बनाने पर दिया जाना चाहिए। यदि किसान पढ़े-लिखे होंगे, तो वे न केवल कृषि की समस्याओं को स्वयं अच्छी तरह समझ सकेंगे, अपितु उनके हल भी स्वयं निकाल सकेंगे। उस दशा में अच्छे बीजों और अच्छे खादों के प्रयोग का प्रचार अलग से करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

इस समय हमारे देश में खाद्यान्नों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इसका कुछ कारण हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या भी है। जब तक जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का कोई प्रभावी उपाय न निकल आए, तब तक नई-नई ज़मीन को कृषि

योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अभी भी देश में लगभग पांच करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है, जिसे कृषि योग्य बनाया जा सकता है। अनेक राज्यों में भूमि तोड़ने का काम ज़ोर-शोर से चालू भी है।

इसके अतिरिक्त कृषि के सम्बन्ध में नये-नये अनुसन्धान की ओर भी सरकार सचेत है। दिल्ली में कृषि-अनुसन्धान की एक बड़ी अनुसन्धान-संस्था है। इसके अतिरिक्त करनाल, कानपुर, बंगलौर, मुक्तेश्वर इत्यादि में भी कृषि कालेज तथा अनुसन्धानशालाएं खुली हुई हैं।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। देश में इस समय कृषि का उत्पादन बढ़ाए जाने की अत्यधिक आवश्यकता है। सरकार और जनता दोनों ही इसके लिए कटिबद्ध हैं। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि उत्पादन बढ़ाने के उपाय भी निकल ही आएंगे। सब ओर जैसा प्रयत्न चल रहा है, उसको देखते हुए यह भी भरोसा होता है कि कृषि की दशा में कुछ ही वर्षों में इतना काफी सुधार हो जाएगा कि देश अन्न की दृष्टि से पूरी तरह आत्मनिर्भर हो सकेगा।

अन्य संभावित शीर्षक

१. भारत में कृषि-सुधार

भूमि-सम्बन्धी सुधार

भारत का सबसे बड़ा उद्योग कृषि है। कृषि को उन्नत करने के लिए यहां की भूमि की स्थिति को सुधारना आवश्यक है। इसके लिए एक ओर तो यह ज़रूरी है कि अधिकाधिक भूमि को कृषि योग्य बनाया जाए, दूसरी ओर यह कि भूमि का स्वामित्व उचित रीति से नियन्त्रित किया जाए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की दशा को सुधारने के लिए एक विशेष कार्यक्रम बनाया गया था, जिसके अन्तर्गत (१) राज्य और वास्तविक किसान के मध्यवर्ती लोगों को हटा दिया

जाना था, (२) भू-स्वामी के अधिकारों का ध्यान रखते हुए किसानों को यह अधिकार दिया जाना था कि वे एक नियत मुआवज़ा देकर भूमिधर होने का अधिकार प्राप्त कर लें, (३) भूमि के स्वामित्व की अधिकतम सीमा नियत की जानी थी और (४) चकबन्दी भूमि के विखण्डीकरण पर प्रतिबन्ध तथा सहकारी कृषि इत्यादि के द्वारा कृषि का ऐसे रूप में पुनर्गठन किया जाना था, जिससे अन्त में जाकर सब गांवों का प्रबन्ध सहकारिता के आधार पर चल सके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि पर किसानों के वास्तविक अधिकार का कार्यक्रम लगभग पूरा हो चुका है। एक-दो राज्यों को छोड़कर सब राज्यों में कानून द्वारा ज़मींदारी समाप्त कर दी गई है। ज़मीदारों को उनकी ज़मीनों के लिए मुआवज़ा दिया गया है। छोटी ज़मीन वालों को अपेक्षाकृत अधिक दर पर और अधिक भूमि वालों को अपेक्षाकृत कम दर पर मुआवज़ा मिला है। इस प्रकार के मुआवज़े के रूप में राज्य-सरकारों द्वारा कुल ४५० करोड़ रुपये की राशि चुकाई गई है।

किसानों की स्थिति सुधारने के लिए एक और नियम यह बनाया गया कि भूमि का अधिकतम लगान उपज का एक-चौथाई या पांचवां भाग होना चाहिए। इस प्रकार अनेक राज्यों में लगान पहले की अपेक्षा कुछ घटा दिया गया है। इससे किसानों को काफी आराम मिलेगा।

भूमि पर अधिकार की सुरक्षा के लिए भी कदम उठाए गए हैं। यह यत्न किया गया है कि जो लोग भूमि पर खेती कर रहे हैं, उनको उस भूमि से हटाया न जा सके और वे कुछ किश्तों में भूमि का मूल्य चुका देने के बाद भूमि के स्वामी मान लिए जाएं। कुछ राज्यों में १० साल का लगान एकसाथ चुका देने से किसान को भूमिधर के अधिकार दे दिए गए हैं और किसानों ने बड़े उत्साह के साथ इस सुविधा का लाभ उठाया है।

इसके साथ ही देश की जनसंख्या और कृषि योग्य भूमि को दृष्टि में रखते हुए योजना-आयोग ने यह सिफारिश की थी कि इस बात की सीमा निश्चित कर दी जाए कि एक व्यक्ति अपने पास अधिक से अधिक कितनी भूमि रख सकता है। इस सम्बन्ध में पंजाब, पश्चिमी बंगाल, जम्मू और काश्मीर और आसाम में

कानून भी बना दिए गए हैं। अनेक राज्यों ने इस सम्बन्ध में नियम बना दिए हैं कि भविष्य में कोई व्यक्ति अमुक मात्रा से अधिक भूमि ले नहीं सकेगा। बम्बई में अधिकतम भूमि प्राप्त कर सकने की सीमा २२ से ४८ एकड़ तक है; उत्तरप्रदेश और दिल्ली में यह सीमा ३० एकड़ है; और मध्य भारत में ५० एकड़। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ऐसे उपाय भी किए जाएंगे, जिससे भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विखंडन न हो सके और साथ ही चकबंदी द्वारा छोटे-छोटे टुकड़ों को मिलाकर उनके बड़े-बड़े खेत बनाए जाएंगे, जिससे कृषि सुविधाजनक हो सके।

भूमि-सम्बन्धी सुधारों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए श्री बिनोवा भावे के भूदान-आन्दोलन का उल्लेख करना आवश्यक होगा। १९५१ में श्री बिनोवा भावे ने भूमिहीन मज़दूरों के लिए बड़े-बड़े ज़मींदारों से भूमि मांगना प्रारम्भ किया था। उस समय यह आन्दोलन छोटा-सा था, परन्तु अब यह सारे देश में फैल गया है। सितम्बर १९५६ तक ४१॥ लाख एकड़ भूमि दान के रूप में एकत्र की जा चुकी थी। यह भूमि ५६०००० लोगों ने दी थी। श्री बिनोवा ने अपने सामने यह लक्ष्य रखा है कि देश के एक करोड़ भूमिहीन परिवारों में से प्रत्येक को ५। एकड़ भूमि दिलवा दी जाए। जिस प्रकार यह आन्दोलन लोकप्रिय हुआ है, उससे आशा बंधती है कि बिना रक्तपात अथवा कानूनी बल-प्रयोग के ही भूमि का लोगों में समान और उचित वितरण हो सकेगा।

१९५९ के जनवरी मास में नागपुर में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में भूमि के सम्बंध में एक नया महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया गया, जिसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया कि देश में सामूहिक खेत बनाए जाने चाहिएं। रूस और चीन में कृषि की उपज बढ़ाने और कृषि में मशीनों का उपयोग करने के लिए छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़े-बड़े सामूहिक खेत बना दिए गए थे, जिनपर सब गांव वालों का सम्मिलित अधिकार होता था। इससे उस देश के किसानों को भी लाभ पहुंचा और कृषि की उपज भी बढ़ गई। वस्तुत: सामूहिक खेती समाजवाद का एक अंग है। हमारे देश में भी कांग्रेस ने समाजवादी समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया है। इसलिए सामूहिक खेती का सुझाव हर तरह से उचित ही है। बल्कि भारत के साम्यवादी दल ने तो इस कार्यक्रम को पूरा करने में सहयोग देने का भी वचन दिया है।

परन्तु समाजवाद का आगमन शायद इतनी सरलता से न हो सके। पुरानी पूंजीवादी व्यवस्था में पले हुए जिन लोगों के हितों को समाजवादी व्यवस्था से आंच पहुंचेगी, वे समाजवाद का विरोध करने में कुछ कसर उठा न रखेंगे। इसी-लिए कुछ थोड़े-से नेताओं ने अभी से धमकीभरे भाषण देने शुरू कर दिए हैं कि सामूहिक खेती को देश पर लादने से गृहयुद्ध और रक्तपात की सम्भावना है। परन्तु ये धमकियां किन्हीं प्रभावशाली नेताओं की ओर से नहीं आई हैं, इसलिए यही समझना चाहिए कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरोध के होते हुए भी समाजवाद की गाड़ी आगे ही बढ़ती जाएगी। सब भूमि-सुधारों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है और वह यह कि भूमि देश के लिए अधिक से अधिक उपज देती हो और उस उपज का वितरण देश के निवासियों में उचित और समान रूप से होता हो। यह लक्ष्य समाजवादी व्यवस्था में ही पूरा हो सकता है।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. भारत में भूमि-समस्या

सामुदायिक विकास-योजनाएं

भारत ग्राम-बहुल देश है। इसलिए देश की दशा सुधारने के लिए गांवों की उन्नति करना सबसे अधिक आवश्यक है। पहले-पहल महात्मा गांधी ने गांवों की दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया। स्वाधीनता-आन्दोलन में भी ग्रामवासियों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उससे देश के नेताओं का ध्यान गांवों की समस्याओं की ओर गया। १९४६ में सेवाग्राम, इटावा, गोरखपुर और मद्रास में स्थित फिरका गांव में गांवों की उन्नति के लिए परीक्षण के रूप में कुछ योजनाएं प्रारंभ की गईं। इन योजनाओं में आश्चर्यजनक सफलता मिली; इसलिए स्वाधीनता के बाद

जब प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई गई, तब सामुदायिक विकास के लिए ९० करोड़ रुपये की राशि नियत की गई।

सामुदायिक विकास योजनाओं का लक्ष्य यह है कि सारे गांव की सर्वांगीण और सर्वतोमुखी उन्नति साथ-साथ हो। बहुत समय तक दासता और दरिद्रता में रहते हुए हमारे कृषक-समाज की आर्थिक और मानसिक अवनति इतनी हो चुकी है कि उसका नये सिरे से गठन आवश्यक है। किसानों में आत्मविश्वास जगाया जाना चाहिए, जिससे वे अपनी दशा स्वयं सुधारने के लिए कटिबद्ध हो जाएं। पहले सरकार के कृषि, पशु-पालन, सहकारिता, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि विभाग एक दूसरे से पृथक् रहकर अपना-अपना काम अलग-अलग करते थे। परन्तु सामुदायिक विकास-कार्यक्रम के अन्तर्गत यह दोष दूर कर दिया गया है और इन सब दिशाओं में एक साथ उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न किया जा रहा है। ग्रामबासियों में ऐसी अभिलाषा जगाई जा रही है कि वे अपने श्रम और साधनों का उपयोग अपनी उन्नति के लिए करने लगें।

सामुदायिक विकास में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ग्राम की सर्वतोमुखी उन्नति पर बल दिया गया है, इसलिए सबसे अधिक ध्यान तो कृषि की उपज बढ़ाने पर दिया गया है, साथ ही स्थानीय उद्योग-धन्धों और छोटे पैमाने पर चल सकने वाले उद्योगों को बढ़ावा दिया जा रहा है। सड़कें बनाकर गांवों से शहरों तक संचार की सुविधाएं बढ़ाई जा रही हैं। गांवों में शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन के साधन जुटाए जा रहे हैं। रहने के मकानों का सुधार किया जा रहा है और पंचायत जैसी स्थानीय संस्थाओं को सशक्त बनाया जा रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि, उद्योग, संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, निवास और नागरिकता, सभी दिशाओं में गांवों की उन्नति इस कार्यक्रम का अंग है।

यह स्पष्ट है कि देश की विशालता को देखते हुए इतना बड़ा कार्य केवल सरकार के प्रयत्न से पूरा होने वाला नहीं है। सरकार के पास इसे पूरा करने के लिए आवश्यक धन भी नहीं है। इसलिए यह कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है, जबकि देश की जनता इसे पूरा करने के लिए धन और श्रम के रूप में पूरा सहयोग दे। इसके लिए यह तरीका अपनाया गया है कि सरकार तो प्रशासन

और संगठन का प्रबन्ध करती है और उसके व्यय का कुछ अंश भी वहन करती है, परन्तु मुख्यतया कार्य का सारा भार उस प्रदेश के लोगों को अपने ही कंधों पर उठाना होता है। इस सम्बन्ध में नियुक्त किए गए अफसरों का काम यह है कि वे लोगों को सही दिशा दिखाएं और उत्पादन बढ़ाने और वित्त-संचय करने के तरीके बतलाएं। परंतु उन तरीकों पर अमल करने के लिए अधिकांश धन और श्रम-व्यय ग्रामवासियों को ही करना होता है।

इस सम्बन्ध में सरकारी अफसर सभी स्तरों पर जनता के प्रतिनिधियों से संपर्क बनाए रखते हैं। योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने में पंचायतों का सहयोग लिया जाता है। ग्रामों के लिए बनाई गई योजनाओं पर ब्लाक-सलाहकार समितियां, ज़िला-सलाहकार समितियां और राज्य-सलाहकार समितियां विचार करती हैं। इन समितियों में सरकारी अफसरों के अतिरिक्त जनता के नेता भी लिए जाते हैं।

सामुदायिक विकास-कार्यक्रम २ अक्टूबर, १९५२ को प्रारंभ किया गया था। उस समय ५५ सामुदायिक परियोजनाएं प्रारंभ हुई थीं। एक-एक परियोजना के अन्तर्गत मोटे तौर पर ३००-३०० गांव थे, जिनका क्षेत्रफल मिलाकर लगभग ५०० मील और जनसंख्या लगभग दो लाख थी। प्रत्येक परियोजन-क्षेत्र तीन विकास-खंडों में बंटा हुआ था। प्रत्येक खंड के अन्दर पांच-पांच गांवों का एक समूह बना दिया गया था, जिसके लिए एक ग्राम-सेवक नियत किया गया था।

इस कार्यक्रम में लोगों ने इतने उत्साह से भाग लिया कि सरकार ने इस कार्यक्रम को शीघ्र ही और विस्तृत करने का निश्चय कर लिया। परन्तु पर्याप्त साधन न होने के कारण २ अक्टूबर, १९५३ से केवल राष्ट्रीय विस्तार सेवा प्रारंभ की जा सकी। राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-कार्यक्रम सामुदायिक विकास कार्यक्रम की अपेक्षा कम सर्वांगीण है। जिन क्षेत्रों में राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-कार्यक्रम प्रारंभ हो चुका है, उन्हें बाद में आसानी से सामुदायिक विकास-क्षेत्रों में बदला जा सकेगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना में लगभग सारे देश के एक-चौड़ाई भाग पर राष्ट्रीय विस्तार-योजना लागू कर दी जानी थी। यह उद्देश्य बहुत-कुछ पूरा हो चुका है। प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर देश में ५५७ सामुदायिक विकास-खंड और

६०३ राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड विद्यमान थे। इनमें कुल मिलाकर १५७००० गांव थे, जिनकी जनसंख्या ८ करोड़ ८८ लाख थी; अर्थात् देश के एक-तिहाई गांवों में ये योजनाएं चालू थीं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक भारत का प्रत्येक गांव इन योजनाओं के अन्तर्गत आ जाएगा। साथ ही लगभग ४० प्रतिशत भाग सामुदायिक विकास-परियोजना के अन्तर्गत आ चुकेगा। कुल मिलाकर ३८०० राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंड खोले जाएंगे जिनमें से ११२० सामुदायिक विकास-खंडों के रूप में बदले जा चुकेंगे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके लिए २०० करोड़ रुपये की राशि नियत की गई है।

इन कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए राज्य-सरकारें और केन्द्रीय सरकार दोनों ही कुछ-कुछ भाग देती हैं और प्रत्येक परियोजना-क्षेत्र के लोगों को धन और श्रम के रूप में कुछ न कुछ योग स्वेच्छा से देना पड़ता है। सामुदायिक विकास-खंडों के लिए राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंडों की अपेक्षा लगभग दुगुनी राशि व्यय की जाती है।

ग्रामोन्नति के इस कार्य में संयुक्त राज्य अमेरिका और फोर्ड फाउंडेशन से भी काफी सहायता मिल रही है। अमेरिकन सरकार से अब तक लगभग छह करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त हो चुकी है।

इन कार्यक्रमों में इतने थोड़े समय में जो सफलता प्राप्त हुई है वह आश्चर्य-जनक कही जा सकती है। स्वदेशी तथा अनेक विदेशी प्रेक्षकों के कथनानुसार आर्थिक और सामाजिक उन्नति के क्षेत्र में यह एक महान् परीक्षण सिद्ध हुआ है। इन क्षेत्रों में कृषि की उन्नति के लिए खाद और बीज के सुधार द्वारा जितना कार्य हुआ है, उससे इन क्षेत्रों की उपज २५ प्रतिशत बढ़ गई है। पशु-पालन के क्षेत्र में पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए २७९२ केन्द्र खोले जा चुके हैं और मुर्गी-पालन के क्षेत्र में २६१००० अच्छी किस्म की मुर्गियां किसानों को दी गई हैं।

सड़कों के निर्माण के क्षेत्र में लोगों का उत्साह सराहनीय रहा। १९५६ के अन्त तक ४१००० मील लम्बी कच्ची सड़कें और ६६४७ मील लम्बी कंकड़ की सड़कें तैयार की जा चुकी थीं। इसके अतिरिक्त पहले से विद्यमान ३१००० मील

लम्बी सड़कों को सुधारा भी गया।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। इन क्षेत्रों में ८६१ प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र और ७२८ मातृत्व और शिशु-कल्याण-केन्द्र खोले गए। इसी योजना के अन्तर्गत शुद्ध जल प्राप्त करने के लिए १२५००० कुएं या तो नये खोदे गए या पुरानों की मरम्मत की गई। ७४,००,००० गज़ लम्बी नालियां भी बनाई गईं।

गांवों में शिक्षा की स्थिति पहले अच्छी नहीं थी; परन्तु अब इस योजना के अन्तर्गत १७००० नये स्कूल खोले गए और ७५०३ साधारण विद्यालयों को बेसिक विद्यालयों में परिवर्तित किया गया। इसके अतिरिक्त समाज-शिक्षा के लिए ४७००० केन्द्र खोले गए, जिनमें १२६६००० वयस्क लोगों को लिखना और पढ़ना सिखाया गया। सामुदायिक मनोरंजन केन्द्रों और पुस्तकालयों की संख्या लगभग ११४००० हो गई। इस समय युवक-गोष्ठियों और किसान-यूनियन इत्यादि की संख्या लगभग ६०००० है।

इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए जनता में जैसा उत्साह जागना आवश्यक था, वैसा जाग उठा है और लोगों ने अनुभव किया है कि ये कार्यक्रम उनकी अपनी उन्नति के लिए हैं। इसलिए इन्हें पूरा करने में उन्होंने अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी है। जून १९५६ तक इन कार्यक्रमों के लिए लोगों ने भूमि, नकद धन और श्रम के रूप में जितना योग दिया, वह लगभग ३० करोड़ रुपये जितना था। इसकी तुलना में सरकार ने इन कार्यक्रमों पर ५१ करोड़ ५० लाख रुपये व्यय किए। अर्थात् सरकार ने जितना खर्च किया, उसका लगभग दो-तिहाई जनता ने भी श्रम और धन के रूप में दिया। सरकार के लिए यह बड़े सन्तोष और सुविधा की बात समझी जा सकती है।

सामुदायिक विकास-कार्यक्रम देश की भारी उन्नति की आधारशिला हैं और जैसा इस समय दीखता है, ये अवश्य पूरी तरह सफल होंगे।

ग्राम-सुधार

भारतवर्ष की कुल जनसंख्या का तीन-चौथाई भाग गांवों में निवास करता है। देश में लगभग ६ लाख गांव हैं, इसलिए बहुत बार यह कहा जाता है कि भारत गांवों में बसता है।

पहले कभी भारत के गांव बहुत सुखी और समृद्ध थे। कृषि के अतिरिक्त उनमें अनेक उद्योग-धन्धे भी थे, जिससे कृषि के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी लोगों को आय होती थी। परन्तु अंग्रेज़ों के शासन-काल में धीरे-धीरे गांवों की सारी समृद्धि समाप्त हो गई। अंग्रेज़ों ने यत्नपूर्वक इस देश के उद्योग-धन्धों को नष्ट किया और किसान अपनी आय के लिए केवल कृषि पर निर्भर हो गए।

गांवों की दुर्दशा बहुमुखी थी। एक ओर तो वहां गरीबी बहुत अधिक थी। दूसरी ओर शिक्षा का अभाव होने के कारण लोग अनेक अन्धविश्वासों और कुरीतियों में फंस गए थे। लोगों का चरित्र भी नष्ट हो गया था। शासन विदेशी होने के कारण धीरे-धीरे उनका साहस भी जाता रहा और स्थिति यह थी कि पुलिस का एक सिपाही ही सारे गांव को आतंकित करने के लिए काफी होता था।

जब देश के स्वाधीनता-संग्राम की बागडोर गांधीजी के हाथों में आई, तो उन्होंने अनुभव किया कि जब तक स्वाधीनता की चेतना गांव-गांव में न पहुंचेगी, तब तक स्वाधीनता मिलना कठिन है। इसलिए कांग्रेस ने गांवों की ओर ध्यान दिया। गांवों के सुधार के लिए प्रयत्न शुरू किया। जब सरकार ने देखा कि कांग्रेस गांवों के सुधार के लिए यत्न कर रही है और उसके कारण गांवों में उसका प्रभाव बढ़ रहा है, तो सरकार ने भी गांवों के सुधार के लिए कार्यक्रम बनाए। स्वाधीनता मिलने के बाद तो गांवों के सुधार के लिए सरकार ने बहुत अधिक प्रयत्न किया है।

गांवों में सुधार के लिए पहले हमें उन दशाओं को देखना होगा, जिनमें गांव के निवासी रहते हैं। पहली बात तो यह है कि गांव के लोग गरीब होते हैं। साल के छह महीने वे मुश्किल से काम कर पाते हैं और बाकी छह महीने उन्हें विवश होकर बेकारी में बिताने पड़ते हैं। इसलिए कोई उपाय ऐसा किया जाना चाहिए

जिससे वे अपने खाली समय का उपयोग किसी लाभदायक काम में कर सकें और अपनी आय को बढ़ा सकें। साथ ही उनकी आय बढ़ाने का यह भी तरीका हो सकता है कि कृषि की वर्तमान पद्धतियों में सुधार किया जाए। ज़मीन की सिंचाई की व्यवस्था हो, अच्छे बीजों और अच्छे खाद का प्रबन्ध हो। यदि गरीबी समाप्त हो जाए, तो गांव का बहुत-कुछ सुधार तो स्वयमेव हो जाएगा।

दूसरी समस्या शिक्षा की है। इस समय गांवों में उच्च शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। इसलिए गांवों के बच्चे शिक्षा पाने शहरों में आते हैं। शहरों में पानी, बिजली, सिनेमा इत्यादि सुविधाओं और मनोरंजनों के अभ्यस्त हो जाने के बाद वे फिर गांव में नहीं लौटना चाहते। परिणाम यह होता है कि गांव के खर्च पर शिक्षा पाने वाले लोग शहरों के निवासी बन जाते हैं और गांव ज्यों के त्यों अशिक्षित बने रहते हैं। यदि गांवों में ही उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सके, तो फिर ग्रामीण वातावरण में पढ़-लिखकर शिक्षित लोग गांवों में ही रहना पसन्द करेंगे। इससे अशिक्षा के कारण होने वाली हानियों से बचाव हो सकेगा।

गांवों में तीसरी समस्या स्वच्छता और चिकित्सा की है। गांवों में गन्दगी बहुत रहती है और बीमार हो जाने पर वहां चिकित्सा की सुविधा नहीं होती। इलाज के लिए बीमार को शहर की शरण लेनी पड़ती है। इसलिए गांवों में एक तो चिकित्सालय खोले जाने चाहिएं और दूसरे, ग्रामीण जनता को आरोग्य के नियमों का ज्ञान कराना चाहिए। उनमें स्वच्छ रहने की आदत डाली जानी चाहिए। सरकार आजकल इस सम्बन्ध में काफी प्रयत्न भी कर रही है, परन्तु छह लाख गांवों में इस प्रकार की सुविधाएं पहुंचाना बहुत बड़ा काम है, जो एकाएक पूरा नहीं हो सकता।

गांव के लोग दरिद्र हैं, अशिक्षित हैं; पर इसके बाद भी कुछ ऐसी कुरीतियां और ऐसे अंधविश्वास गांवों में प्रचलित हैं, कि जिनसे शादी, मृतक-भोज इत्यादि अवसरों पर लोग अपनी हैसियत से कहीं ज़्यादा खर्च कर देते हैं। उसके लिए वे ऋण लेते हैं और बहुत बार तो यह ऋण कई पीढ़ियों तक उतर नहीं पाता। इसलिए गांव के किसानों को मितव्ययिता सिखाने की बहुत आवश्यकता है और ये कुरीतियां और अंधविश्वास जितनी जल्दी समाप्त हो जाएं, उतना ही भला है।

परन्तु किसान को ऋण लेने की आवश्यकता इन कुरीतियों के हटने के बाद भी बनी रहेगी। बैल मर जाने, बीज खरीदने तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए किसान को ऋण की आवश्यकता पड़ती है। इस समय किसान को यह ऋण महाजनों से लेना पड़ता है, जो बहुत अधिक ब्याज वसूल करते हैं। उचित ब्याज पर ऋण देने के लिए गांवों में सहकारी समितियां बनाई जानी चाहिएं। सहकारी समितियां अनेक स्थानों पर बनाई भी जा चुकी हैं, परन्तु उन्हें सब जगह सफलता प्राप्त नहीं हुई; कारण कि सहकारिता के लाभ समझने में अभी हमारे किसान को कुछ समय लगेगा।

गांवों में मुकदमेबाज़ियां भी बहुत चलती थीं और इन मुकदमों में किसान का इतना पैसा व्यय हो जाता था कि वह कहने को ही स्वतन्त्र व्यक्ति था। वस्तुतः उसकी दशा ऋण के बोझ के कारण गुलामों से भी अधिक बुरी होती थी। इस बुराई को हटाने के लिए गांवों में पंचायतों की स्थापना की गई है, जहां छोटे-मोटे मुकदमों का फैसला कर दिया जाता है। पंचायत का फैसला कम खर्चीला और न्याय के अधिक निकट होता है। फिर भी अभी हमारे देश की न्याय-प्रणाली में सुधारों की बहुत आवश्यकता है, जिससे किसान मुकदमों पर होने वाले भारी व्यय से मुक्ति पा सकें।

आजकल के युग में लोगों का ध्यान जीवन की सुविधाओं की ओर बहुत अधिक हो गया है। लोग शहरों में इसीलिए आकर बसते हैं, क्योंकि वहां बिजली, पानी इत्यादि की सुविधा होती है। परन्तु आजकल शहरों में स्थान की बहुत तंगी हो गई है; खाने-पीने की सामग्री भी शुद्ध नहीं मिल पाती; इसलिए यदि गांवों में भी रहन-सहन की सुविधाएं उपलब्ध हो जाएं, तो बहुत-से लोग शहर छोड़कर गांवों में ही जाकर रहना पसंद करेंगे। परन्तु यह तभी हो सकता है, जबकि गांवों तक पक्की सड़कें जाती हों और वहां से शहर तक आने-जाने के साधन भी सुलभ हों।

केन्द्रीय और राज्य-सरकारें इस समय गांवों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दे रही हैं। ऊपर गिनाई गई सभी समस्याओं को हल करने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। गांवों के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सामुदायिक विकास-योजनाएं और राष्ट्रीय विस्तार-सेवाएं प्रारम्भ की गई हैं, जिनके अंतर्गत गांवों में कृषि का सुधार

किया जा रहा है। खेती करने की नई पद्धतियों को अपनाया जा रहा है। साथ ही कुटीर-उद्योग खोले जा रहे हैं। नये-नये विद्यालय खुल रहे हैं। वयस्कों की शिक्षा के लिए भी प्रबन्ध किया गया है। साथ ही ग्रामीणों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाता है कि वे अपनी दशा सुधारने के लिए स्वयं प्रयत्न करें। सड़कें और बांध बनाने, नालियां खोदने और सफाई का काम खुद करने के लिए उन्हें उत्साहित किया जाता है। गांवों में चिकित्सा का भी प्रबन्ध किया गया है। सरकार की योजना है कि हर चार या पांच गांवों के बीच में एक छोटा-सा, किन्तु अच्छा अस्पताल अवश्य होना चाहिए।

पिछले वर्षों में ज़मींदारी-प्रथा समाप्त हो जाने से भी किसानों को बहुत सुख हो गया है, क्योंकि पहले ज़मींदार किसानों के सिर पर बोझ तो थे ही, साथ ही उनके अत्याचारों के कारण किसानों का जीवन बोझ हो गया था। अब किसान और सरकार के बीच में कोई और मध्यवर्ती वर्ग नहीं है। इसका सुपरिणाम कुछ ही दिनों में किसान की समृद्धि के रूप में दिखाई पड़ने लगेगा।

चकबन्दी और सामूहिक कृषि द्वारा भी गांवों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। चकबन्दी तो अनेक राज्यों में काफी बड़े क्षेत्र में हो भी चुकी है और उन क्षेत्रों में इसके लाभ भी दीख पड़ने लगे हैं, परन्तु सामूहिक कृषि का आरम्भ अभी होना है।

इस समय ग्राम-सुधार की दिशा में जितनी तेज़ी से काम हो रहा है, उसे देखते हुए आशा बंधती है कि शीघ्र ही गांवों की स्थिति बहुत सुधर जाएगी और महात्मा गांधी भारत के गांवों को स्वर्ग बनाने का जो स्वप्न देखा करते थे, वह शीघ्र ही सत्य हो उठेगा।

भारत के प्रमुख उद्योग

पहले भारत को कृषि-प्रधान देश समझा जाता था और किसी हद तक यह बात ठीक भी थी। अंग्रेज़ों के दो सौ वर्ष के शासनकाल में भारत में उद्योग-धन्धे कम ही होते गए और जनता को विवश होकर निर्वाह के लिए कृषि पर ही निर्भर होना पड़ा। उद्योग-धन्धों को समाप्त करने में अंग्रेज़ों का लाभ यह था कि वे इंग्लैंड में तैयार किया हुआ माल मनमाने दामों में भारत में लाकर बेच लेते थे।

परन्तु पिछले पचास वर्षों में भारत में उद्योगों का काफी विकास हुआ है। गांधीजी ने जब स्वदेशी आंदोलन चलाया, तब अंग्रेज़ों को यह दिखाई पड़ने लगा कि अब उनका तैयार माल आसानी से भारत में नहीं बिक सकेगा, इसलिए उन्होंने बड़ी-बड़ी मशीनें भारत को बेचने में अपना अधिक लाभ समझा। उसी समय भारत में कपड़ा मिलें और चीनी मिलें लगाई गईं। स्वाधीनता के बाद भारत में उद्योगीकरण की ओर बड़ी तेज़ी से प्रगति हुई है और अब तो दिनों-दिन नये-नये उद्योग यहां खुलते जा रहे हैं। इस समय भारत के प्रमुख उद्योग निम्नलिखित हैं : (१) सूती वस्त्र, (२) जूट-उद्योग, (३) चीनी-उद्योग, (४) लोहा और इस्पात, (५) सीमेंट, (६) कोयला, (७) कागज़-निर्माण और (८) मशीनों का निर्माण।

कुछ समय पूर्व तक सूती वस्त्रों का उद्योग भारत में सबसे बड़ा उद्योग समझा जाता था। सूती वस्त्रों की मिलें पहले-पहल १८५६ में प्रारम्भ हुई थीं। १९३९ में भारत में ३८९ मिलें थीं, जिनमें दो लाख से ऊपर करघे थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में सूती वस्त्र-उद्योग ने बहुत उन्नति की। १९५६ में देश में कुल मिलाकर ६७५ करोड़ गज़ कपड़ा तैयार हुआ।

जूट से भारत को विदेशी मुद्रा सबसे अधिक प्राप्त होती है। देश की अर्थ-व्यवस्था में जूट-उद्योग का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस उद्योग में लगभग तीन लाख व्यक्ति लगे हुए हैं इस समय देश में ८५ जूट-मिलें हैं, जिनमें १९५५

में एक करोड़ टन जूट का सामान तैयार हुआ।

चीनी पहले भारत में विदेशों से आती थी। परन्तु इस समय चीनी की दृष्टि से भारत न केवल आत्मनिर्भर है, अपितु कुछ सीमा तक चीनी का निर्यात भी किया जाता है। चीनी भारत के सबसे बड़े उद्योगों में से है। चीनी-मिलों में लाखों मज़दूर काम करते हैं। गन्ना उगाने वाले किसानों का सम्बन्ध भी चीनी-उद्योग से बहुत घनिष्ठ है।

लोहा और इस्पात किसी भी देश की समृद्धि के लिए बहुत आवश्यक हैं। हमारे देश में टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की स्थापना १९०७ में हुई थी। उसके बाद क्रमशः यह कारखाना बड़ा होता गया और इस समय यह भारत में सबसे बड़ा कारखाना है। इस समय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला में तीन बड़े-बड़े लोहे और इस्पात के कारखाने और खोले गए हैं। हीरापुर, कुलटी और भद्रवती में तीन और लोहे के कारखाने पहले से ही काम कर रहे हैं। १९५६ में भारत में इस्पात का उत्पादन १२,६०,००० टन था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पूरा हो जाने पर देश में इस्पात का उत्पादन प्रतिवर्ष २३ लाख टन हो जाएगा।

देश में सीमेंट के कई बड़े-बड़े कारखाने हैं, जिनमें पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में सीमेंट का उत्पादन इतना बढ़ाया गया है कि अब देश में सीमेंट की कोई कमी नहीं रही है। १९५७ में ५६ लाख टन और १९५८ में ६० लाख टन सीमेंट तैयार हुआ। यद्यपि भवन-निर्माण-कार्य बहुत तेज़ी से चल रहा है, फिर भी सीमेंट सब जगह सुलभ है।

कोयला भी देश के लिए बहुत आवश्यक ईंधन है। बड़े-बड़े कारखाने, रेलें, पानी के जहाज़, सब इस समय कोयले से ही चलते हैं। हमारे देश में कोयला काफी बड़ी मात्रा में विद्यमान है। हमारे यहां अब तक प्रति वर्ष ३ करोड़ ८० लाख टन कोयला निकाला जाता है; द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक ६ करोड़ टन कोयला प्रतिवर्ष निकाला जाने लगेगा।

पहले हमारे देश की कागज़ की आवश्यकता लगभग सबकी सब विदेशों से आए कागज़ से पूरी होती थी। धीरे-धीरे यहां किताबों के काम आने वाला कागज़ बनने लगा; परन्तु अखबारी कागज़ अब भी विदेशों से ही आता है।

१६५५ में मध्यप्रदेश में अखबारी कागज़ की पहली मिल 'नेपा' में काम शुरू हुआ। इस समय किताबी कागज़ का विदेशों से आयात बिल्कुल बन्द है। 'नेपा' मिल में जब काम पूरी तरह शुरू हो जाएगा, तब वहां प्रति वर्ष ३० हज़ार टन अखबारी कागज़ तैयार होगा।

देश के स्वाधीन होने के बाद मशीनों के निर्माण में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। पहले सिलाई की मशीनें, साइकिलें, डीज़ल इंजिन इत्यादि सभी मशीनें विदेशों से ही आती थीं। परन्तु अब साइकिलें अपने ही देश में बनने लगी हैं और विदेशों से साइकिलों का आयत लगभग समाप्त ही हो गया है। इसी प्रकार सिलाई की मशीनें भी अपने ही देश में बनने लगी हैं। डीज़ल इंजिन और मोटरों का निर्माण भी यहां प्रारम्भ हो चुका है। यह ठीक है कि अब भी मशीनों के कुछ आवश्यक पुर्ज़े हमें विदेशों से मंगाने पड़ते हैं, परन्तु शीघ्र ही ये पुर्ज़े भी हमारे ही देश में तैयार होने लगेंगे।

इनके अतिरिक्त देश में कुछ और बड़े-बड़े उद्योग हैं, जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। विशाखापट्टनम् में जहाज़ बनाने का एक बड़ा कारखाना है, जिसमें अब तक विभिन्न तरह के और विभिन्न आकार के तीस जहाज़ बनाए जा चुके हैं। इस समय इस कारखाने में नये ढंग के चार जहाज और पुराने ढंग के छह जहाज प्रतिवर्ष तैयार किए जा सकते हैं। धीरे-धीरे इस कारखाने को और बढ़ाया जाएगा। इसी प्रकार बंगलौर में विमान-निर्माण के लिए भी एक कारखाना खोला गया है, जिसमें कई नमूनों के हवाई जहाज़ तैयार किए जा रहे हैं। पैरांबूर में रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना खोला गया है। 'चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स' एशिया में रेल के इंजिन बनाने का सबसे बड़ा कारखाना है, जो १६५० में बनाया गया था। इस समय इस कारखाने में रेल के २०० इंजिन प्रतिवर्ष तैयार हो सकते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योगों का विकास बहुत तेज़ी से और बहुत-सी दिशाओं में हुआ है। भारी मशीनें बनाने के कारखाने भी खोले जा रहे हैं। ये मशीनें अन्य छोटी मशीनों को बनाने में काम आती हैं। इंजीनियरिंग में काम आने वाले उपकरण अब अपने देश में ही तैयार होने लगे हैं। रासायनिक पदार्थों

के निर्माण के लिए अनेक कारखाने खुले हैं। सींदरी और नांगल में रासायनिक खाद तैयार करने के कारखाने इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भोपाल में बिजली के उपकरण बनाने का कारखाना खोला गया है।

कोयले की भांति मिट्टी का तेल भी आधुनिक युग में हरएक देश के लिए बहुत आवश्यक वस्तु बना हुआ है। अब तक पेट्रोल के लिए भारत विदेशों पर ही निर्भर था, किन्तु अब एक ओर तो देश में तेल की खोज खूब ज़ोर-शोर से चल रही है और दूसरी ओर देश में मिट्टी के तेल को साफ करने के दो बड़े-बड़े कारखाने एक ट्राम्बे में और एक विशाखापट्टनम् में खोले जा चुके हैं। आसाम और काठियावाड़ में भी काफी तेल पाया गया है। तेल की खोज पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार के अनेक भागों में जारी है।

आज का युग परमाणु-ऊर्जा का युग है। इस क्षेत्र में भी भारत पीछे नहीं है। ट्राम्बे में भारत की पहली परमाणु भट्टी चालू की गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि बहुत समय तक भारत उद्योग के क्षेत्र में पिछड़ा रहा, परन्तु अब उसने बड़ी तेज़ी से प्रगति की है, और आशा है कि वह कुछ ही समय में औद्योगिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन जाएगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

जब भारत १५ अगस्त, १९४७ को स्वाधीन हुआ, तब हमारे देश की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक, सभी क्षेत्रों में बड़ी शोचनीय दशा थी। किन्तु देश के नेता भारत को संसार के अन्य उन्नत देशों के समकक्ष बनाने के लिए कटिबद्ध थे। इसलिए उन्होंने देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए पंचवर्षीय योजनाएं तैयार कीं।

पंचवर्षीय योजनाओं की प्रेरणा हमें रूस के इतिहास से मिली। सन् १९१७ में जब रूस में क्रान्ति हुई, तब वहां की आर्थिक दशा भी भारत की अपेक्षा कुछ अच्छी

नहीं थी। उस समय रूसी नेताओं ने जनता में उत्साह जगाने और देश की स्थिति को सुधारने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाकर काम किया था और उसमें उन्हें इतनी आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई थी कि थोड़े ही समय में रूस पश्चिम के शक्तिशाली देशों से टक्कर लेने योग्य हो गया। उसीसे प्रभावित होकर भारत में पंचवर्षीय योजनाएं प्रारम्भ की गईं।

भारत में एक योजना-आयोग की स्थापना की गई, जिसने पहली पंचवर्षीय योजना का आलेख्य १९५१ में पेश किया। यह योजना १९५१ से १९५६ तक के लिए थी। पहली पंचवर्षीय योजना में सबसे अधिक बल कृषि पर दिया गया था, जिससे देश खाद्य की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाए। इसके लिए नदी-घाटी-योजनाओं को अग्रता दी गई थी। भाखड़ा नांगल बांध, दामोदर घाटी-योजना, कोसी-विकास-योजना, हीराकुद बांध तथा दक्षिण की ओर अनेक नदियों पर बांध इसी योजना के अन्तर्गत बनाए गए थे। एक ओर तो इन बांधों से भूमि की सिंचाई के लिए नहरें निकाली गईं, और दूसरी ओर पनबिजली तैयार की जाने लगी। पहली योजना पर लगभग २३५६ करोड़ रुपया व्यय हुआ और इस योजना में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई।

पहली पंचवर्षीय योजना की सफलता से उत्साहित होकर दूसरी पंचवर्षीय योजना बनाई गई, जो १९५६ से १९६१ तक के लिए है। इस योजना में पहली योजना की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचे लक्ष्य रखे गए हैं। इसपर ७२०० करोड़ रुपये व्यय होने का आकलन किया गया है। पहली योजना में अधिक बल कृषि पर दिया गया था, किन्तु इसमें अधिक बल भारी उद्योगों और परिवहन पर दिया गया है। इस योजना का एक बड़ा उद्देश्य बेकार लोगों को काम देना है और साथ ही राष्ट्र के रहन-सहन व जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना है। इस योजना में यह भी उद्देश्य रखा गया है कि जहां एक ओर राष्ट्रीय आय बढ़े, वहां साथ ही उसका वितरण भी इस प्रकार से हो कि समाज में से आर्थिक विषमता समाप्त होकर समानता स्थापित हो। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तानाशाही पद्धति को भी अपनाया जा सकता था, किन्तु भारत में इन्हें प्रजातन्त्र प्रणाली द्वारा ही पूरा किया जाना है। अमेरिका में औद्योगिक विकास वैयक्तिक उद्यम द्वारा हुआ है, दूसरी ओर रूस और चीन में

राष्ट्रीयकरण द्वारा औद्योगिक विकास हुआ है ; भारत में वैयक्तिक उद्यम और राष्ट्रीयकरण दोनों का उपयोग किया जाएगा ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ७२०० करोड़ रुपये की जो राशि व्यय होने का आकलन था, उसे सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र, इन दो भागों में बांट दिया गया है । सार्वजनिक क्षेत्र वह है, जिसमें उद्योग-धन्धे सरकार की ओर से खोले जाएंगे और निजी क्षेत्र में उत्पादन और निर्माण का कार्य गैरसरकारी निजी संस्थाओं द्वारा किया जाएगा । सार्वजनिक क्षेत्र में ४८०० करोड़ रुपया व्यय किया जाना था, जिसका वितरण निम्न प्रकार से किया गया था :

कृषि और समाज-विकास-केन्द्र	५६८	करोड़	रुपये
सिंचाई और बाढ़-नियंत्रण	४८६	,,	,,
बिजली और बाढ़-नियंत्रण	४२७	,,	,,
उद्योग और खनिज पदार्थ	८९०	,,	,,
परिवहन और संचार-साधन	१३८५	,,	,,
समाज-सेवाएं	९४५	,,	,,
विविध	९९	,,	,,
	४८००		

इस वितरण से स्पष्ट है कि उद्योगों पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है । बिजली के उत्पादन पर व्यय होने वाली राशि को भी उद्योगों पर ही व्यय हुआ समझना चाहिए । इस प्रकार लगभग १३०० करोड़ रुपये की राशि उद्योगों के लिए रखी गई है । उद्योगों की वृद्धि का परिवहन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । परिवहन के विकास के बिना उद्योगों का पनपना कठिन है, इसलिए परिवहन और संचार-साधनों पर भी १३८५ करोड़ रुपये व्यय किए जाएंगे । यद्यपि पहली योजना में कृषि को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया था, किंतु इस योजना में भी इसकी उपेक्षा नहीं की गई है । सिंचाई और बाढ़-नियंत्रण को मिलाकर कृषि पर भी लगभग १००० करोड़ रुपये की राशि व्यय होगी ।

केवल अन्न-वस्त्र इत्यादि की भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर ही ध्यान नहीं दिया गया, अपितु समाज-सेवा नाम से जो ९४५ करोड़ रुपये की राशि नियत की गई है, वह लोगों की मानसिक उन्नति के लिए है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य तथा मनोरंजन के कार्यक्रम आ जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि इस योजना में देश की सर्वांगीण उन्नति का ध्यान रखा गया है।

इस योजना में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं:

	१९५६ तक पूर्ण लक्ष्य	१९६१ तक के लिए निर्धारित लक्ष्य
अनाज	६५० लाख टन	७५० लाख टन
सिंचाई	१६० लाख एकड़ और अधिक	२१० लाख एकड़ और अधिक
बिजली	३४ लाख किलोवाट	६९ लाख किलोवाट
सड़कें	१२९०० मील	१३८०० मील
जलयान	६ लाख टन	९ लाख टन
अस्पताल	१००००	१२६००
समाज-विकास-केन्द्र	११२२	४९२०
पाठशालाएं	२९३०००	३५००००
इस्पात	१३ लाख टन	४३ लाख टन
कोयला	३८० ,, ,,	६०० ,, ,,
सीमेंट	४३ लाख टन	१३० लाख टन

इससे स्पष्ट है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में लक्ष्य काफी ऊंचे निर्धारित किए गए हैं। इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए पर्याप्त श्रम और धन की आवश्यकता होगी। सार्वजनिक क्षेत्र में किए जाने वाले ४८०० करोड़ रुपये की व्यवस्था निम्नलिखित ढंग से की गई थी :

लगाए गए करों से बचत	८००	करोड़	रुपये
सार्वजनिक ऋण	१२००	,,	,,
रेलवे और प्रौविडेंट फंड और अन्य मदों में जमा किया हुआ रुपया	४००	,,	,,
बाह्य देशों से प्राप्त होने वाला रुपया	८००	,,	,,
घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा	१२००	,,	,,
बाकी कमी, जिसे अन्य उपायों द्वारा अपने देश में से ही पूरा किया जाएगा	४००	,,	,,
	४८००	,,	,,

इस योजना को पूरा करने में कुछ कठिनाइयां भी आ खड़ी हुई थीं। पहली बात तो यह कि विदेशों से मिलने वाली सहायता बहुत-कुछ खटाई में पड़ गई थी ; परंतु अब अमेरिका, कनाडा और रूस से सहायता प्राप्त हो रही है। आशा है कि इस कारण इस योजना की पूर्ति में बाधा नहीं पड़ेगी। दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न हुई कि १९५७ में अंग्रेज़ों ने मिस्र पर आक्रमण किया, जिससे वे स्वेज़ नहर पर कब्ज़ा कर सकें ; परन्तु स्वेज़ पर उनका कब्ज़ा न हुआ और स्वेज़ में यातायात कई महीनों के लिए रुक गया। इससे विदेशी सामान की कीमतें चढ़ गईं और योजना का व्यय बढ़ गया और सामान आने में विलम्ब भी हुआ। तीसरे, देश में महंगाई बढ़ती जाने के कारण योजना पर होने वाला खर्च अधिक हो गया है और जो व्यय शुरू में ७२०० करोड़ रुपये आंका गया था, अंत में ९००० करोड़ के लगभग पहुंच जाएगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लगभग चार वर्ष पूरे हो चुके हैं और एक वर्ष शेष है। इस बीच में लोहे के तीन बड़े-बड़े कारखाने दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला में बन चुके हैं। इनमें इस्पात का बड़ी मात्रा में उत्पादन होगा। इसके अतिरिक्त 'चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स' का विस्तार किया गया है। पैराम्बूर में रेलगाड़ी के डिब्बे बनाने का कारखाना बनाया गया है। बंगलौर में विमान-निर्माण के लिए एक कारखाना बनाया गया है, जिसमें विमान बनते हैं। सीमेंट का उत्पादन बढ़कर

प्रतिवर्ष ६० लाख टन तक पहुंच गया है, और देश में सीमेंट की तंगी नहीं रही है। भारी उद्योगों के अतिरिक्त मध्यम ढंग के और छोटे कारखाने बनाए गए हैं, जिनमें बिजली का सामान, रेडियो, सिलाई की मशीनें, डीज़ल एंजिन, साइकिलें इत्यादि तैयार होती हैं। मोटरें, कपड़ा बुनने की मशीनें और चीनी के कारखानों की मशीनें भी अब अपने ही देश में बनने लगी हैं। रासायनिक खाद बनाने के लिए सींदरी और नांगल में दो कारखाने खोले गए हैं। विशाखापट्टनम् में जहाज़ बनाने के कारखाने का विस्तार किया गया है।

इस प्रकार इस योजना पर काम बड़ी तेज़ी और उत्साह के साथ चल रहा है। अनेक बार यह आलोचना की गई है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य अनुचित रूप से ऊंचे रखे गए हैं और इसके कारण वर्तमान जनता पर आवश्यकता से अधिक बोझ डाल दिया गया है। इस योजना के व्यय को पूरा करने के लिए अनेक नये-नये कर लगाए गए हैं और घाटे की अर्थ-व्यवस्था के कारण वस्तुओं के दाम निरन्तर चढ़ते चले जा रहे हैं। अनेक बार यह भी सुझाव दिया गया कि पुनर्विचार करके इस योजना के लक्ष्यों को कुछ घटाया जाना चाहिए। परन्तु सरकार इस सम्बन्ध में निश्चय कर चुकी है कि इन लक्ष्यों में कोई कमी नहीं की जाएगी और जो भी कठिनाइयां आएंगी, उनको पार करके इन लक्ष्यों को पूरा किया ही जाएगा।

वस्तुतः इस योजना की सफलता पर सारे देश का भविष्य निर्भर है। न केवल इस योजना की पूर्ति से देश की समृद्धि अधिक बढ़ जाएगी, अपितु उद्योगों और कृषि के विस्तार के फलस्वरूप लगभग १६ लाख आदमियों को नये काम भी मिल जाएंगे। इस प्रकार बेकारी कम होगी, लोगों की आर्थिक दशा सुधरेगी और रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठेगा। शिक्षा के प्रसार और चिकित्सा की सुविधाएं अधिक होने के कारण जनता का मानसिक और शारीरिक विकास अच्छा होगा। इसके विपरीत यदि किसी कारण से योजना सफल न हो पाई, तो जनता का उत्साह टूट जाएगा और एक निराशा की भावना छा जाएगी। इसलिए हरएक देशवासी का यह कर्तव्य है कि वह इस योजना की पूर्ति के लिए जो कुछ कर सकता है, उसमें कोई कसर न उठा रखे।

अभ्यास के लिए विषय

१ भारत-पाकिस्तान-संबंध
२. भारत की विदेश-नीति
३. स्वाधीनता के बाद भारत की प्रगति
४. भारत की उन्नति गांवों पर निर्भर है
५. भारत का उद्योगीकरण
६. राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-योजनाएं
७. नवीन भारत
८. सैनिक शिक्षा

विवेचनात्मक निबन्ध

(१) राजनीति, अर्थशास्त्र (२) शिक्षा, समाज (३) साहित्यिक

विवेचनात्मक निबन्ध किसी भी समस्या या सिद्धान्त को लेकर लिखे जा सकते हैं। जिस किसी भी विषय पर ऐसा निबन्ध लिखा जाना हो, उसका स्पष्टीकरण निबन्ध में किया जाना चाहिए। फिर उसके गुण-दोषों का विवेचन करके कोई सुसंगत निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए। उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के बाद उसके पक्ष और विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों का उल्लेख करना चाहिए और साथ ही यह भी बताना चाहिए कि उनमें कौन-सी युक्तियां सारवान हैं और कौन-सी निःसार हैं। विवेचनात्मक निबन्धों का अन्त किसो संतोषजनक निष्कर्ष के साथ होना चाहिए।

उदाहरण के लिए 'प्रजातन्त्र' पर निबन्ध को लीजिए। पहले यह बताना चाहिए कि प्रजातंत्र क्या होता है? प्रजातंत्र-शासन-प्रणाली कैसे काम करती है? उसकी क्या विशेषताएं होती हैं? प्रजातंत्र के क्या लाभ हैं? प्रजातंत्र में हानियां कौन-कौन-सी हैं? शासन-प्रणालियों में प्रजातंत्र का क्या स्थान है? और अन्त में, प्रजातंत्र-शासन-प्रणाली का भविष्य क्या है? इस प्रकार विषय से सम्बद्ध सभी बिन्दुओं पर निबन्ध में विचार हो जाना चाहिए।

वैसे किसी भी एक विषय में सब बिन्दुओं पर विस्तार से विचार करके पूरी पुस्तक भी लिखी जा सकती है, परन्तु निबन्ध में विस्तार अभीष्ट नहीं होता। यथाशक्ति सब बातें संक्षेप में ही लिखी जानी चाहिएं। भूमिका और उपसंहार को यथासंभव रोचक और परिमार्जित बनाने का यत्न करना चाहिए।

राजनीति, अर्थशास्त्र

प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली

उन्नीसवीं शताब्दी में लगभग सारे संसार में राजाओं का राज्य कायम था। किन्तु बीसवीं शताब्दी में वे राजा एक-एक करके समाप्त होते गए और उनके स्थान पर प्रजातंत्र-शासन-पद्धतियां स्थापित हो गईं। फ्रांस, जर्मनी, रूस, स्पेन आदि देशों में राजतन्त्र समाप्त होकर प्रजातन्त्र कायम हुआ। आजकल प्रजातंत्र का युग है और बात-बात में प्रजातत्र की दुहाई दी जाती है। इस समय संसार के सभी बड़े-बड़े देशों में प्रजातंत्र-शासन-पद्धति ही चल रही है।

प्रजातंत्र का अर्थ है—प्रजा का शासन। प्रजातंत्र की सबसे अच्छी व्याख्या अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की मानी जाती है, जिसमें उसने कहा था, "प्रजातंत्र का अर्थ है, जनता द्वारा जनता के हित के लिए जनता की सरकार की स्थापना।" इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र में शासन की बागडोर प्रजा के हाथ में होती है और वह शासन प्रजा के हित के लिए ही किया जा रहा होता है।

परन्तु प्रजातत्र में सारी जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करती, अपितु प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि शासन करते हैं। इतना अवश्य है कि इन प्रतिनिधियों को जनता की इच्छा के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है, क्योंकि यदि वे ऐसा न करें, तो आगामी चुनावों में जनता उनको हटाकर उनकी जगह नये प्रतिनिधि चुन सकती है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र में केवल वही प्रतिनिधि शासन करते रह सकते हैं, जिन्हें जनता का विश्वास प्राप्त हो।

प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली के बहुत-से लाभ बतलाए जाते हैं। कहा जाता है कि प्रजातन्त्र-शासन में व्यक्ति को राज्य की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी जाती है। यह माना जाता है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को अपने विकास के लिए पूरा अवसर देना है। इसलिए राज्य केवल साधन है और साध्य व्यक्ति है। इसके लिए प्रजा-तन्त्र-शासन में व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। वह अपने वोट

द्वारा चाहे जिसे अपना प्रतिनिधि चुन सकता है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार भाषण या लेखों के रूप में प्रकट कर सकता है। किन्तु अभिव्यक्ति की यह स्वतन्त्रता केवल उसी सीमा तक होती है, जहां तक कि वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न बने।

प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति में लोगों को अभिव्यक्ति की स्वाधीनता देने का एक प्रयोजन है। पिछले इतिहास को देखकर यह पता चलता है कि क्रान्तियां तभी हुईं जब कि जनता को बहुत-से अत्याचारों और कष्टों का सामना करना पड़ा। किन्तु प्रजा को अपने कष्ट प्रकट करने तक का भी मौका नहीं दिया गया। बहुत समय तक तो लोग दबकर कष्ट सहते रहे और जब असह्य हो उठा, तो उन्होंने क्रांति कर दी। प्रजातन्त्र में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रहने के कारण रक्तपातपूर्ण क्रान्तियों का खतरा बिलकुल नहीं होता, क्योंकि जनता न केवल अपने दुःख और कष्ट को बतला सकती है, अपितु अगर वह चाहे तो अपने वोट द्वारा सरकार को बदल भी सकती है।

प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति की सफलता के लिए कुछ बातें बहुत आवश्यक हैं। पहली बात तो यह है कि प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति तभी सफल हो सकती है जब कि किसी देश की जनता सुशिक्षित हो और अपने अधिकारों के प्रति और साथ ही अपने कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक हो। जहां जनता अशिक्षित हो और पैसे देकर लोगों के वोट खरीदे जा सकते हों, वहां प्रजातन्त्र-शासन केवल एक पाखंड बनकर रह जाता है। दूसरी बात यह है कि देश में एक से अधिक सुसंगठित राजनीतिक दल होने चाहिएं। जब एक दल पदारूढ़ हो, उस समय विरोधी दल भी इतना समर्थ होना चाहिए कि वह सत्तारूढ़ दल के दोषों के विरुद्ध सफलतापूर्वक आवाज़ उठा सके। तीसरी बात यह है कि देश में अनेक समाचारपत्र होने चाहिएं और उन्हें यथासम्भव पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे वे जनमत को उचित दिशा में ले जा सकें।

प्रजातन्त्र-शासन को इसलिए सर्वोत्तम शासन-प्रणाली समझा जाता है, क्योंकि इसमें प्रजा के ऊपर शासन करने की आवश्यकता कम से कम पड़ती है। सरकार जनता पर मनमाना अत्याचार नहीं कर सकती। अगर करे, तो राजनीतिक दल और समाचारपत्र अच्छा-खासा आन्दोलन खड़ा करके उसके विरुद्ध आवाज़ उठाते

हैं और सरकार को विवश करते हैं कि वह गलती को सुधारे। जनता अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सदा सचेत रहती है।

प्रजातन्त्र-शासन को 'कानून का शासन' कहा जाता है। कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति समान होते हैं और एक जैसा अपराध करने पर अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सब लोगों को एक जैसा ही दंड भुगतना पड़ता है। धर्म, लिंग अथवा पद इत्यादि के कारण किसीके साथ कोई भेद-भाव नहीं किया जा सकता।

आजकल लगभग सभी देशों में प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली इस रूप में चल रही है कि जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है। ये प्रतिनिधि प्रायः किसी न किसी दल के समर्थन से चुनाव लड़ते हैं। चुनावों में जिस दल का बहुमत होता है, उसका नेता अपना मंत्रिमंडल बनाता है। मंत्रिमंडल देश की संसद के सम्मुख उत्तरदायी होता है और मंत्रिमंडल तभी तक पदारूढ़ रहता है, जब तक संसद में उसका बहुमत हो। जब किसी दल का संसद में बहुमत नहीं रहता, तो उसके मंत्रिमंडल को इस्तीफा दे देना पड़ता है। इसीलिए प्रत्येक दल यह यत्न करता है कि वह जनता को सन्तुष्ट रखे। इस प्रकार जनता की इच्छा का शासन के हर मामले में पूरा ध्यान रखा जाता है। संक्षेप में प्रजातन्त्र व्यक्ति को राज्य से बड़ा मानता है और व्यक्ति के विकास के लिए जो कुछ भी सम्भव हो, वह सब कुछ करने को तैयार रहता है।

इन अनेक गुणों के साथ-साथ प्रजातन्त्र में कुछ एक दोष भी हैं। प्रसिद्ध विचारक प्लेटो ने प्रजातन्त्र शासन को 'मूर्खों का शासन' कहा है। उसका कहना है कि दुनिया में मूर्ख अधिक होते हैं और बुद्धिमान् कम। बहुमत सदा मूर्खों का रहता है और इसीलिए बहुमत का शासन मूर्खों का शासन है।

प्लेटो की बात तो हुई विशुद्ध तर्क की बात; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जहां की जनता सुशिक्षित और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक न हो, वहां प्रजातन्त्र केवल हुल्लड़बाज़ लोगों का खेल बनकर रह जाता है। चुनाव जीतने के लिए तरह-तरह के हथकंडों का प्रयोग किया जाता है और भले लोग चुनावों से दूर ही रहना पसन्द करते हैं। चुनाव में अधिकतर लोग किसी न किसी राजनीतिक दल का सहारा लेकर खड़े होते हैं और मतदाता उम्मीदवार की अच्छाई या बुराई पर ध्यान न देकर राजनीतिक दल को वोट देते हैं। यह कहना अनावश्यक है कि इस

प्रकार चुने गए प्रतिनिधि जनता के सच्चे प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते।

जब कोई दल चुनाव जीत जाता है, तो उसका सारा प्रयत्न यह होता है कि जिन लोगों ने चुनाव जीतने में उसकी सहायता की है, उनको ऊंचे-ऊंचे पद दिए जाएं या उनके लाभ के लिए अन्य कार्य किए जाएं। इससे आपाधापी और पक्षपात का जन्म होता है।

यदि इतने सब उत्पात-उपद्रवों के बाद भी किसी एक दल का बहुमत हो जाए, तब भी खैर है; क्योंकि उस दशा में वह दल एक स्थायी सरकार बना सकता है। परन्तु जब किसी एक दल को पूरा बहुमत प्राप्त नहीं होता, तो उसे दूसरे दलों से गठबन्धन करना पड़ता है। गठबन्धन के लिए दूसरे दलों को तरह-तरह की सुविधाएं दी जाती हैं और वहां जल्दी-जल्दी सरकारें बदलती रहती हैं।

विरोधी दल होने का जहां यह लाभ है कि वह सरकार की गलतियों को प्रकाश में लाकर उसे सही रास्ते पर ला सकता है, वहां व्यवहार में देखा यह जाता है कि विरोधी दल सरकार के अच्छे-बुरे हर काम का विरोध करते हैं, जिससे जनता में हर बात पर दो सम्मतियां बन जाती हैं। इससे देश को नुकसान पहुंचता है।

प्रजातन्त्र-शासन का सबसे बड़ा और भयंकर दोष यह है कि इसमें कोई भी कार्य शीघ्र नहीं हो पाता। संसदों में देर तक बहस चलती रहती है। इसलिए जब कभी युद्ध या किसी अन्य संकट के कारण अविलम्ब कार्रवाई करने की आवश्यकता पड़ती है, तब प्रजातन्त्र-शासन बहुत सुस्त और कमज़ोर सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र-शासन महंगा बहुत पड़ता है। चुनावों पर बेहद रुपया व्यय किया जाता है और बाद में संसद के सदस्य किसी न किसी प्रकार उस धन-राशि को वापस पाने का प्रयत्न करते हैं। संसद के सदस्यों के वेतन आदि पर बहुत बड़ी राशि व्यय होती है। इस सब धन-राशि का सदुपयोग आसानी से रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है।

परन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी आजकल इस बारे में प्रायः सभी लोग एकमत हैं कि अब तक ज्ञात शासन की सभी प्रणालियों में प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति सबसे अच्छी है। यदि इसमें कुछ दोष हैं, तो अन्य शासन-प्रणालियों में भी कुछ दूसरे दोष हैं। जहां शासन का सूत्र एक व्यक्ति के हाथ में या दो-चार इने-गिने

व्यक्तियों के हाथ में होता है, वहां वे लोग भूल कर सकते हैं और उनकी भूल का परिणाम सारे देश को भुगतना पड़ता है। प्रजातन्त्र-शासन का यह दोष कि इसमें कोई काम जल्दी नहीं हो पाता, इस दृष्टि से गुण भी कहा जा सकता है कि इसमें जल्दबाज़ी में कोई काम नहीं होता।

प्रजातन्त्र की नई धारणा में यह बात भी मान ली गई है कि सब लोगों को वोट का अधिकार दे देना ही काफी नहीं, अपितु लोगों को सामाजिक समानता और आर्थिक सुरक्षा प्रदान करके इस योग्य बनाया जाना चाहिए कि वे वोट के अधिकार का समुचित प्रयोग भी कर सकें। जब ऐसी स्थिति आ जाएगी कि लोग ऊंच-नीच या धनी और निर्धन के भेद-भाव को भूलकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से वोट दे सकेंगे, तभी प्रजातन्त्र सफल हो सकेगा।

स्वाधीनता के बाद भारत ने स्वेच्छापूर्वक प्रजातन्त्र को अपनाया है। भारत शान्तिप्रिय देश है। प्रायः सभी प्रजातन्त्रीय देश शान्तिप्रिय होते हैं और एकतन्त्रात्मक देशों की प्रवृत्ति युद्ध की ओर रहती है। संसार के अनेक बड़े-बड़े युद्ध व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए ही लड़े गए थे।

संक्षेप में, प्रजातन्त्र अन्य सब शासन-प्रणालियों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रणाली है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रजातन्त्र में देश के निवासियों में परस्पर सहिष्णुता की भावना रहती है। समय की वर्तमान गति को देखते हुए प्रजातन्त्र का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दीख पड़ता है।

अन्य संभावित शीर्षक

१. प्रजातंत्र—सर्वोत्तम शासन-पद्धति

प्रजातन्त्र और तानाशाही

द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले संसार के अनेक देशों में प्रजातंत्र-शासन-पद्धति विद्यमान थी, किन्तु जर्मनी, इटली और स्पेन में तानाशाही अर्थात् अधिनायक-तन्त्र की स्थापना हो गई थी। उन दिनों प्रजातन्त्र और तानाशाही वाले देशों में आपस में मुकाबला था, इसलिए बार-बार लोगों के सामने यह प्रश्न उठता था कि प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति अच्छी है या तानाशाही शासन-पद्धति ?

प्रजातन्त्र में शासन की बागडोर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में होती है, इसलिए राज्य के कार्य जनता की इच्छा के अनुसार ही होते हैं। यदि सरकार की कोई नीति जनता को पसन्द न हो, तो जनता उसका विरोध कर सकती है। प्रजातन्त्र में हरएक व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता रहती है। इसका लाभ यह होता है कि एक ओर तो सरकार को यह पता चलता रहता है कि उसकी किस नीति से जनता सन्तुष्ट या असन्तुष्ट है; दूसरी ओर जनता का असन्तोष भी मन का गुबार निकल जाने के कारण कम हो जाता है। इसलिए प्रजातन्त्रीय देशों में प्रायः हिंसात्मक क्रान्तियां नहीं होतीं।

प्रजातन्त्र में शासक और शासित का भेद हट जाता है। जनता यह समझती है कि सरकार उसकी अपनी बनाई हुई है, इसलिए लोग कानूनों का स्वेच्छा से पालन करते हैं। वे समझते हैं कि कानून उनके हित के लिए बनाए गए हैं। इस प्रकार शासन दण्ड के भय से नहीं, अपितु जनता के सहयोग से ही चल रहा होता है।

यदि सरकार की कोई नीति जनता की इच्छा के विरुद्ध हो, तो उस सरकार को बदल देना जनता के अपने हाथ में है। वैसे तो सदा ही सरकार पर जनता की चुनी हुई संसद (पार्लियामेंट) का नियन्त्रण रहता है, परन्तु यदि कभी जनता यह समझे कि संसद भी उसकी इच्छा के प्रतिकूल काम कर रही है, तो अगले चुनावों में वह सारी संसद को ही बदल दे सकती है। इस बात को सरकार और राजनीतिक दल भी खूब समझते हैं; इसलिए वे जनता को प्रसन्न रखने का पूरा यत्न करते हैं।

प्रजातन्त्र में किसी भी विषय पर निर्णय करना एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होता, बहुत-से लोगों के हाथ में होता है; इसलिए हर समस्या के हरएक पहलू पर अच्छी तरह विचार कर लिया जाता है और उसके बाद ही उसपर निर्णय होता है। इस प्रकार गलत निर्णय होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इसके विपरीत तानाशाही में निर्णय एक व्यक्ति के हाथ में होता है और वहां गलती होने की सम्भावना बहुत अधिक होती है।

प्रजातन्त्र के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि इसमें व्यक्ति के विकास की सबसे अधिक गुंजाइश होती है। यह समझा जाता है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना है। तानाशाही में सब लोग अधिनायक से दबे रहते हैं और डरे रहते हैं। इसलिए उनके व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं हो पाता। परन्तु प्रजातन्त्र में सब व्यक्तियों को समान अधिकार होते हैं और हरएक व्यक्ति को ऊंचे से ऊंचे पद तक पहुंच पाने का अवसर रहता है।

किन्तु इन अच्छाइयों के साथ-साथ प्रजातन्त्र में बहुत-से दोष भी हैं। प्रजातन्त्र में शासन की बागडोर हुल्लड़बाज़ लोगों के हाथ में आ जाती है। जनता की इच्छा का सिद्धान्त-रूप में तो आदर किया जाता है, परन्तु व्यवहार में नहीं। जिन देशों में शिक्षा बहुत नहीं है, वहां पर लोगों को लोभ या भय दिखाकर उनसे वोट ले लिए जाते हैं और इस प्रकार अनेक बार जनता चाहते हुए भी सरकार को नहीं बदल पाती। प्रजातन्त्र में लोगों की कार्यक्षमता घट जाती है। सब काम धीरे-धीरे होते हैं। हरएक प्रश्न पर लम्बा विवाद होता है, जिससे निर्णय होने में बहुत देर लगती है। प्रजातन्त्र में दंड का भय घट जाता है। लोग बेईमानी और रिश्वतखोरी की ओर झुके चलते हैं। राज्य के व्यय पर अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ जाती है। युद्ध इत्यादि संकट की दशाओं में प्रजातन्त्र कमज़ोर सिद्ध होते हैं।

इसके विपरीत तानाशाही-पद्धति में सब काम चटपट होते हैं और भली भांति हो पाते हैं। तानाशाही में एक व्यक्ति के आदेश से राज्य की नीति निर्धारित होती है; इसलिए वहां निर्णय होने में कोई देर नहीं लगती। लोगों में दंड का भय रहता है; इसलिए सब लोग अपने कर्तव्य का यथाशक्ति ईमानदारी से पालन करते हैं और पालन न करने की दशा में उन्हें दंड भुगतना पड़ता है।

यदि अधिनायक अच्छा हो, तो वह सारे देश में एक नई जान फूंक सकता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले इटली और जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर ने अपने दोनों राष्ट्रों को संसार के सबसे उन्नत राष्ट्रों की श्रेणी में ला खड़ा किया था। अधिनायकतन्त्र में, क्योंकि सारी सत्ता एक आदमी के हाथ में होती है, इसलिए उस एक आदमी के अच्छा और ईमानदार होने से सारा देश अच्छा और ईमानदार बन सकता है। परन्तु इसमें यह भय भी है कि यदि वह एक अधिनायक अच्छा न हो, तो सारा शासन बिगड़ जा सकता है और देश पतन की ओर बढ़ता जा सकता है। भारतीय इतिहास में मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में यही कुछ हुआ था।

अधिनायकतन्त्र में मनुष्य को उन्नति करने के अवसर रहते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि अधिनायक वही व्यक्ति बन पाता है, जो अपने गुणों और योग्यता के द्वारा शेष व्यक्तियों को अपने अधीन रहने के लिए तैयार कर लेता है। परन्तु अधिनायकतन्त्र में पक्षपात होने की संभावना रहती है। जो व्यक्ति अधिनायक की दृष्टि में अच्छा हो, उसकी पदोन्नति जल्दी होती जाती है; और जिसे ऐसा सौभाग्य न मिले, वह उपेक्षित रह जाता है। परन्तु इस प्रकार का पक्षपात प्रजातन्त्र में भी कम नहीं होता।

वस्तुतः सामान्य जनता में वीर-पूजा की भावना होती है। यदि कोई एक अनेक गुण-सम्पन्न अधिनायक देश का शासन करने लगता है, तो लोग उसका आदर करते हैं और उससे प्रेरणा पाकर देश के लिए बहुत कुछ बलिदान करने को तैयार हो जाते हैं। प्रजातंत्र में वीर-पूजा का यह तत्व विद्यमान नहीं होता। परन्तु अधिनायकतंत्र की यही दुर्बलता भी है। अधिनायकतंत्रीय देश अधिनायक के हट जाने पर पतन की ओर बढ़ चलते हैं; परन्तु प्रजातंत्र में ऐसा भय नहीं रहता, क्योंकि वहां नेतृत्व के लिए अनेक व्यक्ति तैयार रहते हैं।

प्रजातंत्र में एक बड़ा दोष यह होता है कि लोगों का ध्यान चुनावों की ओर लगा रहता है। लोग चुनाव लड़ते हैं। उसमें बहुत-सा अनावश्यक व्यय होने के अतिरिक्त लोगों में स्वार्थ की भावना बढ़ती है। हरएक प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में लम्बे-लम्बे वाद-विवाद होने से लोगों में बुद्धि-भेद फैलता है। राष्ट्र की शक्तियां

बटी-बंटी-सी रहती हैं। अधिनायकतन्त्र में अनेक पक्ष सामने न होने के कारण सब लोगों की शक्तियां एक ही दिशा में केन्द्रित रहती हैं।

यह ठीक है कि अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति को उतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती, जितनी प्रजातन्त्र में रहती है, परन्तु प्रजातन्त्र की स्वतन्त्रता का उपयोग लोग बेईमानी करने, मुनाफाखोरी करने इत्यादि के लिए भी करते हैं। अनियन्त्रित स्वतन्त्रता किसी भी प्रणाली में नहीं दी जा सकती। नियन्त्रित स्वतन्त्रता तानाशाही प्रणाली में भी रहती है।

तानाशाही प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निर्णय एक व्यक्ति के हाथ में रहता है। वह व्यक्ति आवेश या भावुकता के क्षणों में गलत निर्णय भी कर सकता है और उस गलती का फल सारे राष्ट्र को भुगतना पड़ता है। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने जितने थोड़े काल में जितनी अधिक उन्नति की थी, उसकी तुलना शायद सारे संसार के इतिहास में कहीं न हो। परन्तु एक आदमी के निर्णय की एक-दो गलतियों ने ही जर्मनी को फिर विनाश के मुख में धकेल दिया। प्रजातंत्रीय देशों में ऐसी गलतियां कम होती हैं। शायद इसीलिए प्रजातन्त्रीय देश शांति-प्रेमी होते हैं और अधिनायकतन्त्रीय देशों का झुकाव युद्ध की ओर अधिक रहता है।

चाहे जो हो, किन्तु इस समय सारे संसार में प्रजातन्त्र का बोलबाला है। सभी बड़े-बड़े देशों में प्रजातंत्र स्थापित हो चुका है। किन्तु मज़े की बात यह है कि हर-एक देश अपने को प्रजातन्त्रवादी देश कहता है, और दूसरे को अधिनायकतंत्रीय। अनेक दोषों के होते हुए भी सभी देश अपने आपको प्रजातन्त्रीय देश कहने में गौरव अनुभव करते हैं। हाल के पिछले कुछ वर्षों में अनेक देशों में अधिनायक-तन्त्रीय प्रवृत्तियों ने फिर सिर उभारा है; परन्तु वे देश भी प्रजातंत्र को त्यागने की घोषणा करते हिचकिचाते हैं। इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्त की दृष्टि से प्रजातन्त्र को सर्वोत्तम शासन-प्रणाली समझा जाता है; यह बात दूसरी है कि उस सिद्धान्त को पूरी तरह व्यवहार में सब जगह नहीं लाया जा सकता।

अन्य संभावित शीर्षक

१. अधिनायकतन्त्र और प्रजातंत्र
२. प्रजातंत्र-प्रणाली के गुण-दोष

समाजवाद और गांधीवाद

मनुष्य ने ज्यों-ज्यों प्रगति की है, त्यों-त्यों वह अनेक नई-नई उलझनों में भी फंसता गया है। अब से हज़ार साल पहले, जब अधिकांशत: लोग कृषि द्वारा ही जीवन-निर्वाह करते थे, आर्थिक और सामाजिक समस्याएं बहुत कम थीं। किन्तु पहले सामंतवाद ने और फिर पूंजीवाद ने मानव-जाति को उन्नति की ओर बढ़ने में सहायता दी। यदि ये दो प्रेरक शक्तियां न होतीं, तो शायद आज भी मनुष्य उतनी ही सरलता और सादगी से रहते होते, जितने वे मुहम्मद तुगलक के समय रहते थे, और परमाणु-शक्ति और स्पुतनिक का आविष्कार कभी न हुआ होता। परंतु सामंतवाद और पूंजीवाद ने समाज में कुछ ऐसी आर्थिक विषमताएं भी उत्पन्न कर दीं, जो अपने आप में बड़ी समस्याएं बन गई और जिन्हें हटाने के लिए कार्लमार्क्स और गांधी जैसे लोगों को उपाय सोचने पड़े।

समाजवाद और गांधीवाद दोनों ही आर्थिक विषमताओं को दूर करने के उपाय हैं। समाजवाद का मूल कार्लमार्क्स के लेखों में है। कार्लमार्क्स की विचार-धारा पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में थी। पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के उपकरणों पर लोगों का व्यक्तिगत अधिकार होता है और उत्पादन से होने वाले लाभ पर भी उन्हींका अधिकार होता है। उत्पादन के उपकरण चार हैं: (१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूंजी और (४) नवारम्भकर्ता। समाजवाद का कथन है कि भूमि प्रकृतिदत्त वरदान है। इसपर किसी भी एक व्यक्ति का अधिकार क्यों होना चाहिए ? इसी प्रकार श्रम का मूल्य भी ठीक ढंग से आंका जाना चाहिए; अर्थात् कोई भी दो व्यक्ति यदि दिन भर श्रम करते हैं, तो उस श्रम का मूल्य समान समझा जाना चाहिए। फिर भी पूंजीवाद में इस श्रम का मूल्य लोगों को अलग-अलग दिया जाता है। एक आदमी दिन भर जी-तोड़ मेहनत करता है, उसका पारिश्रमिक उसे दो या तीन रुपये मिलता है। दूसरी ओर एक प्रबन्धक अपनी मेज़ पर बैठा हुआ केवल कलम चलाता है और उसे उसका पारिश्रमिक सौ रुपये दिया जाता है। यह अन्तर पूंजी और नवारम्भकर्ता इन दो उपकरणों के फलस्वरूप है।

वर्तमान युग में सारे उत्पादन में पूंजी बहुत बड़ा उपकरण है। मनुष्य खाली हाथ शायद कुछ भी उत्पादन नहीं कर सकता। यदि पूंजी थोड़ी हो, तो वह थोड़ा उत्पादन कर सकता है; किंतु यदि उसके पास बहुत बड़ी पूंजी हो, तो वह बड़े-बड़े कल-कारखाने लगाकर बहुत अधिक उत्पादन कर सकता है। इसी प्रकार नवारम्भकर्ता का भाग भी पूंजी द्वारा होनेवाले लाभ से नियंत्रित रहता है। यदि लाभ अधिक होगा, तो वह सारा नवारम्भकर्ता का होगा; यदि लाभ नहीं होगा अथवा घाटा होगा, तो वह भी नवारम्भकर्ता को ही सहना होगा।

यह है पूंजीवादी व्यवस्था, जिसमें बड़ी पूंजी की सहायता से बड़े-बड़े पूंजीपति अंधाधुंध लाभ कमाते हैं और दूसरी ओर मज़दूर केवल जीवन-निर्वाह कर पाने योग्य न्यूनतम वेतन पाते हैं। एक ओर तो पूंजीपति अधिकाधिक धनी होते जाते हैं और दूसरी ओर मज़दूर अधिकाधिक गरीब होते जाते हैं। समाज के इन दोनों वर्गों के बीच विषमता की गहरी खाई उत्पन्न होती जाती है। समाजवाद पूंजीवाद के इस दोष को हटाने के लिए ही सामने आया है।

पूंजीवाद का यह दावा था कि आर्थिक क्षेत्र में सब लोगों को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। हरएक व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति से चाहे जैसा ठेका या समझौता कर सकता है; और राज्य का कर्तव्य है कि इस प्रकार हुए पारस्परिक समझौतों का पालन कराए। परोक्ष रूप से इसका अर्थ यह हो जाता है कि पूंजीपति मज़दूर के साथ चाहे जैसा समझौता कर सकता है और उसका मनमाना शोषण कर सकता है। किंतु समाजवाद इस दावे को स्वीकार नहीं करता। उसका कथन है कि सब मनुष्य समान हैं। सब मनुष्यों को समान रूप से जीवन की सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिएं। पूंजीवाद में पूंजीपति मुनाफ़ा इसलिए कमा पाता है, क्योंकि उत्पादन के उपकरणों पर उसका अधिकार होता है। इसलिए उत्पादन के उपकरणों पर किसी भी व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए, अपितु उनपर सारे समाज का अधिकार होना चाहिए। सब लोगों को जीविका के लिए श्रम करना चाहिए। हरएक व्यक्ति को कार्य देना और उस कार्य के बदले पारिश्रमिक देना राज्य का कार्य है।

समाजवादी व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन मुनाफा कमाने के लिए नहीं

किया जाता, अपितु उपभोग के लिए किया जाता है। इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था का दोष 'अति उत्पादन' इसमें नहीं आ पाता। 'अति उत्पादन' का अर्थ यह है कि मुनाफे के लालच में पूंजीवादी लोग अधिकाधिक उत्पादन करते जाते हैं और प्रतियोगिता में आकर कई बार उन्हें अपनी वस्तुओं का दाम बहुत गिरा देना होता है और इसलिए वे फिर मज़दूरों के वेतन में कमी करते जाते हैं। समाजवाद में कोई व्यक्ति निठल्ला या परोपजीवी नहीं होता। इसलिए शोषित और शोषक वर्ग समाजवाद में नहीं रह पाते।

समाजवाद के अन्तर्गत साम्यवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, सहकारितावाद और सामूहिकतावाद इत्यादि सब आ जाते हैं। इसलिए अकेला समाजवाद किसी स्पष्ट अर्थ का द्योतक नहीं है। एक ओर रूस का साम्यवाद है, जिसमें सारी सम्पत्ति, भूमि और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। श्रमिक वर्ग की तानाशाही वहां स्थापित कर दी गई है। यही व्यवस्था चीन में भी है और इसके अन्तर्गत दोनों ही देशों ने आश्चर्यजनक उन्नति की है।

इससे भिन्न प्रकार का राष्ट्रीय समाजवाद युद्ध-पूर्व के जर्मनी में था। जहां संपूर्ण उत्पादन की गतिविधियों को राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से नियंत्रित कर दिया गया था। सभी प्रकार के समाजवाद में व्यक्तिगत स्वाधीनता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वाधीनता के रहते शोषण का कुचक्र समाप्त नहीं हो सकता। पूंजीवाद के पांव इतनी मज़बूती से जमे हुए हैं कि उसको परास्त करने के लिए समाजवाद हिंसात्मक क्रांतियों का भी समर्थन करता है।

पूंजीवादी लोग समाजवाद के विपक्ष में प्रायः यह युक्ति देते हैं कि समाजवाद में व्यक्ति को अधिक श्रम करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं रहता। जब कम परिश्रम करके भी जीवन की सुविधाएं दूसरों के समान मिल सकती हैं, तो लोग स्वभावतः कम परिश्रम करना ही अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु वास्तविक अनुभव इसके प्रतिकूल है। जब लोग यह अनुभव करते हैं कि उनके श्रम का फल घूम-फिरकर उन्हींको या सारे समाज को मिलेगा, तो वे खुशी से परिश्रम करते हैं। सभी लोग कामचोर नहीं होते। समाजवाद में बेकारी नहीं होती और मज़दूरों की दशा बहुत सुधर जाती है।

समाजवाद देशों और राज्यों की सीमाओं को नहीं मानता। उसके कथनानुसार संसार केवल दो वर्गों में बंटा हुआ है : एक शोषक और दूसरे शोषित। समाजवादियों का उद्देश्य सारे संसार में समाजवाद की स्थापना करना है। इसीलिए संसार के पूंजीवादी देश समाजवाद की बढ़ती हुई लहर को रोकने के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं।

भारत में भी आर्थिक विषमता अन्य देशों की अपेक्षा कम नहीं है। लगभग पच्चीस साल तक भारत की राजनीति पर गांधी जी का गहरा प्रभाव रहा। वह देश पर इस तरह छाए रहे कि राजनीति, अर्थशास्त्र, शिक्षा, धर्म और चिकित्साशास्त्र तक में भी उनकी सम्मतियों को महत्व दिया जाने लगा। आर्थिक विषमता को हटाने के लिए गांधी जी ने जो समाधान प्रस्तुत किया, वह गांधीवाद कहलाता है। सब लोगों को समान समझने की दृष्टि से गांधीवाद और समाजवाद एक जैसे हैं। किंतु आर्थिक विषमता को हटाने के उपाय दोनों के पृथक्-पृथक् हैं। समाजवाद हिंसा और क्रांति में विश्वास रखता है, किंतु गांधीवाद प्रेम और अहिंसा में आस्था रखता है। समाजवाद रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने और उसके लिए उपयुक्त साधन जुटाने का समर्थक है। इसके विपरीत गांधीवाद की बड़ी मान्यता यह है कि लोगों को अपनी आवश्यकताएं घटानी चाहिएं। आवश्यकताएं बढ़ाते जाने की कोई सीमा नहीं है और मनुष्य की सारी शक्ति केवल खाने-पहनने इत्यादि में नहीं लग जानी चाहिए। गांधीवाद जीवन के आध्यात्मिक पहलू पर अधिक बल देता है। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य केवल जीवित रहने की अपेक्षा कुछ अधिक ऊंचा है।

समाजवाद जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाने का समर्थन करता है और इसीलिए वह बड़े-बड़े उद्योगों का पृष्ठपोषक है, जिनके द्वारा उपभोग्य वस्तुएं बहुत बड़े परिमाण में तैयार की जा सकें, जिससे सब लोग सुखी जीवन बिता सकें। इसके विपरीत गांधीवाद कुटीर उद्योगों का समर्थक है। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को कुटीर उद्योगों द्वारा सरलता से पूरा किया जा सकता है और मनुष्य कहीं अधिक प्राकृतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। जब मनुष्य मशीनों पर निर्भर हो जाता है, तो उसकी अपनी स्वाधीनता और उसका आत्मविश्वास बहुत कुछ

समाप्त हो जाता है।

आजकल के वैज्ञानिक उन्नति के युग में मशीनों की एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु मशीनों का उपयोग वहीं होना चाहिए, जहां वह अनिवार्य हो। उदाहरण के लिए, युद्ध के शस्त्रास्त्र तथा बिजली उत्पन्न करने के कारखानों इत्यादि के लिए भारी मशीनों का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु वस्त्र-निर्माण तथा अन्य कला-कौशल के काम कुटीर-उद्योगों द्वारा किए जाने चाहिएं।

समाजवाद और गांधीवाद, दोनों का उद्देश्य संसार से अन्याय और अत्याचार को हटाना है। किन्तु इस शुभ लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समाजवाद सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करने को उद्यत है, जबकि गांधीवाद केवल शुभ और शान्तिपूर्ण उपायों के अवलम्बन पर ही बल देता है। गांधीवाद प्रेम द्वारा रक्तहीन क्रान्ति करना चाहता है। वह केवल लक्ष्य की अच्छाई में ही विश्वास करके निश्चिन्त नहीं हो जाता, अपितु उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधनों के अच्छे होने पर भी बल देता है।

जहां तक श्रम के गौरव का प्रश्न है, गांधीवाद और समाजवाद दोनों ही समान हैं। दोनों इस बात पर बल देते हैं कि अपने जीवित रहने के लिए और दूसरी सुविधाएं प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना चाहिए। जो व्यक्ति बिना श्रम किए किसी भी सुख-सामग्री का उपभोग करता वह परोपजीवी समाज पर भार है।

दोनों की तुलना के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गांधीवाद एक आदर्शवादी विचारधारा है, जिसकी सफलता शायद कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में संभव भी हो, किंतु इस दुष्ट संसार में सर्वत्र ऐसी सफलता पाना कठिन है। किंतु समाजवाद अधिक व्यावहारिक विचारधारा है और वह अनेक देशों में सफल हो भी चुका है। गांधीवाद अभी परीक्षण की ही दशा में है।

पंचशील

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में संसार ने दो महायुद्ध देखे। इन महायुद्धों में जन और धन का जैसा विनाश हुआ, वैसा इससे पहले संसार में कभी नहीं हुआ था। और यदि वह विनाश न हुआ होता, तो सारी दुनिया के निवासी आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और समृद्ध होते।

युद्ध के पक्ष में भी युक्तियां देने वालों की कमी नहीं है। युद्ध से मनुष्य में सोया हुआ वीरत्व जागता है; कष्ट सहने की क्षमता बढ़ती है; सबल जीतते हैं और निर्बल नष्ट हो जाते हैं; और इस तरह विकासवाद के कथनानुसार संसार उन्नति की ओर बढ़ता है। परन्तु इस समय विज्ञान ने ऐसे भयानक अस्त्र-शस्त्र बनाकर मनुष्य के हाथ में दे दिए हैं कि युद्ध द्वारा उन्नति करने की युक्तियां थोथी प्रतीत होने लगी हैं। विषैली गैसों का प्रयोग पहले महायुद्ध में किया गया था, किन्तु दूसरे महायुद्ध में नहीं किया गया। दूसरे महायुद्ध में विमानों द्वारा शत्रु के नगरों पर यथाशक्ति बम बर्षा की गई। पनडुब्बियों से हज़ारों जहाज़ डुबा दिए गए। उड़नबम भी चलाए गए और युद्ध का अन्त परमाणु बमों से हुआ, जबकि अमेरिका ने हीरोशिमा और नागासाकी पर एक-एक परमाणु बम गिराकर इन शहरों को बिलकुल बरबाद कर दिया।

और विज्ञान की प्रगति उसके बाद भी रुकी नहीं है। परमाणु बम के बाद हाइड्रोजन बम बन चुके हैं। एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुंचने वाले, बल्कि सारी पृथ्वी की परिक्रमा लगा सकने वाले राकेट तैयार किए जा चुके हैं, जिनके द्वारा परमाणु बमों और हाइड्रोजन बमों को चाहे जिस स्थान पर गिराया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह लगभग निश्चित-सा ही प्रतीत होता है कि यदि कहीं तीसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया, तो सारी मानव-सभ्यता और शायद सारी मानव-जाति ही नष्ट हो जाएगी। परमाणु-युद्ध में हार या जीत शायद किसी भी पक्ष की न हो, क्योंकि जीतने वाला भी उतना ही नष्ट हो जाएगा, जितना कि हारने वाला। ऐसी दशा में संसार को विनाश के मुख में गिरने से बचाने के लिए आशा

की एक ही किरण दिखाई पड़ती है और वह है—पंचशील ।

पंचशील पांच सिद्धान्तों का नाम है। ये पांच सिद्धान्त वे हैं, जिनके द्वारा यह आशा की जाती है कि यदि संसार के सब राष्ट्र इनका पालन करें, तो संसार में राजनीतिक तनाव समाप्त हो जाएगा और शान्ति बनी रह सकेगी। इन पांच सिद्धान्तों को भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियों ने पहले-पहल घोषित किया था। १९५४ में तिब्बत के सम्बन्ध में इन दोनों देशों में जो सन्धि हुई थी, उसकी प्रस्तावना में इन पांच सिद्धांतों का उल्लेख था। वे सिद्धान्त ये हैं : (१) अनाक्रमण, (२) अनतिक्रमण, (३) अहस्तक्षेप, (४) पारस्परिक सहायता और सहयोग और (५) शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व ।

सूत्र रूप में दिए गए इन सिद्धान्तों का थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा। पहले सिद्धान्त अनाक्रमण का अर्थ है कि कोई भी देश किसी भी दूसरे देश पर आक्रमण न करे। सब लड़ाइयों का मूल आक्रमण ही है। शक्तिशाली देश अपने पड़ोसी दुर्बल राष्ट्रों पर इसलिए आक्रमण कर देते हैं, जिससे उन्हें जीतकर अपने राज्य का विस्तार कर सकें और उन राष्ट्रों का शोषण कर सकें। अब तक हुए सभी युद्धों में यही भावना काम करती रही है। यदि सब देश अनाक्रमण के सिद्धांत को मान लें, तो संसार से युद्धों का संकट सदा के लिए बहुत कुछ समाप्त हो जा सकता है। किन्तु अनाक्रमण का पालन सच्चे मन से होना चाहिए। यदि केवल ऊपर से दिखावे के लिए अनाक्रमण के सिद्धान्त को मान लिया जाए, तो उससे कोई लाभ न होगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भिक दिनों में रूस और जर्मनी ने परस्पर अनाक्रमण-संधि की थी। परन्तु क्योंकि वह संधि सच्चे मन से नहीं की गई थी, इसीलिए वह बहुत जल्दी भंग हो गई और जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया।

दूसरा सिद्धान्त है अनतिक्रमण। इसका अर्थ है, अपने पड़ोसी देशों की सीमाओं का अतिक्रमण न करना; उनकी सीमाओं को ज्यों का त्यों बने रहने देना। यह सिद्धान्त भी बहुत कुछ अनाक्रमण से ही मिलता-जुलता है। अन्तर इतना है कि कई बार शक्तिशाली देश अपने पड़ोसी देशों पर खुल्लम-खुल्ला तो आक्रमण नहीं करते, किन्तु धीरे-धीरे उनकी सीमाओं पर कब्ज़ा करते जाना चाहते हैं और

इस प्रकार उन दोनों देशों में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है, जो किसी भी क्षण युद्ध का रूप धारण कर सकती है। इसलिए युद्ध के संकट को टालने के लिए जहां आक्रमण को रोके जाने की आवश्यकता है, वहां यह भी आवश्यक है कि सीमाओं के अतिक्रमण अर्थात् उल्लंघन को भी रोका जाए।

अनाक्रमण और अनतिक्रमण दोनों सिद्धान्तों को मान लेने के बाद भी एक और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिसमें युद्ध अनिवार्य-सा ही हो उठे। वह स्थिति है बड़े राष्ट्रों के द्वारा छोटे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की। आज के युग में इस बात को सभी बड़े राष्ट्रों ने समझ लिया है कि खुले तौर पर किसी भी देश पर आक्रमण करना बहुत खतरनाक है। फिर भी ये राष्ट्र परोक्ष तरीकों से दूसरे राष्ट्रों पर दबाव डालने और उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से नहीं चूकते। पश्चिमी एशिया के देश ईरान, ईराक, मिस्र इत्यादि बहुत समय तक विदेशी शक्तियों की कूटनीति का अखाड़ा बने रहे और किसी सीमा तक आज भी बने हुए हैं। भारत और पाकिस्तान में भी विदेशी शक्तियां उल्टे-सीधे ढंग से अपना प्रभाव डालने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। संसार इस समय पूंजीवादी और साम्यवादी, इन दो गुटों में बंटा हुआ है। जब किसी एक क्षेत्र में एक गुट अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास करने लगता है, तो उसके मुकाबले के लिए दूसरा गुट भी स्वयं सचेत हो उठता है और उससे अन्तरराष्ट्रीय तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार छोटे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप उन राष्ट्रों के लिए तो हानिकारक है ही, साथ ही सारे विश्व की शांति के लिए भी घातक सिद्ध हो सकता है।

यदि ऊपर लिखे तीनों सिद्धान्तों को मान लिया जाए, तो इसका अर्थ बहुत कुछ यह होगा कि संसार के सब देश एक दूसरे से अलग-थलग होकर बैठ जाएं, और केवल अपने लाभ की ओर ही दृष्टि रखें; दूसरे देशों के हिताहित की चिन्ता बिल्कुल छोड़ दें। ऐसा करना संसार की वर्तमान उन्नत दशा में न तो सम्भव है और न हितकर। इससे संसार के उन्नत देश तो शायद उतनी असुविधा अनुभव न करें, किन्तु पिछड़े हुए देशों की उन्नति का मार्ग अवश्य बन्द हो जाएगा। इसलिए पंच-शील के चौथे सिद्धान्त में यह बात कही गई है कि संसार के उन्नत और अनुन्नत

सभी राष्ट्रों को एक-दूसरे की सहायता करनी चाहिए और सबके हित के लिए एक दूसरे से सहयोग करना चाहिए। हम अपने पड़ोसी पर आक्रमण न करें और उसे कष्ट न दें, केवल इतना निषेधात्मक नियम ही काफी नहीं है, अपितु इतना विधेयात्मक अंश और जोड़ दिया गया है कि हम अपने पड़ोसी की सहायता करें और सामान्य हित के लिए उसके साथ सहयोग करें। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि सब राष्ट्र एक दूसरे के धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज़ और रहन-सहन के तरीकों के प्रति आदर का भाव रखें।

सबसे अन्तिम सिद्धान्त है—शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व। इस समय संसार में दो बड़ी-बड़ी परस्पर विरोधी विचार-धाराएं और जीवन-प्रणालियां विद्यमान हैं। एक प्रणाली है पूंजीवादी व्यवस्था की। यह काफी प्राचीन प्रणाली है। इसमें यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कानून-सम्मत उपायों द्वारा चाहे जितनी सम्पत्ति एकत्र करने का अधिकार है। सब लोगों को अपनी रुचि के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस प्रकार प्रतियोगिता से लोगों में आगे बढ़ने, काम करने और धन-संचय करने का उत्साह उत्पन्न होता है। अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों में यही प्रणाली प्रचलित है। इसके विरोध में साम्यवादी व्यवस्था है, जिसका यह कथन है कि राज्य के सब नागरिक समान हैं। देश की सारी सम्पत्ति पर उन सबका समान अधिकार है। इसलिए उत्पादन के सब साधनों पर राज्य का अधिकार होना चाहिए। सब नागरिकों के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी राज्य पर है और उसके बदले राज्य को अधिकार है कि वह अपने नागरिकों से, जो उचित समझे काम ले। रूस और चीन इत्यादि देशों में यह साम्यवादी व्यवस्था विद्यमान है। ये पूंजीवादी और साम्यवादी गुट एक दूसरे को बहुत सन्देह और भय की दृष्टि से देखते हैं और दोनों का विश्वास है कि जब भी दूसरे का वश चलेगा, वह हमें अवश्य ही नष्ट कर डालेगा। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से इसी भय और सन्देह के वातावरण के कारण संसार में निरंतर तनाव बना हुआ है। जब तक यह तनाव कायम है, तब तक किसी भी समय युद्ध छिड़ जाने की आशंका है। इस तनाव को समाप्त करने का सरल उपाय यह है कि दोनों गुट सिद्धान्त में इस बात को स्वीकार कर लें कि ये दोनों विरोधी व्यवस्थाएं एक साथ शान्तिपूर्वक संसार में विद्यमान रह

सकती हैं। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाए, तो फिर संघर्ष का कोई कारण ही शेष नहीं रहता।

ये हैं पंचशील के पांच सिद्धान्त, जिनकी घोषणा पहले-पहल भारत और चीन के प्रधानमंत्रियों ने १९५४ में की थी। उसके बाद बांडुंग में हुए अफ्रो-एशियाई देशों के प्रथम सम्मेलन में इन सिद्धान्तों को सर्व सम्मति से स्वीकार किया गया। उसके बाद रूस के प्रधानमंत्री, यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति तथा अन्य कई देशों के प्रधान मंत्रियों ने इन सिद्धान्तों का समर्थन किया। किन्तु संसार के कई बड़े देश ऐसे भी हैं, जिन्होंने इन सिद्धान्तों की केवल उपेक्षा ही की है। उन्होंने सिद्धान्त रूप में भी इन्हें स्वीकार नहीं किया है।

परन्तु इस समय संसार के सामने दो ही विकल्प हैं: एक परमाणु-आयुधों द्वारा मानव-सभ्यता और मनुष्य-जाति का सर्वनाश, और दूसरा पंचशील। यदि संसार को पहला विकल्प स्वीकार्य नहीं है, तो दूसरा विकल्प ही अपनाना पड़ेगा; क्योंकि इसके सिवाय और कोई रास्ता है ही नहीं। हमें यह विश्वास करना चाहिए कि मनुष्य अभी इतना अविवेकी और अन्धा नहीं हुआ है कि वह अपनी मूर्खता द्वारा न केवल अपनी सारी सफलता और समृद्धि का, अपितु अपना भी विनाश कर डाले। इसलिए शीघ्र ही या कुछ विलम्ब से पंचशील के सिद्धान्त संसार के सब देशों द्वारा स्वीकार किए जाएंगे और वे मानव-जाति के सुनहले भविष्य की आधारशिला बन सकेंगे।

अन्य संभावित शीर्षक

१. भारत की विदेश-नीति
२. विश्वशान्ति में भारत का याग

भूदान-यज्ञ

बीसवीं शताब्दी में पश्चिम के देशों ने संसार को अनेक वैज्ञानिक आविष्कार प्रदान किए हैं। रेडियो, रडार, टेलीवीज़न और परमाणु बम इनमें से प्रमुख हैं। परन्तु इनकी तुलना में भारतवर्ष ने संसार को दो, अद्‌भुत वस्तुएं प्रदान की हैं, जिनका महत्त्व इन वैज्ञानिक आविष्कारों से किसी प्रकार कम नहीं आंका जा सकता; और ये वस्तुएं हैं—एक तो महात्मा गांधी का सत्याग्रह और दूसरा, विनोबा भावे का भूदान आंदोलन। जैसे गांधीजी का सत्याग्रह राजनीतिक क्षेत्र में एक नया और सफल प्रयोग था, उसी प्रकार भूदान-यज्ञ सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में एक नया और क्रांतिकारी प्रयोग है। सत्याग्रह का प्रयोग देश को विदेशी दासता से छुड़ाने के लिए किया गया था और भूदान का प्रयोग शोषितों और पीड़ितों को शोषकों के पंजों से छुड़ाने के लिए किया जा रहा है।

भूदान क्या है, यह इस शब्द से ही स्पष्ट है। इसका अर्थ है—भूमि का दान। जिन लोगों के पास आवश्यकता से अधिक भूमि है, वे स्वेच्छा से अपनी भूमि का कुछ भाग उन लोगों को दे दें, जिनके पास भूमि बिलकुल नहीं है। अभी कुछ वर्ष पहले तक भारतवर्ष में इन दोनों प्रकार के लोगों की संख्या काफी थी। एक ओर तो बड़े और छोटे ज़मींदार थे, जिनके पास इतनी अधिक भूमि थी कि वे उस सारी पर स्वयं किसी प्रकार खेती नहीं कर सकते थे; और दूसरी ओर ऐसे भूमिहीन श्रमिक थे, जिनके पास अपनी कहने के लिए अंगुल भर ज़मीन भी नहीं थी। ये भूमिहीन श्रमिक दूसरे किसानों और ज़मींदारों की ज़मीन पर मज़दूरी करके जीवन बिताते थे। यह मज़दूरी बहुत थोड़ी होती थी और सदा नहीं मिलती थी। इसलिए इनका जीवन बहुत ही गरीबी में बीतता था। एक ओर बहुत कम मेहनत से, या बिलकुल बिना मेहनत के बहुत पैसा पाने वाले भूस्वामी थे और दूसरी ओर जी जोड़कर मेहनत करने के बाद भी भूखे रहने वाले ये मज़दूर!

इस प्रकार की आर्थिक विषमता समाज के स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है; और अनेक देशों के इतिहास में घातक सिद्ध हो भी चुकी है। फ्रांस और

रूस की क्रान्तियां इसी प्रकार की आर्थिक विषमता का परिणाम थीं। शीघ्र या विलम्ब से भारत में भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती। बल्कि कहना चाहिए कि तेलंगाना के प्रदेश में किसी सीमा तक यह उपस्थित हो भी गई थी। किसानों ने बलपूर्वक ज़मींदारों की ज़मीनों पर कब्ज़ा करना शुरू कर दिया था। अनेक स्थानों पर उपद्रव हुए, जिनको दबाने के लिए पुलिस को काफी बल-प्रयोग करना पड़ा।

हमारे देश में सबसे प्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस ने अपना लक्ष्य 'समाजवादी समाज की स्थापना' घोषित किया है और प्रायः सभी राज्यों में ज़मींदारी प्रथा को समाप्त करके भूमि का अधिकार उन किसानों को सौंप दिया गया है, जो उसपर पिछले कुछ वर्षों से खेती करते चले आ रहे थे। इसी प्रकार भूमि की समस्या को हल करने के लिए और भी कई उपाय किए गए हैं। किन्तु इससे भूमिहीन मज़दूरों की समस्या का कोई हल नहीं हो पाया है। इन भूमिहीन मज़दूरों की संख्या बहुत अधिक है और जब तक इनकी आर्थिक दशा न सुधरे, तब तक समाज में पूरी तरह शान्ति स्थापित हुई नहीं समझी जा सकती।

मनुष्य की एक मूलभूत प्रवृत्ति यह है कि वह वस्तुओं पर अपना स्वामित्व ज़माना चाहता है। जिन वस्तुओं पर उसका स्वामित्व होता है, उनकी वह बड़ी सावधानी से देख-रेख और रक्षा करता है; उनको सुधारने और संवारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। भूमि के बारे में भी यही बात है। यदि किसी एक किसान को कुछ भूमि दे दी जाए, जिसे वह अपनी कह सके और जिसके सम्बन्ध में उसे यह विश्वास हो कि वह उससे छीनी नहीं जाएगी, तो वह बंजर ज़मीन को भी अपने पसीने से सींच-सींचकर उपजाऊ और हरी-भरी बना सकता है। जब तक किसान को भूमि का स्वामित्व न सौंपा जाए, तब तक वह उसपर पूरे मन से परिश्रम नहीं कर सकता। इस तरह जहां एक ओर बहुत-से श्रमिकों का श्रम उपयोग में नहीं आता, वहां दूसरी ओर भूमि पर उतनी तत्परता से खेती नहीं हो रही होती, जितनी होनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में भूमि का समान वितरण करने के तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि किसान ज़बरदस्ती ज़मीनों पर कब्ज़ा कर लेते। इस बात को कोई भी सुव्यवस्थित सरकार सहन नहीं कर सकती थी; क्योंकि बलपूर्वक भूमि पर कब्ज़ा

कर पाना इतना सरल न होता। भयानक उपद्रव होते और काफी कुछ रक्तपात होता। दूसरा उपाय यह था कि सरकार कानून बनाकर जबरदस्ती भूस्वामियों से कुछ भूमि छीन लेती और उसे भूमिहीन मज़दूरों में बांट देती। यह उपाय आसानी से किया जा सकता था; परन्तु इससे उन लोगों के मन में कटुता भर जाती, जिनकी भूमि इस प्रकार छीनी जाती। तीसरा और अन्तिम उपाय यह था कि भूस्वामियों को समझाया जाए और प्रेम से मनाकर उनसे फालतू भूमि दान में ली जाए और वह भूमिहीन श्रमिकों में बांट दी जाए। यही भूदान है।

सन् १९५१ की बात है। तेलंगाना प्रदेश में किसानों और ज़मींदारों में ज़मीन के लिए लड़ाइयां हो रही थीं। विनोबा भावे शान्ति-स्थापना के लिए पैदल यात्रा कर रहे थे। पंचमपल्ली नामक गांव में विनोबा जी ने अपने प्रवचन में लोगों को समझाते हुए श्रम का महत्त्व बतलाया और शान्तिपूर्वक परिश्रम करके जीविका कमाने का सुझाव दिया। उस समय वहां के कुछ हरिजन मज़दूरों ने उठकर कहा, 'हम श्रम करने को तो तैयार हैं, किन्तु हमारे पास जोतने के लिए चप्पा भर भी ज़मीन नहीं है। हम मेहनत भी करें तो कहां?' विनोबा जी ने उपस्थित लोगों से अपील की और कहा कि क्या यहां कोई ऐसा उदार महानुभाव है, जो इन लोगों के लिए कुछ भूमि दे सके? उस समय एक व्यक्ति ने उठकर भूमिहीन लोगों में बांटने के लिए आचार्य विनोबा को सौ एकड़ भूमि देने की घोषणा की। उसी दिन विनोबा जी को यह विश्वास हो गया कि कानून और जबरदस्ती से ही नहीं, बल्कि प्रेम से भी लोगों से भूमि ली जा सकती है।

उसके बाद विनोबा जी ने यह निश्चय किया कि वे सारे देश में पैदल घूम-घूमकर भूमिहीन लोगों के लिए तीस लाख एकड़ भूमि एकत्र करेंगे और जब तक उनका यह लक्ष्य पूरा नहीं हो जाएगा, तब तक वह अपने आश्रम में नहीं लौटेंगे। इसके बाद उन्होंने देश की पद-यात्रा शुरू कर दी। वे गांव-गांव जाते और लोगों से भूमि मांगते। वे लोगों से कहते, 'अगर आपके पांच पुत्र हैं, तो अपना छठा पुत्र मुझे मान लीजिए और मेरे हिस्से की भूमि मुझे दे दीजिए। मैं उसे भूमिहीन लोगों में बांटूंगा।' उनके कहने के ढंग, उनके दिल की सचाई और उनके प्रेम से प्रभावित होकर लोग उदारतापूर्वक अपनी भूमि दान में देने लगे। तीस लाख एकड़ भूमि

एकत्र करने का लक्ष्य कुछ ही महीनों में पूरा हो गया। अनेक बड़े-बड़े राज-नीतिक नेता इस आन्दोलन में कूद पड़े। सरकार ने भी इस आन्दोलन का परोक्ष रूप से समर्थन किया। बाद में विनोबा जी ने अपना लक्ष्य बढ़ाकर एक करोड़ एकड़ भूमि का संग्रह करने का संकल्प किया।

यद्यपि भूदान-आन्दोलन एक क्रांतिकारी विचारधारा है और उसे सफलता भी बहुत मिली है, पर कुछ लोग इसके आलोचक भी हैं। उनका कहना है कि भूदान-आन्दोलन आने वाली क्रान्ति को टालने का प्रयास है। शोषित जनता बेचैन होकर क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रही थी; उसको कुछ देर तक बहलाकर शांत रखने के लिए ही यह आन्दोलन किया जा रहा है। दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि सैकड़ों-हज़ारों बीघे ज़मीन के मालिक ज़मीदारों का ज़मीन पर स्वामित्व उचित नहीं माना जा सकता। भूमि सारी राज्य की है और इस नाते राज्य के सब नागरिकों की है। इसलिए उसे दान लेने या दान देने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक और आक्षेप यह किया जाता है कि भूदान-यज्ञ में भूमि मिलने के जो आंकड़े सफलता सूचित करने के लिए बताए जाते हैं, ये बहुत कुछ भ्रामक हैं। लोग निकम्मी, बंजर और विवादग्रस्त भूमि दान में देकर दानी होने का यश प्राप्त कर लेते हैं। दान में मिलने वाली भूमि बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में होती है, जो कृषि की दृष्टि से अनुपयुक्त होती है।

एक और आक्षेप यह भी है कि जिन लोगों को इस प्रकार की रद्दी और अनुपजाऊ भूमि खेती के लिए दी जाती है, वे बहुत ही गरीब और साधनहीन होते हैं। उनमें इतना सामर्थ्य ही नहीं होता कि वे बैल तथा खेती के अन्य उप-करण खरीद सकें या सिंचाई के लिए कुएं बनवा सकें। इसलिए नाममात्र को भूस्वामी बनने के बाद भी उनकी स्थिति कुछ सुधरती नहीं है।

इन आक्षेपों में से कुछ सही हैं और कुछ निराधार हैं; जैसे भूमि का दान देने और लेने के सम्बन्ध में विनोबा जी का कथन है कि दान का अर्थ तो बंटवारा है। इसलिए इसमें भूमि लेने वाले की हीनता का कोई प्रश्न नहीं उठता।

यों आक्षेप तो हर अच्छे सिद्धान्त और आन्दोलन पर किए जा सकते हैं। हमें देखना यह चाहिए कि गुण और दोष कुल मिलाकर पलड़ा किस ओर भारी

है। संसार के अन्य देशों में समाज की दूषित व्यवस्थाओं को बदलने के लिए ऐसी भयंकर और रक्तपातपूर्ण क्रान्तियां हुई हैं कि एक बार तो उन देशों की नींव तक हिल उठी है। यदि सामाजिक व्यवस्था का वैसा ही परिवर्तन बिना किसी प्रकार के उपद्रव और रक्तपात के विनोबा जी अपने भूदान आन्दोलन द्वारा करने में सफल हो सकें, तो अवश्य ही यह एक नई और आश्चर्यजनक बात होगी। जैसे लक्षण दीख रहे हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि विनोबा जी इसमें अवश्य सफल होकर रहेंगे; और यदि यह आन्दोलन भारत में सफल हो गया, तो संसार के अन्य देश भी इसे प्रसन्नतापूर्वक अपनाने को उद्यत हो जाएंगे।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. विनोबा भावे और उनका भूदान
२. भारत की भूमि-समस्या का हल

संयुक्त राष्ट्र-संघ

मनुष्य अन्य पशुओं की भांति स्वभाव से युद्ध-प्रेमी है। इसीलिए संसार का इतिहास देशों और जातियों के छोटे-बड़े असंख्य युद्धों से भरा हुआ है। जब भी कोई जाति कुछ अधिक शक्तिशाली हो जाती है, तो वह दूसरी जातियों पर अधिकार करने के लिए युद्ध छेड़ देती है। युद्ध हारने वाले के लिए तो सर्वनाशी होता ही है, जीतने वाले के लिए भी कुछ कम विनाशकारी नहीं होता। यदि समूची मानव-जाति की दृष्टि से देखा जाए, तो युद्धों से मनुष्य को हानि ही होती रही है। गत दो महायुद्धों में जितना विनाश हुआ और उस विनाश को करने के लिए जितना धन व्यय किया गया, यदि उसका उपयोग लोगों के हित के लिए किया जाता, तो संसार के सभी निवासी अब की अपेक्षा कई गुना सुखी और समृद्ध होते। यदि युद्ध भविष्य में भी इसी प्रकार होते रहे, तो शायद सदा ही मनुष्यजाति को दुःख और

दरिद्रता में जीवन बिताना पड़ेगा।

ज्यों-ज्यों विज्ञान ने उन्नति की है, त्यों-त्यों युद्धों में होने वाले विनाश की मात्रा अधिक और अधिक होती गई है। द्वितीय महायुद्ध में प्रथम महायुद्ध से कई गुना अधिक विनाश हुआ और यदि, परमात्मा न करे, तीसरा महायुद्ध छिड़ गया, तो उसमें दूसरे महायुद्ध से भी कई गुना अधिक विनाश होगा ; इतना अधिक कि जिसकी अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अवस्था ने सभी देशों के विचारकों को कोई ऐसा उपाय सोचने के लिए विवश कर दिया, जिसके द्वारा अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं और विवादों का हल पारस्परिक वार्तालाप और समझौतों द्वारा किया जा सके ; और ज़रा-ज़रा-सी बात पर म्यान से तलवार निकालने की आवश्यकता न पड़े। संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना इसी विचारधारा का परिणाम है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद हुई थी। संसार के ५१ से अधिक देश इस संघ के सदस्य बने और उन्होंने यह घोषणा की कि वे युद्ध का विरोध करते हैं और इसलिए अपने आपसी विवादों का हल युद्ध द्वारा न करके संयुक्त राष्ट्र-संघ में वार्तालाप और मध्यस्थता द्वारा करवाने को तैयार हैं। युद्ध से त्रस्त संसार के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ आशा की एक सुनहली किरण थी।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना बिलकुल नई चीज़ नहीं थी। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद भी इसी प्रकार की एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था बनाई गई थी जिसका नाम राष्ट्र-संघ (लीग आफ नेशन्स) था। राष्ट्र-संघ के उद्देश्य भी लगभग वही थे, जो वर्तमान संयुक्त राष्ट्र-संघ के हैं। किन्तु राष्ट्र-संघ पहला प्रयोग था, इसलिए उसमें कुछ त्रुटियां रह गई थीं। वह एक दुर्बल संस्था थी। उसके सिद्धान्त अच्छे थे, परन्तु अपने निर्णयों को सब राष्ट्रों से मनवाने के लिए उसके पास कोई शक्ति नहीं थी। इसीलिए जब जापान ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, तो राष्ट्र-संघ केवल संस्ताव पास करके रह गया और इन आक्रमणों के विरुद्ध कोई कार्रवाई न कर सका। इससे उसका प्रभाव घटता गया और द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने से पहले ही उसकी स्थिति न होने के बराबर रह गई।

इन सब बातों को देखते हुए और पिछले अनुभव से लाभ उठाते हुए संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना अधिक दृढ़तर आधारों पर की गई। इसका बड़ा कारण यह भी था कि द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तिम दिनों में परमाणु बमों का प्रयोग हुआ और परमाणु बमों ने अपने भीषण संहार द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि यदि आगामी युद्ध हुआ, तो उसका रूप क्या होगा। इसीलिए उस आगामी युद्ध को रोकने के लिए अधिक दृढ़ प्रयास किया जाना स्वाभाविक था।

अभी द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त भी नहीं हुआ था कि मित्र कहे जाने वाले देशों ने 'अतलांतक घोषणापत्र' तैयार किया, जिसमें यह घोषणा की गई थी कि मनुष्य-मात्र को धर्म और विचारों की स्वाधीनता रहेगी; प्रत्येक व्यक्ति को निर्भय जीवन बिताने का अधिकार होगा और सब मनुष्यों को अभावों से मुक्ति दिलाने की चेष्टा की जाएगी। युद्ध की समाप्ति होने पर सानफ्रांसिस्को में एक विशाल सम्मेलन हुआ, जिसमें संयुक्त राष्ट्र-संघ की विधिपूर्वक स्थापना हुई। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले ५१ देश संयुक्त राष्ट्र-संघ के सदस्य बने और उन्होंने एक स्वर से युद्ध की निन्दा की। इस सम्मेलन में सब मनुष्यों की समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। सब मनुष्यों को विचारों की स्वतन्त्रता, संगठन की स्वतन्त्रता, धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया और यह भी निश्चय किया गया कि सब राष्ट्र, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं और किसी भी दूसरे देश को उनके मामलों में दखल देने का कोई अधिकार नहीं है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की इस प्रथम बैठक में सिद्धान्त रूप में यह बात भी मान ली गई कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली ही सबसे अच्छी शासन-प्रणाली है। इस बात को स्वीकार करने के लिए सबसे बड़ी युक्ति यह थी कि प्रजातन्त्र देश शान्तिप्रिय होते हैं, जबकि अधिनायकतन्त्रीय देशों का झुकाव अपनी सीमाएं बढ़ाने, दूसरे देशों पर कब्ज़ा करने तथा अपना गौरव प्रमाणित करने की ओर रहता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले जर्मनी और इटली में अधिनायकतन्त्रीय शासन-प्रणाली थी और इन्हीं दोनों देशों ने दूसरे विश्व-युद्ध का प्रारम्भ किया। ऐसा समझा जाता है कि यदि उस समय जर्मनी और इटली में प्रजातन्त्र-शासन होता, तो युद्ध इतनी आसानी से न छिड़ सकता।

संयुक्त राष्ट्र-संघ इस समय तक बहुत विशाल और सशक्त संस्था बन चुका है। संसार के सभी बड़े-बड़े देश, जिनमें रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और भारत भी सम्मिलित हैं, इसके सदस्य हैं। सदस्य देशों की संख्या इस समय तक ६८ से ऊपर हो चुकी है। संयुक्त राष्ट्र-संघ का उद्देश्य संसार के देशों में सद्भावना, सहिष्णुता और पारस्परिक सहयोग की भावना को बढ़ाना है। इन उद्देश्यों को पूरा करने में काफी सीमा तक इसे सफलता भी प्राप्त हुई है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के कई अंग हैं। इसकी सबसे बड़ी और सबसे अधिक अधिकारसम्पन्न सभा जनरल असेम्बली है। किसी भी विषय में जनरल असेम्बली का निर्णय अन्तिम समझा जाता है। सामान्यतया जनरल असेम्बली का अधिवेशन साल में एक बार होता है; परन्तु यदि आवश्यकता हो, तो जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन कभी भी बुलाया जा सकता है। जनरल असेम्बली में कोई भी निर्णय तभी स्वीकृत माना जाता है, जबकि उसके पक्ष में कम से कम दो तिहाई मत हों।

सुरक्षा-परिषद संयुक्त राष्ट्र-संघ का एक और महत्त्वपूर्ण अंग है। जनरल असेम्बली के बाद सुरक्षा-परिषद को ही सबसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं। इसे जनरल असेम्वली की कार्यपालिका समिति कहना चाहिए। इसका काम है—संसार में शान्ति बनाए रखना। यदि कहीं भी आक्रमण हो, तो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर सुरक्षा-परिषद उस आक्रमण का प्रतिरोध करती है। सुरक्षा-परिषद में ११ सदस्य होते हैं। इसका अध्यक्ष बारी-बारी से इन्हीं ११ सदस्यों से चुना जाता है। फिलस्तीन, काश्मीर, कोरिया और मिश्र में आक्रमण की रोक-थाम के लिए सुरक्षा-परिषद ने कार्रवाई की है।

जनरल असेम्बली और सुरक्षा-परिषद के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र-संघ के और भी अनेक महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जिनका सम्बन्ध संसार के पिछड़े हुए देशों की सहायता करने से है। इनमें से अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, जिसे संक्षेप में विश्व बैंक भी कहा जाता है, अन्न एवं कृषि-संगठन, संयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन, विश्व-स्वास्थ्य-संगठन इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पिछड़े हुए देशों की सहायता के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ विश्व बैंक से धन-

राशि भी उधार दिलवाता है। विज्ञानवेत्ता और कुशल शिल्पज्ञ (टेकनीशियन) पिछड़े देशों में उद्योग-धन्धों को उन्नत करने के लिए भेजे जाते हैं। रोगों को हटाने और स्वास्थ्य की दशाओं को सुधारने के लिए ओषधियों और चिकित्सा के दूसरे उपकरणों के रूप में बहुमूल्य सहायता दी जाती है। निरक्षरता को हटाने के लिए भी संयुक्त राष्ट्र-संघ विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ लीग आफ नेशन्स की अपेक्षा कहीं अधिक समर्थ और सक्षम संस्था है। यह बात तब भली भांति स्पष्ट हो गई, जब कोरिया में युद्ध छिड़ा। उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर अधिकार करने का यत्न किया, किन्तु संयुक्त राष्ट्र-संघ ने अनेक देशों की सम्मिलित सेना बनाकर उस आक्रमण का मुकाबला किया और दक्षिणी कोरिया को फिर स्वतन्त्र करवा दिया। इससे संयुक्त राष्ट्र-संघ का संसार में दबदबा छा गया है और सभी देशों ने यह समझ लिया है कि संयुक्त राष्ट्र-संघ केवल संस्ताव पास करके चुप रह जाने वाली संस्था नहीं है, किन्तु अपने निश्चयों को मनवाने का सामर्थ्य भी उसके पास है।

इस सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते कि आजकल की-सी वैज्ञानिक उन्नति के युग में युद्ध को रोकने के लिए सब उपाय किए जाने चाहिएं और सब विवादों का हल वार्तालाप और मध्यस्थता द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र-संघ का सिद्धान्त निस्सन्देह सराहनीय है। किन्तु यदि संयुक्त राष्ट्र-संघ जैसी संस्था भी गुटबन्दी का शिकार हो जाए, तो उसकी सफलता बहुत संदिग्ध हो जाती है। इस समय संसार पूंजीवादी और साम्यवादी, इन दो गुटों में बंटा हुआ है। दोनों गुट एक दूसरे के विरोधी हैं और एक दूसरे पर सन्देह करते हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ में भी साम्यवादी और पूंजीवादी गुट में टक्कर रहती है। संयुक्त राष्ट्र-संघ में बहु-संख्या अमेरिका के समर्थक देशों की है, क्योंकि संयुक्त राष्ट्र-संघ में प्रतिनिधि देशों के हिसाब से लिए जाते हैं, देशों की जन-संख्या के हिसाब से नहीं। यदि यह गुट-बन्दी समाप्त न हुई तो संयुक्त राष्ट्र-संघ देर-सबेर में खुद समाप्त हो जाएगा।

संयुक्त राष्ट्र-संघ अभी तक निष्पक्षता के पूर्ण आदर्श तक नहीं उठ सका है। अमेरिका जैसे प्रभावशाली देश वोटों के बल से अपनी गलत बात भी मनवा लेते हैं। चीन संयुक्त राष्ट्र-संघ का सदस्य है, किन्तु चीन का प्रतिनिधि जनरल चांग-

काई शेक की कुओमिनतांग सरकार का प्रतिनिधि होता है, जिसका शासन चीन की मुख्य भूमि से ३०० मील दूर एक छोटे-से द्वीप ताइवान पर है। ५० करोड़ लोगों पर शासन करने वाली साम्यवादी सरकार का प्रतिनिधि संयुक्त राष्ट्र-संघ में है ही नहीं। कई बार यह मांग उठाई गई कि चीन का प्रतिनिधित्व साम्य-वादी सरकार को करना चाहिए, किन्तु अमेरिका के दबाव के कारण ऐसा संस्ताव हर बार असफल ही रहा। यदि यही प्रवृत्ति चलती रही, तो यह संयुक्त राष्ट्र-संघ के लिए हितकारी नहीं हो सकती।

ऐसे छोटे-मोटे दोषों के होते हुए भी संयुक्त राष्ट्र-संघ के लक्ष्य और आदर्श उच्च और महान् हैं। और ये दोष ऐसे हैं, जिन्हें हटाया जा सकता है और जो समय बीतने के साथ-साथ शायद खुद हट जाएंगे। वर्तमान समय में संसार को और मानव-जाति को विनाश से यदि कोई बचा सकता है, तो वह केवल संयुक्त राष्ट्र-संघ ही है।

दाशमिक मुद्रा और भार-माप-प्रणाली

सन् १८३५ से भारत में रुपया, आना, पाई वाली मुद्रा-प्रणाली चल रही थी। इसमें रुपया दो बराबर आधे भागों में विभक्त होता चला जाता था। एक रुपये में दो अठन्नियां होती थीं; अठन्नी में दो चवन्नियां; चवन्नी में दो दुअन्नियां; दुअन्नी में दो इकन्नियां; इकन्नी में दो अधन्ने और अधन्ने में दो पैसे होते थे। एक पैसे के दो-दो धेले होते थे और एक पैसे में ३ पाइयां होती थीं। इस प्रकार एक रुपये में ६४ पैसे या १९२ पाइयां होती थीं। किसी समय जब व्यापार कम जटिल था, लोगों को वह मुद्रा-प्रणाली सरल प्रतीत हुई थी, क्योंकि इसमें रुपया निरन्तर दो आधे भागों में बंटता चला जाता था और हिसाब-किताब के लिए अन्तिम इकाई पैसे के तीन भाग भी किए जा सकते थे।

परन्तु पिछले दस-पन्द्रह वर्ष से भारत में दाशमिक मुद्र-प्रणाली अपनाने का

विचार चल रहा था। इस सम्बन्ध में प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं, व्यापारिक संस्थाओं, और योजना-आयोग से विचार-विमर्श करने के पश्चात् सितम्बर १९५५ में संसद् ने भारतीय मुद्रा-संशोधन अधिनियम १९५५ पास किया और उसके बाद देश में १ अप्रैल, १९५७ से दाशमिक मुद्रा-प्रणाली लागू कर दी गई। यह निश्चय किया गया कि तीन वर्ष तक नये और पुराने दोनों प्रकार के सिक्के प्रचलन में रहेंगे। धीरे-धीरे पुराने सिक्के समाप्त होते जाएंगे और उनका स्थान नये सिक्के ले लेंगे।

भारत की नई मुद्रा-प्रणाली के अनुसार रुपया १०० पैसों में बांटा गया है। अर्थात् एक रुपये में १०० पैसे होते हैं। इस प्रकार रुपये का मूल्य तो पहले जितना ही रहा है, परन्तु पैसे का मूल्य १/६४ रुपये से घटकर १/१०० रुपया रह गया है। इस मुद्रा-प्रणाली में पैसा प्रथम इकाई है और ऊपर दो पैसा, पांच पैसा, दस पैसा, पचीस पैसा और पचास पैसा भारतीय मुद्रा की अलग-अलग इकाइयां हैं; अर्थात् इन राशियों के सिक्के भारतीय मुद्रा में चल रहे हैं।

दाशमिक मुद्रा-प्रणाली को संसार के अनेक देशों ने अपनाया हुआ है और इसका कारण यही है कि इस प्रणाली में हिसाब-किताब करना बहुत आसान होता है। क्योंकि इसमें सिक्का दस-दस के भागों में बंटता चला जाता है, इसलिए दस से भाग देने के लिए केवल दशमलव चिह्न लगा देने से काम चल जाता है और दस से गुणा करने के लिए अन्त में एक शून्य बढ़ा देना पर्याप्त होता है।

दाशमिक मुद्रा-प्रणाली संसार के १४० देशों में से १०५ देशों में चल रही है। पहले पहल यह प्रणाली अमेरिका में प्रारम्भ हुई थी। उसके बाद फ्रांस ने इसे अपनाया। फिर तो शनैः-शनैः जर्मनी, जापान और रूस इत्यादि अनेक देशों ने इसे अपना लिया। परन्तु इंग्लैंड में यह प्रणाली अब तक भी नहीं अपनाई गई है। वहां के लोग अब भी पुरानी पौंड, शिलिंग, पेंस की मुद्रा-प्रणाली को अपनाए हुए हैं, जिसमें एक पौंड में २० शिलिंग और एक शिलिंग में १२ पेंस होते हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि दाशमिक मुद्रा-प्रणाली से हिसाब-किताब करने में सुविधा रहती है। किन्तु यह सुविधा तभी रह सकती है, जब कि भार और माप के लिए भी दाशमिक-प्रणाली अपनाई जाए। भार और माप की इस दाशमिक प्रणाली को मीटरिक प्रणाली कहा जाता है। इसमें भार और माप की इकाइयां भी दस-

दस के भागों में बंटती चली जाती है, जिससे हिसाब-किताब बिल्कुल सरल हो जाता है। भार के सम्बन्ध में मीटरिक प्रणाली लागू भी की जा चुकी है और धीरे-धीरे दस वर्ष की अवधि में माप की मीटरिक प्रणाली भी सब जगह लागू हो जाएगी।

इतिहास की दृष्टि से विद्वानों का कथन है कि दशमलव का आविष्कार भारतीय गणितज्ञों ने ही किया था और अंकगणित मूलतः भारतवासियों की ही खोज थी। इसलिए दाशमिक प्रणाली को विदेशी प्रणाली न समझकर अपनी ही प्रणाली समझकर अपनाया जाना चाहिए। ऐसा न हो कि भारतीय गणित का जो आविष्कार अन्य देशों में इतना लोकप्रिय हुआ, उससे अपना देश वंचित ही रह जाए।

नई मीटरिक प्रणाली में भार को नापने के लिए ग्राम का प्रयोग किया जाता है। इसकी मूल इकाई ग्राम होती है। १००० ग्राम का एक किलोग्राम होता है और १ ग्राम का हज़ारवां हिस्सा १ मिलीग्राम कहलाता है। इसी प्रकार १० ग्राम का एक डैकाग्राम, १०० ग्राम का एक हैक्टोग्राम होता है। ग्राम का दसवां भाग डैसीग्राम और सौवां भाग सैन्टीग्राम कहलाएगा। इस प्रकार इन बाटों का क्रम यह रहेगा : मिलीग्राम, सैन्टीग्राम, डैसीग्राम, ग्राम, डैकाग्राम, हैक्टोग्राम और किलोग्राम।

इसी प्रकार माप के लिए मीटर इकाई होगी। मीटर के दसवें हिस्से को डैसीमीटर और सौवें हिस्से को सैन्टीमीटर और हज़ारवें हिस्से को मिलीमीटर कहा जाता है। इसी प्रकार दस मीटर का एक डैकामीटर, १०० मीटर का एक हैक्टोमीटर और हज़ार मीटर का एक किलोमीटर होता है। नाप की इकाइयों का क्रम मिलीमीटर, सैन्टीमीटर, डैसीमीटर, मीटर, डैकामीटर, हैक्टोमीटर और किलोमीटर होगा।

आयतन को नापने के लिए लिटर इकाई होगी। लिटर भी मीटर की भांति किलोलिटर और मिलिलिटर में बंट सकेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुद्रा के लिए दाशमिक प्रणाली अपनाए जाने के साथ-साथ जब भार के लिए किलोग्राम और ग्राम अपनाए जाएंगे, नाप के लिए किलोमीटर और मीटर अपनाए जाएंगे, और आयतन नाप के लिए लिटर अपनाया जाएगा, तब हिसाब-किताब बहुत सरल हो जाएगा। यह बात उदाहरण से स्पष्ट

हो जाएगी। कल्पना कीजिए कि कोई वस्तु ५० पैसे की १०० ग्राम के हिसाब से बिक रही है। अब हम उस वस्तु की चाहे जितनी मात्रा का मूल्य पता करना चाहें, हमें हिसाब करने में तनिक भी कठिनाई या विलम्ब नहीं होगा। आवश्यकतानुसार केवल शून्य घटा देने या बढ़ा देने से ही उतनी मात्रा का मूल्य पता किया जा सकेगा। जब तक मुद्रा दाशमिक प्रणाली की है और भार तथा माप किसी अन्य प्रणाली के हैं, तब तक कुछ कठिनाई इस कारण अवश्य हो सकती है कि उनकी कीमतें ऐसे ढंग से रखी गई होती हैं, जिसमें विषम संख्याओं को गुणा करने की आवश्यकता पड़ सकती है। परन्तु जब सभी क्षेत्रों में दाशमिक प्रणाली अपना ली जाएगी, तब इस प्रकार की कठिनाई एकदम समाप्त हो जाएगी।

जब दाशमिक मुद्रा-प्रणाली लागू हुई, तब लोगों को शुरू-शुरू में कुछ असुविधा अवश्य हुई थी, क्योंकि पुराने पैसों का नये पैसों में हिसाब करना विचित्र जान पड़ता था। इतना ही नहीं, बल्कि पुराने पैसों को नये पैसों में परिवर्तित करते समय किसी एक पक्ष को कुछ लाभ रहता था और दूसरे को कुछ हानि रहती थी। एक चौथाई नये पैसों को लेकर अनेक बार लोगों का घंटों विवाद चलता रहता था। परन्तु धीरे-धीरे यह कठिनाई समाप्त हो गई और लोगों ने यह अनुभव कर लिया कि एक चौथाई नया पैसा इतनी बड़ी रकम नहीं है कि उसके लिए बहुत मगज़-पच्ची की जाए। इस दृष्टि से यह परिवर्तन लोगों की मनोवृत्ति में कुछ उदारता लाने में भी सहायक हुआ है।

यह स्वाभाविक है कि जब भार और माप की दाशमिक प्रणालियां लागू होंगी, तब शुरू-शुरू में जनता को कुछ कठिनाई अनुभव होगी, परन्तु धीरे-धीरे लोग नये नापों और नये बाटों के अभ्यस्त हो जाएंगे। यह भी ठीक है कि इस परिवर्तन से लाभ उठाकर कुछ धूर्त लोग अशिक्षित-अनजान लोगों को ठगेंगे भी, परन्तु जिन्हें ठगना है और जिन्हें ठगा जाना है, वे दाशमिक प्रणाली के लिए ही प्रतीक्षा करते नहीं बैठे रहेंगे; उनके लिए सदा अनेक अवसर खुले रहते हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि दाशमिक प्रणाली पहले से प्रचलित प्रणाली की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक है, तो भी देश में इसको इतनी जल्दी लागू करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी? जब देश के

सामने अन्य अनेक बड़ी-बड़ी समस्याएं पडी हुई हैं, तब उनकी ओर ध्यान न देकर इस मामूली काम में शक्ति लगाना और जनता का ध्यान बंटाना उचित नहीं था। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस समय हम उन्नति और समृद्धि के द्वार पर खड़े हैं। देश में बड़ी-बड़ी योजनाएं क्रियान्वित हो रही हैं। औद्योगिक क्षेत्र में तेज़ी से प्रगति हो रही है और बहुत शीघ्र ही हिसाब-किताब का काम स्वतः-चालित मशीनों द्वारा होने लगेगा। ऐसे समय यदि पहले ही दाशमिक प्रणाली अपना ली जाए, तो हिसाब-किताब की स्वतः-चालित मशीनें उसीको ध्यान में रखकर बनाई जाएंगी। यदि इसमें विलम्ब किया गया, तो लोग पुरानी प्रणाली का हिसाब-किताब करने वाली मशीनें मंगवा लेंगे या तैयार करवा लेंगे और उस दशा में प्रणाली में परिवर्तन करने से उन लोगों को भारी हानि उठानी पड़ेगी।

परन्तु अब तो यह प्रणाली लागू हो चुकी है। दाशमिक सिक्के तो चार वर्ष से चल ही रहे हैं, १ अक्तूबर, १९५८ से नये बाट चालू हो गए हैं। १ अक्तूबर १९६० से दाशमिक नाप भी चालू हो गए हैं। संक्रमणकाल में थोड़ी-बहुत कठिनाई होने पर भी बाद में दाशमिक प्रणाली बहुत सुविधाजनक सिद्ध होगी।

सहकारिता-आन्दोलन

जिस भी लेखक ने 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' का वाक्य लिखा था उसने सहकारिता की शक्ति को मन में अवश्य अनुभव कर लिया होगा। वस्तुतः आज के युग में सारी शक्ति मानवीय संगठनों में ही विद्यमान है। सहकारी समितियां भी मनुष्यों के संगठनों का ही एक रूप हैं। सहकारिता-आन्दोलन अल्प साधनों वाले श्रमजीवियों के लिए वरदान सिद्ध हुआ है।

सहकारिता का अर्थ है—साथ मिलकर काम करना। जिन लोगों के पास आर्थिक साधन थोड़े हैं, वे अलग-अलग रहकर किसी काम को भली भांति नहीं कर

सकते; किन्तु यदि वे आपस में मिल जाएं और अपने साधनों को एक जगह मिला लें, तो वे बहुत कुछ काम करने में समर्थ हो सकते हैं; और इस प्रकार पारस्परिक सहयोग द्वारा सभी को लाभ प्राप्त होता है। साथ मिलकर संगठन बना लेने से उन्हें ऐसी अनेक सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं, जो उनके असंगठित दशा में अलग-अलग रहते हुए प्राप्त न होतीं।

कल्पना कीजिए कि एक गांव में पचास किसान रहते हैं। उनमें से हरएक के पास दस-दस बीघा भूमि है। उस दस बीघा भूमि पर खेती करने के लिए न तो किसान ट्रैक्टर रख सकता है, न पहरेदार रख सकता है, न सिंचाई के लिए कुआं खोदकर उसपर रहट या ट्यूबवैल लगा सकता है; क्योंकि उस दस बीघा ज़मीन से होने वाली उपज इतनी काफी नहीं है कि उसके लिए ये सब बखेड़े किए जा सकें। परन्तु यदि वे पचास किसान अपनी दस-दस बीघा भूमि को एक जगह मिला लें, तो उस पांच सौ बीघा भूमि की जुताई के लिए वे मिलकर ट्रैक्टर खरीद सकते हैं और सिंचाई के लिए ट्यूबवैल लगवा सकते हैं। अलग-अलग किसान को महाजन से रुपया उधार लेने में बहुत कठिनाई पड़ती है, क्योंकि अलग-अलग किसान की साख कम होती है; किन्तु यदि वे आपस में मिलकर एक सहकारी समिति बना लें, तो सहकारी समिति को उधार भी आसानी से मिल सकता है, क्योंकि उस उधार को लौटाने की ज़िम्मेदारी एक नहीं, अपितु पचास व्यक्तियों पर है। इसी प्रकार तैयार फसल को बेचने की सुविधा भी सहकारी समिति को अलग-अलग किसान की अपेक्षा अधिक है। समिति अच्छी तरह भाव-ताव कर सकती है और ज़रूरत पड़ने पर फसल को कुछ देर रोककर भी रख सकती है, जो अकेले गरीब किसान के लिए सम्भव नहीं है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सहकारी समिति बना लेने पर उसके सब सदस्यों को अधिक सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। उन्हें श्रम कम करना पड़ता है और लाभ अधिक होता है। वे एक दूसरे का सहारा बन जाते हैं। इस लाभ का मूल कारण यह है कि सहकारी समिति में सब सदस्यों का उत्तरदायित्व संयुक्त होता है। समिति के लाभ और हानि दोनों के लिए सभी सदस्य ज़िम्मेदार होते हैं।

सहकारी समितियां अनेक प्रकार की होती हैं। एक ओर उत्पादकों की सह-

कारी समितियां होतीं हैं, जो वस्तुओं के उत्पादन के लिए परस्पर सहयोग करती हैं। कृषि सहकारी समितियां या जुलाहों की या बढ़इयों की सहकारी समितियां इसी प्रकार की हैं। दूसरी ओर उपभोक्ताओं की सहकारी समितियां हैं। इन समितियों के सदस्य अपने काम में आने वाली वस्तुओं को मिलकर खरीद लेते हैं और उन्हें आपस में बांट लेते हैं। इससे उन्हें वस्तुएं अच्छी और सस्ते दाम पर मिल जाती हैं। सहकारी समिति किसी भी प्रयोजन के लिए बनाई जा सकती है। मकान बनाने के लिए या ऋण लेने के लिए भी सहकारी समितियां बनाई जाती हैं, जिससे उनके सदस्यों को कम ब्याज पर ऋण प्राप्त हो जाता है। कुछ समितियां बहुप्रयोजनी सहकारी समितियां होती हैं। नाम से ही स्पष्ट है कि ये अनेक कार्य एक साथ करती हैं।

सहकारिता-आन्दोलन का प्रारम्भ सबसे पहले जर्मनी में हुआ। भारत में सन् १९०० के लगभग सरकार ने सहकारिता-आन्दोलन को प्रोत्साहन देना शुरू किया। १९०४ में भारत सरकार ने पहला सहकारी समिति-अधिनियम पास किया। इसके बाद भारत में सहकारिता-आन्दोलन बहुत तेज़ी से बढ़ा। सन् १९०६ में देश में कुल ८४३ सहकारी समितियां थीं, जिनकी पूंजी २४ लाख रुपये थी। १९११ में समितियों की संख्या ८१७७ हो गई और उनकी पूंजी ३ करोड़ ३६ लाख रुपये थी। १९१२ में एक और अधिनियम बनाकर सहकारिता-आन्दोलन को और अधिक नियन्त्रित तथा व्यवस्थित कर दिया गया।

प्रथम विश्व-युद्ध का सहकारी आन्दोलन पर उत्साहवर्धक प्रभाव पड़ा; किन्तु युद्ध के बाद १९२९ में जो विश्वव्यापी मन्दी आई, उसके कारण सहकारी समितियों का काम लगभग ठप-सा हो गया। अधिकांश सहकारी समितियां कृषि सहकारी समितियां थीं और कृषि उपज के दाम बहुत गिर जाने से किसानों को बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ी थी। इसलिए बहुत-सी सहकारी समितियां बन्द हो गईं।

जब १९३९ में दूसरा विश्व-युद्ध शुरू हुआ, तब सहकारिता-आन्दोलन को फिर नया बल मिला। १९३९ में देश में सहकारी समितियों की संख्या ११ ०० थी, जो ६ साल बाद १९४५ में १७२१७० हो गई। देश के स्वाधीन होने के बाद सहकारिता-आन्दोलन में और भी अधिक प्रगति हुई है, क्योंकि सरकार सहकारिता-

आंदोलन को बहुत प्रोत्साहन दे रही है और सहकारी समितियों को अधिकाधिक सुविधाएं दी जा रही हैं। १९५९ में नागपुर में हुए कांग्रेस अधिवेशन के संस्ताव के बाद तो सहकारिता हमारा एक मुख्य लक्ष्य बन गया है।

इस समय हमारे दरिद्र और उदीयमान देश के सम्मुख अनेक समस्याएं हैं, जिनका हल सहकारिता-आंदोलन द्वारा ही अच्छी तरह किया जा सकता है। सबसे बड़ी समस्या भोजन, वस्त्र और मकानों की है। भोजन की समस्या का सम्बन्ध खेती से है। यह सबको मालूम है कि भारतीय कृषि की दशा बहुत पिछड़ी हुई है। भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी है, जिसपर खेती करना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है। सहकारी समितियां बनाकर इस समस्या को हल किया जा सकता है। यदि गांवों के किसान सहकारी समिति बनाकर अपनी भूमि को मिलाकर एक कर लें, और सहकारी ढंग पर खेती करें, तो उससे किसानों को तो लाभ होगा ही, देश की खाद्य-समस्या भी हल हो जाएगी।

इसी प्रकार लोगों के पास पहनने को पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं। वैसे तो भारत से वस्त्र का निर्यात होता है, किन्तु गरीब लोग मंहगा कपड़ा खरीदकर नहीं पहन सकते। गांधी जी इसीलिए स्वदेशी वस्त्र का प्रचार करते थे। यदि गांवों में जुलाहों की सहकारी समितियां स्थापित की जा सकें, तो वस्त्रों का उत्पादन बहुत बढ़ सकता है और वस्त्र सस्ते भी हो सकते हैं। केवल वस्त्र ही क्यों, सभी कुटीर-उद्योगों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। जापान जैसे देश में, जहां प्राकृतिक साधन बहुत अल्प हैं और सभी कृषिज और खनिज कच्चे माल का बाहर से आयात करना पड़ता है, सहकारी समितियों के कारण कुटीर-उद्योग खूब पनप रहे हैं और वहां का माल सस्तेपन में संसार के किसी भी देश को चुनौती दे सकता है। सहकारी समितियों द्वारा भारत इस दिशा में जापान से अधिक प्रगति कर सकता है।

मकानों की समस्या भी देश में बहुत बड़ी समस्या है। सामान्य आय वाले व्यक्ति के लिए अपना मकान बना पाना एक स्वप्न-सा ही प्रतीत होता है। किन्तु यदि भवन-निर्माण के लिए सहकारी समितियां बना ली जाएं, तो लोग आसानी से मकान बनवा सकते हैं। सहकारी समितियां मकान बनाने के लिए उधार दे

देती हैं, जिसे सदस्य धीरे-धीरे किश्तों में चुकाता रह सकता है। सहकारी समितियों को ऋण सहकारी बैंकों से प्राप्त होता है।

भारत में ग्रामों में ऋण की समस्या बहुत बड़ी समस्या है। गांव का महाजन इतने मंहगे सूद पर ऋण देता है कि मूल तो दूर, सूद का उतरना ही कठिन हो जाता है। सहकारी समितियां इस ऋण की समस्या को भी हल कर सकती हैं। गांवों के लिए तो बहुप्रयोजनी समितियां सबसे अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकती हैं। सारे गांव में एक ही सहकारी समिति होनी चाहिए, जो गांव की सभी समस्याओं को हल कर सके।

आंकड़ों की दृष्टि से ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि भारत में सहकारिता-आंदोलन को बहुत सफलता मिली है, परन्तु जब हम देश की विशालता की ओर ध्यान देते हैं, तो यह सफलता नहीं के बराबर जान पड़ती है। इतने बड़े देश में, जहां गांवों की संख्या छह लाख है, सवा लाख समितियां बहुत कम हैं। कारण कि सहकारी समितियों की बहुत बड़ी संख्या तो शहरों में है।

भारत में सहकारिता-आंदोलन के पूरी तरह सफल न होने के कई कारण हैं। सबसे बड़ा कारण है—लोगों की अशिक्षा। अशिक्षित होने के कारण लोग सहकारी समितियों के लाभों को भली भांति समझ नहीं पाते। किसीने उनको समझाने का यत्न भी नहीं किया। सरकारी अफसरों ने सहकारी समितियां ग्रामीण जनता के सिर पर लगभग बलपूर्वक ही थोप दीं। सहकारिता-आंदोलन की असफलता का दूसरा कारण यह था कि लोगों ने सहकारी समितियों से सहयोग नहीं किया। जिन महाजनों के हितों को सहकारी समितियों से नुकसान पहुंचता था, उन्होंने इन्हें समाप्त करने के लिए भरसक चेष्टा की। सहकारी समितियां भी कुछ कम ब्याज नहीं लेती थीं और उनसे ऋण लेने में और कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, इसलिए सहकारी समितियों से ऋण लेने का किसानों का उत्साह स्वयं ही समाप्त हो गया।

पहले कभी हमारे देश में ईमानदारी और नैतिकता का स्तर बहुत ऊंचा था। किंतु दासता के दो सौ वर्षों में यह धीरे-धीरे नीचे गिरता गया। सहकारी समितियों से जो लोग ऋण लेते थे, वे फिर उसे लौटाने का नाम नहीं लेते थे। ऋण

प्रायः उन्हीं लोगों को मिलता था, जो समिति के संचालकों के अपने आदमी होते थे। इसीलिए कर्ज़ न लौटाने वालों के विरुद्ध समिति कानूनी कार्रवाई भी नहीं करती थी और समिति डूब जाती थी। सरकारी सहकारिता-विभाग का नियन्त्रण भी सहकारिता-आन्दोलन की प्रगति की राह में एक बड़ा रोड़ा बना रहा। सहकारी समितियों के संचालक सरकारी अफसरों को खुश करने का अधिक प्रयत्न करते थे और अपने सदस्यों के हित का ध्यान कम रखते थे। इन सब बिघ्न-बाधाओं के होते हुए भारत में सहकारिता-आन्दोलन को जो सफलता मिली है, वह बहुत सराहनीय है।

इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि भारत के लिए सहकारिता-आन्दोलन अत्यन्त लाभदायक है। इसको और अधिक बढ़ाने के लिए यथासम्भव सब नये प्रयत्न किए जाने चाहिएं। परन्तु अब देश के सबसे बड़े राजनीतिक दल कांग्रेस ने और उसके साथ ही सरकार ने भी सहकारी समितियों की स्थापना पर विशेष ध्यान देना शुरू किया है। समाजवादी समाज की स्थापना के लिए यह नीति निर्धारित की गई है कि सारे देश में सेवा-सहकारी समितियां स्थापित की जाएं। उनका ऐसा जाल देश में बिछा दिया जाए कि लोगों के हित मुख्यतया सहकारिता के आधार पर ही पूर्ण हो सकें। इससे स्पष्ट है कि निकट भविष्य में हमारे देश में सहकारिता-आन्दोलन में तेज़ी से प्रगति होगी।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. भारत में सहकारिता-आन्दोलन की प्रगति

शिक्षा, समाज

सहशिक्षा

सहशिक्षा का अभिप्राय है—बालक और बालिकाओं की साथ-साथ शिक्षा ; अर्थात् यह कि बालक और बालिकाएं एक ही विद्यालय में रहकर पढ़ें-लिखें। वैसे तो समाज में स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहते हैं, इसलिए बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा के सम्बन्ध से कोई विवाद उठना ही नहीं चाहिए ; किन्तु इस सम्बन्ध में पिछले तीस वर्षों से ज़ोरदार विवाद चलता रहा है और दोनों ही पक्षों के समर्थकों ने अपने-अपने पक्ष में काफी ज़ोरदार युक्तियां दी हैं।

कभी प्राचीनकाल में स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा पुरुषों के समान ही होती थी। वेदों में मन्त्र रचने वाली स्त्री-ऋषियों के भी नाम मिलते हैं। उपनिषदों में गार्गी का वर्णन मिलता है, जिसने अपने प्रश्नों द्वारा महर्षि याज्ञवल्क्य को भी चकरा दिया था। शंकराचार्य का मंडन मिश्र की पत्नी से शास्त्रार्थ हुआ था। किन्तु मध्य युग में आकर स्त्रियों की पढ़ाई-लिखाई बिलकुल बन्द हो गई। न जाने कब कौन कलियुगी ऋषि लिख गए—'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्र न पढ़ें। मुगलकाल में स्त्रियों का घर से बाहर निकलना भी विपदाजनक समझा जाता था। इसलिए परदे की प्रथा का भी आविष्कार हुआ। इसलिए उन दिनों स्त्री-शिक्षा का समाज से लोप ही हो गया। स्त्रियां पढ़ें, या न पढ़ें, यह प्रश्न भी अब से लगभग सवा सौ साल पहले उठा और बहुत धीरे-धीरे स्त्रियों की शिक्षा प्रारम्भ हुई। परन्तु अब प्रश्न यह है कि लड़कियों को शिक्षा के लिए अलग संस्थाएं हों, या उनको लड़कों के साथ ही एक ही प्रकार के विद्यालयों में पढ़ने दिया जाए।

इस सम्बन्ध में कुछ लोग प्राचीन परम्परा के अनुयायी हैं। मनु महाराज की मनुस्मृति में यह विधान किया गया है कि विवाह से पूर्व किशोर आयु के बालक और बालिकाओं को एक दूसरे से दूर रखा जाना चाहिए और उनकी शिक्षा-दीक्षा पृथक् होनी चाहिए। उनके मन में मुख्य बात ब्रह्मचर्य और चरित्र संबंधी है।

उनका कथन है कि चढ़ती जवानी के दिनों में युवक और युवतियों में आवेश तो बहुत होता है, किन्तु विवेक नहीं होता। यदि उस आयु में युवक और युवतियां साथ रहें, तो उनका ध्यान पढ़ाई की ओर केन्द्रित नहीं हो सकेगा। वे शृंगार और प्रेम की ओर अधिक ध्यान देने लगेंगे। जिस यौवनकाल की शक्तियों का प्रयोग कठोरता के साथ विद्या-अर्जन करने के लिए किया जाना चाहिए और जो मानव-जीवन में साधना का समय है, वह प्रेमलीलाओं में बीत जाएगा। इस बात की सम्भावना भी बहुत अधिक है कि उनके चरित्र दूषित हो जाएंगे और वे पथभ्रष्ट भी हो सकते है।

युवकों और युवतियों को इस प्रकार मिलने-जुलने की इतनी अधिक स्वाधीनता देना कि वे एक दूसरे से गहरा प्रेम करने लगें, उस दशा में उचित भी समझा जा सकता था, जब कि इस बात की सम्भावना होती कि वे प्रेमी और प्रेमिका आगे चलकर विवाह के सूत्र में बंध सकेंगे। परन्तु सामाजिक बन्धनों को देखते हुए अनेक मामलों में ऐसा हो पाना सम्भव नहीं होता। कहीं जाति नहीं मिलती ; कहीं दोनों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में बहुत अधिक अन्तर होता है, जिसके कारण इस प्रकार के प्रेम का अन्त प्रायः दुःख में ही होता है।

सहशिक्षा के विरोध में दूसरी युक्ति तर्क पर आधारित है। वह युक्ति यह है कि प्रकृति ने पुरुषों और स्त्रियों को अलग-अलग कार्यों के लिए बनाया है। दोनों के स्वभाव पृथक् होते हैं ; दोनों की शरीर-रचना भी मूलतः भिन्न होती है। पुरुष कठोर परिश्रम कर सकते हैं और भयानक साहस के कार्य करने में उन्हें आनन्द आता है। स्त्रियां स्वभाव से कोमल और सुकुमार होती हैं। वे अल्प परिश्रम वाला कार्य धीरे-धीरे बहुत लम्बे समय तक करती रह सकती हैं। वस्तुतः पुरुष और स्त्री एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए उनकी शिक्षा भी उन्हें एक दूसरे का अच्छा पूरक बनाने के लिए होनी चाहिए। सहशिक्षा में दोनों को एक ही प्रकार की शिक्षा मिलने से दोनों में एक ही प्रकार के गुण विकसित होंगे और वे एक दूसरे के पूरक न बनकर एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी बन जाएंगे। लड़कों में कुछ-कुछ भीरुता की प्रवृत्ति आ जाएगी और लड़कियां लड़कों की देखा-देखी अपना समय घर के काम-काज में न बिताकर बाहर घूमने-फिरने में बिताया करेंगी।

परन्तु सहशिक्षा के समर्थक इन युक्तियों को बहुत महत्व नहीं देते। उनका कथन है कि सहशिक्षा से बालक और बालिकाओं को निकट रहने का अवसर मिलता है। वे एक दूसरे से बहुत परिचित हो जाते हैं ; इसलिए उनमें बहुत-से ऐसे गुण विकसित हो जाते हैं, जो अलग रहते हुए न हो सकते। लड़के लड़कियों की उपस्थिति में अधिक भद्र और शिष्ट व्यवहार करना सीखते हैं। लड़कियां लड़कों की उपस्थिति में सौम्य, हंसमुख और शान्त रहना सीख जाती हैं। अनुभव से देखा गया है कि सहशिक्षा वाले विद्यालयों के छात्र-छात्राएं अधिक परिष्कृत रुचि के होते हैं।

दूसरी बात यह है कि जिन विद्यालयों में सहशिक्षा नहीं होती, उनके छात्र या उनकी छात्राएं बहुत संकोची और झेंपू होते हैं। लड़के लड़कियों से और लड़कियां लड़कों से बहुत कतराती हैं, और एक दूसरे से दूर ही दूर रहने का यत्न करते हैं। इस तरह दोनों के ही व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होता।

जहां तक चरित्र के बिगड़ने का भय है, उसकी सम्भावना सहशिक्षा में कम और सहशिक्षा के अभाव में अधिक होती है। जो वस्तु दूर हो, उसके प्रति आकर्षण अधिक होता है। इसलिए लड़कों से बिलकुल अलग रहने वाली लड़कियों या लड़कियों से बिलकुल अलग रहने वाले लड़कों में एक दूसरे के पास पहुंचने और दूसरे को प्राप्त करने की कामना अधिक होती है। उस दशा में चरित्र-दोष का भय अधिक हो सकता है ; किन्तु सहशिक्षा में लड़के-लड़कियां सारे समय एक दूसरे के साथ रहते हैं ; इसलिए उनमें वैसा आकर्षण जाग नहीं पाता, अपितु वे एक दूसरे का सम्मान करना सीखते हैं। इस प्रकार सहशिक्षा के समर्थकों का कथन है कि सहशिक्षा तो नैतिक चरित्र को सुधारने में सहायक है।

एक और प्रश्न यह है कि यदि सहशिक्षा न हो, तो क्या हो ? दूसरा विकल्प यही हो सकता है कि लड़कों और लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् शिक्षा-संस्थाएं हों। प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में तो इस प्रकार की व्यवस्था कर पाना कठिन नहीं है, क्योंकि उनमें छात्र-छात्राओं की संख्या काफी होती है; किंतु यदि यह मान लिया जाए कि उच्च शिक्षा भी लड़कियों को मिलनी चाहिए, तो कठिनाई उपस्थित होती है, क्योंकि उच्च शिक्षा पाने के लिए उद्यत छात्राओं की

संख्या इतनी नहीं होगी कि उनके लिए पृथक् शिक्षणालय खोले जा सकें। हमारे गरीब देश में उच्च शिक्षा देने वाली संस्थाएं पहले ही कम हैं। वे लड़कों के लिए ही अपर्याप्त हैं। यदि उनमें से भी कुछ केवल लड़कियों की शिक्षा के लिए सीमित कर दी जाएं, तो बहुत कठिनाई होगी। एक ओर तो लड़कियों के लिए नियत कर दी गई संस्थाओं में छात्राओं का अभाव होगा; दूसरी ओर शिक्षा-संस्थाओं के अभाव में बहुत-से छात्र शिक्षा से वंचित रह रहे होंगे। इसलिए लड़कियों को उच्च शिक्षा देने का सहज उपाय यही है कि वे लड़कों के साथ ही शिक्षा प्राप्त करें।

फिर, यदि लड़कियों के लिए पृथक् शिक्षा-संस्थाएं खोली जाएं, तो यह भी आवश्यक है कि उनमें अध्यापन का कार्य भी स्त्रियां ही करें। यदि उन संस्थाओं में भी पुरुष अध्यापक पढ़ाएं, तो यह प्रयोजन ही पूरा नहीं होगा, जिसके लिए वे शिक्षा-संस्थाएं पृथक् खोली गई थीं। किन्तु अभी तक हमारे देश में स्त्री-शिक्षकों की बहुत कमी है। इसलिए सहशिक्षा ही शिक्षा का एकमात्र उपाय रह जाता है।

सहशिक्षा के समर्थकों का यह भी कथन है कि सहशिक्षा वाले विद्यालयों और महाविद्यालयों में छात्र-छात्राओं में जो प्रेम हो जाता है, वह अनेक बार जीवन-व्यापी बन जाता है। ऐसे युगल विवाह करके जीवन भर सुखी रहते हैं।

इतना तो स्पष्ट ही है कि युग का प्रवाह सहशिक्षा के पक्ष में है। स्त्रियों के छिने हुए अधिकार उन्हें वापस मिल रहे हैं; बल्कि किसी सीमा तक पुरुषों के अधिकार भी छीनकर उनको दिए जा रहे हैं। अब से बीस वर्ष पहले जो स्त्रियां बिना गज भर लम्बा घूंघट निकाले घर से बाहर नहीं निकलती थीं, वे ही आज कालेज में शिक्षा पाकर बाल कटवाकर अठखेलियां करती हुई साइकिलों पर जाती हुई देखी जा सकती हैं। संविधान में भी स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार दिए गए हैं और केवल लिंग-भेद के कारण किसीको उन्नति के किसी अवसर से वंचित नहीं किया जा सकता। सहशिक्षा को लोग पसन्द करें या न करें, अभी कुछ समय तक वह बढ़ेगी ही।

जहां तक युक्तियों का प्रश्न है, सहशिक्षा के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही युक्तियां ज़ोरदार हैं। फिर भी उनका महत्व युक्तियों जितना ही है, उससे अधिक

नहीं। उदाहरण के लिए सहशिक्षा का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि वह पृथक् शिक्षा की अपेक्षा सस्ती रहेगी। किन्तु सस्ता होना अपने आपमें सबसे बड़ी युक्ति नहीं है। अगर चीज़ अच्छी न हो, तो केवल सस्ता होने के कारण उसे ग्रहण करना विज्ञ लोगों का काम नहीं। इसी प्रकार यह कहना कि विद्यालयों में छात्र और छात्राएं एक दूसरे के स्वभाव से परिचित हो जाते हैं और एक दूसरे का आदर करना सीख जाते हैं, सत्य के बहुत निकट प्रतीत नहीं होता। क्या विद्यालय छात्र और छात्राओं का परिचय कराने के स्थान हैं? क्या छात्र और छात्राओं का इस प्रकार का परिचय घरों में नहीं होता? ऐसा परिचय तो घरों में और अनेक सामाजिक समारोहों में होता ही रहता है। बल्कि अनुभव यह बताता है कि सह-शिक्षा वाली संस्थाएं विद्या की उपासना के मंदिर न बनकर कुछ और ही वस्तु बन गई हैं, जहां छात्र और छात्राएं अपनी ओर से अधिकतम सज-धजकर जाते हैं और एक दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी मनोदशा के रहते विद्या का कितना अर्जन हो पाता होगा, समझ पाना कठिन नहीं है।

पक्ष-विपक्ष दोनों पर विचार करने के बाद शिक्षा-शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि ग्यारह वर्ष तक की आयु के छात्र-छात्राओं की शिक्षा साथ होने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि तब तक उनमें किशोरावस्था की वे प्रवृत्तियां नहीं पनप पातीं, जो उनमें वासनात्मक आकर्षण उत्पन्न करती हैं। ग्यारह वर्ष के बाद सत्रह वर्ष तक की आयु के छात्र-छात्राओं की शिक्षा पृथक् संस्थाओं में होनी चाहिए, क्योंकि यह आयु ही वह विशिष्ट आयु है, जिसमें आवेश अधिक और विवेक कम होता है। ऐसी अवस्था में ऐसी भूलें हो सकती हैं, जिन्हें शायद फिर सुधारा न जा सके। अठारह वर्ष से अधिक आयु के छात्र-छात्राओं की शिक्षा फिर साथ हो सकती है। क्योंकि उस समय तक व्यक्ति में अपना भला-बुरा समझने का विवेक आ जाता है।

वस्तुतः यही व्यवस्था सहशिक्षा और पृथक् शिक्षा के बीच मध्यम मार्ग बन सकती है, जो दोनों से ही अच्छी सिद्ध होगी; जिसमें सहशिक्षा से होने वाले लाभ तो होंगे, किन्तु हानियों से बचाव हो सकेगा।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. सहशिक्षा के गुण-दोष

भारत की शिक्षा-प्रणाली

बहुत प्राचीन काल में भारत सारे संसार में ज्ञान और विद्या का केन्द्र था। संसार के दूर-दूर के प्रदेशों से लोग विद्या प्राप्त करने के लिए भारत में आया करते थे। संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद की रचना भी भारत में ही हुई थी। मौर्यकाल में तक्षशिला संसार का सबसे बड़ा और सबसे प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय था। उसके बाद भी गुप्त काल में नालन्दा और विक्रमशिला की ख्याति न केवल इस देश में, अपितु विदेशों में भी थी और शिक्षार्थी लोग अनेक विघ्न-बाधाओं को सहते हुए यहां आते थे। भारत से भी अनेक विद्वान्; उपदेशक और प्रचारक दूसरे देशों में जाया करते थे।

जब से भारत पर विदेशी शकों और हूणों के आक्रमण होने शुरू हुए, तभी से देश में राजनीतिक शक्ति के ह्रास के साथ-साथ विद्या का भी ह्रास होने लगा। विद्या और लक्ष्मी, दोनों का विकास शान्तिकाल में ही हो पाता है। पश्चिम की ओर से जब मुसलमान आक्रान्ता धीरे-धीरे भारत पर अपना आधिपत्य जमाने और बढ़ाने लगे, तब भारत के विद्या-केन्द्र भी धीरे-धीरे क्षीण होते चले गए। आक्रान्ता मुसलमान स्वयं अशिक्षित थे और उनमें धर्म का उन्माद बहुत अधिक था। इतिहास में लिखा है कि विजेता मुसलमानों ने अनेक पुस्तकालयों को जलाकर राख कर दिया। उस युग में, जबकि प्रेस नहीं थे और पुस्तकें बड़े परिश्रम से हाथ द्वारा लिखी जाती थीं, पुस्तकालयों की यह क्षति देश के लिए बहुत बड़ी थी। देश की विद्या और शिक्षा को जो धक्का उस समय लगा, उससे वह पूरी तरह कभी संभल नहीं पाया।

प्राचीन काल में गुरु लोग अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। गुरु का स्थान बहुत ऊंचा होता था और विद्यार्थी उनके पुत्रों की भांति ही उनके आश्रम में रहकर पढ़ा करते थे। शिक्षा निःशुल्क होती थी। आगे चलकर जब बड़े-बड़े विश्व-विद्यालय बने, तो उन विश्वविद्यालयों को भी राजाओं की ओर से बहुत बड़ी आर्थिक सहायता मिलती थी। न केवल धर्मग्रंथों की शिक्षा दी जाती थी, अपितु

साहित्य, आयुर्वेद और ज्योतिष की शिक्षा भी विद्यमान थी। किन्तु मुगल-काल में शिक्षा की कोई व्यवस्थित प्रणाली नहीं रही। जो थोड़ी-बहुत शिक्षा थी भी, वह केवल धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन तक ही सीमित रही। उस समय आजकल की भांति पुस्तकें सुलभ नहीं थीं, इसलिए पढ़ने वाले लोगों की संख्या बहुत ही कम होती थी। अधिकांश लोग अशिक्षित रहकर ही अपनी जीविका-उपार्जन के कार्य में जुट जाते थे।

अंग्रेज़ों का राज्य भारत में जमने के बाद भारतीय शिक्षा का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। अंग्रेज़ों ने यहां के लोगों को शिक्षा देना शुरू किया। उनके सामने एक स्पष्ट और निश्चित उद्देश्य था। वे यहां की बोली नहीं समझते थे, किन्तु देश उनके अधिकार में आ चुका था और उसपर उन्हें शासन करना था। इसलिए यह आवश्यक था कि वे कुछ लोगों को अपनी भाषा सिखा दें और उनके द्वारा देश के शासन का कार्य चलाएं। संक्षेप में, उन्होंने शिक्षा क्लर्क तैयार करने के लिए प्रारंभ की थी। इन क्लर्कों को अंग्रेज़ी भाषा और दफ्तर में काम आने वाला गणित सीख लेना काफी था। इस प्रकार की शिक्षा का प्रचार देश में बहुत जल्दी हुआ, क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर नौकरी आसानी से मिल जाती थी, जो बहुत बड़ा प्रलोभन था।

इस प्रकार की अंग्रेज़ी शिक्षा देने में अंग्रेज़ शासकों का एक और भी उद्देश्य यह था कि वे भारतीय संस्कृति और परम्पराओं को अपने देश की संस्कृति और परम्पराओं की तुलना में नीचा दिखा सकते थे। उन्होंने इतिहास और नागरिकशास्त्र इस ढंग से पढ़ाने शुरू किए, जिससे छात्रों पर यह प्रभाव पड़ता था कि अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व भारत में कोई अच्छी बात थी ही नहीं; यहां के निवासी असभ्य और बर्बर थे; और यह कि उनकी तुलना में इंग्लैंड का इतिहास बहुत अधिक उज्ज्वल है। इसका परिणाम यह होना स्वाभाविक ही था कि ऐसी शिक्षा-संस्थाओं से पढ़कर जो लोग स्नातक हों, वे अपने आपको अंग्रेज़ शासकों की तुलना में हीन समझें और उनके विनीत सेवक बने रहने में गर्व अनुभव करें।

ज्यों-ज्यों देश में राजनीतिक चेतना बढ़नी शुरू हुई, त्यों-त्यों देश के नेताओं का ध्यान इस राष्ट्रविरोधी शिक्षा के दोषों की ओर गया। उन्होंने देखा कि शिक्षा के नाम पर विद्यार्थियों को केवल अंग्रेज़ी लिखना और बोलना सिखाया जाता है।

सब विषयों की पढ़ाई का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा ही रखी गई थी और अंग्रेज़ी सीखने ही सीखने में विद्यार्थियों के इतने साल बीत जाते थे कि उसके माध्यम से वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर आ ही नहीं पाता था। इतना अवश्य हो जाता था कि अंग्रेज़ी पढ़ना और लिखना सीख जाने के बाद शिक्षित हो जाने का दावा करने वाले ये लोग अंग्रेज़ी ढंग की वेष-भूषा पहनना, अंग्रेज़ी रहन-सहन की अधूरी-सी नकल करना और अंग्रेज़ी भाषा में अपने पूर्वजों को कोसना भली भांति सीख जाते थे। शुरू में इस तरह की शिक्षा बहुत सुलभ न होने पर भी बहुत दुर्लभ नहीं थी। किन्तु समय बीतने के साथ-साथ यह शिक्षा मंहगी होती गई और इसे प्राप्त कर पाना केवल शहर में रहने वाले लोगों के लिए ही सम्भव रह गया। गांव में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए केवल एक ही उपाय था कि यदि वे शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं तो शहर में आकर रहें।

इन दोषों को देखते हुए अनेक सामाजिक और राजनीतिक नेताओं ने शिक्षा-प्रणाली में सुधार के प्रयत्न किए। महात्मा मुंशीराम ने, जिनका नाम बाद में स्वामी श्रद्धानन्द प्रसिद्ध हुआ, सन् १८६० के आसपास गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। इसमें उन्होंने दो बातों पर बल दिया। पहली बात यह कि विद्यार्थियों की शिक्षा अपने देश की भाषा अर्थात् हिन्दी के माध्यम से हो; सब विषय हिन्दी में पढ़ाए जाएं और दूसरी बात यह कि विद्यार्थियों में अपने देश के इतिहास और संस्कृति के प्रति गौरव का भाव जागाया जाए। इसके लिए गुरुकुल में संस्कृत साहित्य का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया। आज इन सिद्धान्तों को सारे देश में स्वीकार कर लिया गया है।

जब तक पुराने ढंग की अंग्रेज़ी शिक्षा पाने से लोगों को नौकरियां मिलती रहीं, तब तक तो वह प्रणाली दूषित होते हुए भी छात्रों को अपनी ओर आकृष्ट करती रही। किन्तु शीघ्र ही ऐसा समय आ गया, जब पढ़े-लिखों की संख्या इतनी अधिक हो गई कि उन्हें नौकरियां दे पाना सरकार के लिए कठिन होया। इससे शिक्षित वर्ग में बेकारी फैल चली। उस शिक्षा में जीविका-उपार्जन का एकमात्र उपाय नौकरी ही रह जाता था। नौकरी न मिलने की दशा में बी० ए० पास व्यक्ति की दशा परकटे पंछी की-सी हो जाती थी। पढ़-लिखकर मेहनत-मज़दूरी करना अथवा अन्य

किसी कला-कौशल द्वारा अपना निर्वाह कर पाना उनके बस का नहीं रहता था।

इस बात की ओर महात्मा गांधी का ध्यान गया। उन्होंने देखा कि न केवल वह शिक्षा बहुत खर्चीली है, अपितु वह विद्यार्थी को पंगु भी बना देती है; उसका आत्मविश्वास छीन लेती है। इसलिए गांधीजी ने अपनी एक नई वर्धा-शिक्षा-योजना बनाई, जिसे बाद में 'बुनियादी तालीम' या 'बेसिक शिक्षा' नाम दिया गया। बेसिक शिक्षा का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि शिक्षा केवल किताबी न होनी चाहिए, अपितु उसका जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। छात्र जिन परिस्थितियों में रहता है और जिस वातावरण में उसे अपना जीवन बिताना है, उसीके आधार पर उसे शिक्षा दी जानी चाहिए। साथ ही पढ़ाई के साथ-साथ कोई न कोई उद्योग-धन्धा, शिल्प या कला-कौशल भी सिखाया जाना चाहिए, जिसके द्वारा पढ़ाई समाप्त करने के बाद विद्यार्थी अपनी जीविका भी कमा सके। कला-कौशल की शिक्षा देने में एक यह भी उद्देश्य था कि इससे शिक्षा सस्ती हो जाएगी। शिक्षा पर होने वाला व्यय बहुत कुछ उन उद्योग-धन्धों और कला-कौशल द्वारा तैयार की गई वस्तुओं से ही निकल आएगा।

स्वाधीनता प्राप्त होने से पहले ही देश के शिक्षाशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि बालक को शिक्षा उसकी मातृभाषा के माध्यम से ही दी जानी चाहिए। विदेशी भाषा का बोझ विद्यार्थी के सिर पर लादना उसके ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में रोड़े अटकाना है।

बहुत समय तक शिक्षा के उद्देश्य के संबन्ध में लोगों के मन में भ्रांति बनी रही और अब तक बनी हुई है। शिक्षाशास्त्री तो इस बात को समझते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के मन का विकास करना है; शिक्षा मनुष्य की बुद्धि को प्रखर करती है और उसके ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार करती है; उसे निर्भय और आत्म-निर्भर बनाती है; किन्तु अधिकांश छात्र और छात्राओं के अभिभावक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यह समझते हैं कि शिक्षा पाकर व्यक्ति नौकरी करके धन कमाने लायक बन सके। वस्तुतः सचाई यह है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो एक ओर मनुष्य के मन का विकास भी करे और दूसरी ओर अपनी आजीविका कमाकर उसे अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ भी बनाए। इसीलिए आजकल कला और साहित्य

की शिक्षा के साथ-साथ आजीवों (पेशों) के प्रशिक्षण को भी शिक्षा का अनिवार्य अंग माना जाने लगा है।

देश के स्वाधीन होने के बाद देश की शिक्षा-प्रणाली को सुधारने के लिए बहुत कुछ प्रयास किया गया है। शिक्षा-प्रणाली में विद्यमान दोषों को बारीकी से छान-बीन करने और उन्हें दूर करने के उपाय सुझाने के लिए अनेक समितियों और आयोगों की स्थापना की जा चुकी है और उनकी सिफारिशों पर अमल किया गया है। आजकल की शिक्षा में प्रमुख दोष ये हैं : शिक्षा महंगी है। सामान्य व्यक्ति अपने बालक को उच्च शिक्षा नहीं दिला सकता। विद्यार्थियों का ध्यान पढ़ाई की ओर कम और हुल्लड़बाज़ी की ओर अधिक रहता है। विद्यालयों में छुट्टियां बहुत होती हैं, जिससे विद्यार्थियों का ध्यान पढ़ाई की ओर केन्द्रित नहीं हो पाता। अध्यापकों और छात्रों के बीच सम्बन्ध बहुत शिथिल है। छात्र अध्यापकों का यथोचित सम्मान नहीं करते। छात्रों में अनुशासन की बहुत कमी है। वे न केवल परीक्षाओं में नकल करते या हड़तालें करते देखे जाते हैं, बल्कि अनेक बार अध्यापकों पर हाथ उठाते भी पाए जाते हैं। कुछ घटनाएं तो छात्रों द्वारा अध्यापकों के कत्ल तक की भी हो चुकी हैं। आजकल की शिक्षा-प्रणाली भी अत्यन्त दूषित है, जिसमें विद्यार्थी के वर्ष भर के अध्ययन पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता, बल्कि वर्ष के अन्त में एक परीक्षा लेकर ३३ प्रतिशत अंक लेने वाले विद्यार्थी को भी उत्तीर्ण घोषित कर दिया जाता है।

इन सब दोषों को हटाने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। सबसे पहला प्रयत्न तो अध्यापकों की दशा सुधारने के लिए किया गया है। अध्यापकों के वेतनक्रम बढ़ाए गए हैं, जिससे उन्हें अपने गौरव को गिराने वाली ट्यूशनों का धन्धा न करना पड़े। वेतन-वृद्धि के अतिरिक्त राष्ट्रपति द्वारा सम्मान दिलाकर भी अध्यापकों का मान बढ़ाने का यत्न किया जा रहा है। प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क कर दी गई है और एक निश्चित आयु के बालक और बालिकाओं के लिए पढ़ाई अनिवार्य कर देने का प्रयत्न किया जा रहा है। जो लोग नौकरी करते हुए भी और ऊंची शिक्षा पाना चाहते हैं, उनके लिए सायंकालीन महाविद्यालय खोले जा रहे हैं। ऐसे विद्यालय भी खोले जाने की योजना है, जहां अशिक्षित मज़दूर शाम को आकर

शिक्षा प्राप्त कर सकें। यह बात भी सिद्धान्त-रूप में स्वीकार कर ली गई है कि प्रारम्भिक शिक्षा मातृभाषा या हिन्दी में होनी चाहिए और किसी भी विदेशी भाषा का बोझ छठी श्रेणी से पहले विद्यार्थी पर न डाला जाए।

देश की सारी जनता को शिक्षित करने की समस्या एक बड़ी समस्या है। इसका हल वस्तुतः तभी हो सकता है, जब अधिकतम योग्यता वाले व्यक्ति शिक्षा-क्षेत्र में आना पसन्द करें। वह तभी हो सकता है, जब शिक्षा-क्षेत्र में अध्यापकों को अन्य क्षेत्रों के बराबर ही वेतन मिलने लगे। हमारी सरकार ने इस बात को भली भांति अनुभव कर लिया है और वह शिक्षा-प्रणाली के सर्वांगीण सुधार के लिए कटिबद्ध है; क्योंकि प्रजातन्त्र देश का निर्वाह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके सभी नागरिक भली भांति शिक्षित न हों।

हमारी शिक्षा की समस्याएं

स्वाधीनता से पहले विदेशी सरकार शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान देती थी। यद्यपि यह सत्य है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अंग्रेज़ों की ही चलाई हुई है और हमें अंग्रेज़ों के चंगुल से छुड़ाने में बहुत बड़ा हाथ इस शिक्षा का भी है; फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ों ने इस शिक्षा-प्रणाली को ठीक उल्टे उद्देश्य से चलाया था। उनका लक्ष्य यह था कि पश्चिमी शिक्षा देकर भारतवासियों को पश्चिमी रंग में रंग दिया जाए और राजनीतिक अधीनता के अतिरिक्त उनपर सांस्कृतिक अधीनता भी थोप दी जाए। उन्होंने पश्चिमी शिक्षा पश्चिम की दृष्टि में भारतीय सभ्यता और इतिहास को हीनतर सिद्ध करने के लिए प्रचलित की थी।

यह शिक्षा केवल किताबी शिक्षा थी। इसमें सारा ज़ोर साहित्य के अध्ययन पर दिया जाता था। भूगोल, इतिहास, गणित आदि का अध्यापन बहुत कम था। और जो कुछ था, वह भी अंग्रेज़ी के माध्यम से किया जाता था। पहले बालक को

कई वर्ष अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाते थे और उसके बाद वह भूगोल, इतिहास इत्यादि पढ़ने योग्य हो पाता था। इस शिक्षा को प्राप्त करने के बाद जीविकोपार्जन का उसके पास एक ही मार्ग रह जाता था—नौकरी; चाहे वह नौकरी दफ्तर में बाबूगीरी की हो, चाहे स्कूल में अध्यापन की।

शिक्षित लोगों की बेकारी की समस्या स्वाधीनता प्राप्त होने से पहले ही देश के सामने आ खड़ी हुई थी। विश्वविद्यालयों के बी ए०, एम० ए० पास करने वाले स्नातक परकटे पंछियों की भांति होते थे, जो केवल नौकरी करने के लिए अधीर होते थे। किन्तु नौकरियों की संख्या सीमित होने के कारण उन लोगों को नौकरियां नहीं मिल पाती थीं। अनेक शिक्षाशास्त्रियों ने और राजनीतिक नेताओं ने इस बात को अनुभव किया था और शिक्षा का रूप बदलने पर ज़ोर दिया था। व्यावसायिक शिक्षा और बेसिक शिक्षा इस समस्या को हल करने के लिए ही प्रारम्भ की गई थीं।

किन्तु स्वाधीनता मिलने के बाद देश में प्रजातन्त्र स्थापित हुआ है और सरकार ने यह निश्चय किया है कि यथाशीघ्र देश के सभी लोगों को शिक्षित कर देना है। इसलिए शिक्षा का प्रचार बहुत तेज़ी से बढ़ रहा है। किन्तु शिक्षा का प्रचार बढ़ने के साथ-साथ अनेक नई-नई समस्याएं उपस्थित हो रही हैं। सबसे बड़ी और पहली समस्या तो यह है कि आजकल जितनी बड़ी संख्या में विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए तैयार होते हैं, उनके लिए विद्यालयों और महाविद्यालयों में स्थान नहीं होता। नये उत्साह से भरकर लोग विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग आदि सीखने के लिए महाविद्यालयों की ओर दौड़ते हैं, किन्तु सब जगह से एक ही उत्तर मिलता है—स्थान नहीं है। यहां तक कि साहित्य की बी० ए०, एम० ए० कक्षाओं में भी प्रवेश मिलना कठिन हो गया है।

दूसरी समस्या अध्यापकों की है। अध्यापकों का स्थान समाज में जैसा उच्च और सम्मानपूर्ण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं है। इसका कारण अध्यापकों के वेतन की अल्पता है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में मनुष्य का मान उसके धन के कारण होता है। इसलिए गरीब अध्यापक समाज में प्रतिष्ठा तो पा ही नहीं सकता; अनेक बार तो उसे अपने परिवार का निर्वाह करना भी कठिन होता है। अपनी

आय को बढ़ाने के लिए उसे बहुत बार ट्यूशनें करनी पड़ती हैं, जिनके कारण उसका सम्मान और भी घट जाता है। घर पर आकर पढ़ाने वाले अध्यापक को न तो छात्र ही आदर की दृष्टि से देख पाता है और न उसके माता-पिता।

शिक्षा-क्षेत्र में वेतन की अल्पता का एक और दुष्परिणाम यह हुआ है कि अधिक मेधावी और योग्य व्यक्ति शिक्षा-क्षेत्र में नहीं आना चाहते। वे व्यवसाय या सरकारी नौकरियों के पीछे भागते हैं, जहां वेतन अपेक्षाकृत काफी अधिक होते हैं। इसलिए न केवल अध्यापक का गौरव बढ़ाने के लिए, अपितु योग्य व्यक्तियों को शिक्षा-क्षेत्र में लाने और बनाए रखने के लिए भी अध्यापकों के वेतन बढ़ाए जाने चाहिएं।

हमारी शिक्षा की तीसरी और बहुत बड़ी समस्या छात्रों की अनुशासनहीनता की समस्या है। प्राचीनकाल में गुरुओं और शिष्यों के सम्बन्ध बहुत मधुर होते थे। शिष्य विनीत और श्रद्धालु होते थे। गुरु भी शिष्यों से प्रेम करते थे। परन्तु आजकल शिष्यों में से गुरुओं के प्रति सम्मान की भावना उड़ गई है। अध्यापकों की हंसी उड़ाना, मुंह पर तू-तड़ाक उत्तर देना तो मामूली बात है। ऐसे किस्से भी बहुत हो चुके हैं, जिनमें परीक्षा में नकल करते हुए पकड़े जाने पर छात्रों ने अध्यापकों को धमकाया और कत्ल कर दिया। यह गुरु-शिष्य के सम्बन्धों के पतन की चरम सीमा है।

छात्रों की अनुशासनहीनता एक और रूप में भी सामने आती है और वह है—हड़ताल का रूप। किसी भी छोटी या बड़ी, उचित या अनुचित बात को लेकर छात्र लोग हड़ताल कर देते हैं। न केवल अपनी शिक्षा-संस्था में, अपितु सारे शहर में हंगामा करते हैं। फिर छात्रों की अनेक यूनियनें और फैडरेशन बन गए हैं। इनके कारण एक नगर के छात्रों की उचित या अनुचित हड़ताल का समर्थन सारे देश के छात्रों द्वारा किया जाता है। अनेक बार ये हड़ताली छात्र न केवल अपने अध्यापकों पर हाथ उठाते हैं, अपितु पुलिस तक से मोर्चा लेते हैं। यह भी बड़ी शोचनीय अवस्था है। पिछले कुछ वर्षों में इलाहाबाद, लखनऊ और बनारस के विश्वविद्यालयों में बड़ी-बड़ी और लम्बी हड़तालें हो चुकी हैं। इन हड़तालों की मांग प्रायः यह रही है कि अमुक अध्यापक को हटाया जाए, या न हटाया जाए; जैसे

छात्र इस बात के उचित निर्णायक हों कि कौन अध्यापक योग्य है और कौन अयोग्य।

छात्रों की अनुशासनहीनता के कारण अनेक हैं। कुछ तो अध्यापकों की कमज़ोरी, कुछ अध्यापकों और संस्थाओं के अधिकारियों की आपसी गुटबन्दी और कुछ महात्मा गांधी द्वारा देश को दिए गए असहयोग अस्त्र का दुष्प्रयोग इत्यादि इसके कारण हैं। इन कारणों को हटा पाना जितना आवश्यक है, उतना सरल नहीं है। इस समय तो अनुशासनहीनता दिनों-दिन बढ़ती पर ही है।

यद्यपि शिक्षा को सस्ता करने के लिए बहुत प्रयत्न किए गए हैं, फिर भी शिक्षा दिनों-दिन महंगी होती जा रही है। मध्यम वित्त वाले परिवार के लिए बालकों की शिक्षा का व्यय वहन करना बहुत कठिन हो गया है। यद्यपि निःशुल्क शिक्षा का आदर्श सामने रखा जाता है, फिर भी उच्च श्रेणियों में फीसें कम नहीं हैं; और फीसों की अपेक्षा भी कहीं बड़ा बोझ पुस्तकों की कीमत का पड़ता है। आजकल पाठ्यक्रमों में पुस्तकें इतनी अधिक होती हैं और इतनी महंगी होती हैं कि सामान्य व्यक्ति उस बोझ से दब-सा जाता है। इतनी अधिक और महंगी पुस्तकें पाठ्यक्रमों में रखे जाने का कारण आर्थिक कुचक्र है। पाठ्यपुस्तकों द्वारा बहुत-से लोग बहुत बड़ी कमाई करते हैं, इसीलिए पाठ्यक्रम में पुस्तक लगवाने के लिए इतनी हाय-हाय और भाग-दौड़ होती है। यदि पुस्तकों का बोझा कुछ कम हो जाए, तो शिक्षा की काफी बड़ी समस्या हल हो जाए।

आजकल जहां छात्रों के पढ़ने के लिए विद्यालयों की कमी है, वहां उससे भी अधिक कमी उनके लिए उचित प्रयोगशालाओं, खेल के मैदानों तथा मनोरंजन के स्वस्थ साधनों की है। जब तक ये वस्तुएं उपलब्ध नहीं होतीं, तब तक शिक्षा अपूर्ण और एकांगी ही रहेगी। शारीरिक स्वास्थ्य भी मानसिक विकास की भांति शिक्षा का अनिवार्य अंग है।

शिक्षा का उद्देश्य छात्र को शिष्ट, विनीत और उदार बनाना है। परन्तु आजकल की शिक्षा में नैतिक शिक्षण का अभाव है। परिणाम यह होता है कि ज्यों-ज्यों छात्र अधिकाधिक शिक्षित होते जाते हैं, त्यों-त्यों वे अधिकाधिक उच्छृंखल, अशिष्ट और अनुदार होते जाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा को कुशिक्षा कहना अधिक उपयुक्त होगा; और ज्यों-ज्यों समाज में ऐसे कुशिक्षित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती

जाएगी, त्यों-त्यों उसके दुष्परिणाम भी अनेक रूपों में हमारे सामने आते जाएंगे।

अंग्रेजों के यहां रहते हमारी मांग यह थी कि अंग्रेज़ जाएं और उनके साथ अंग्रेजियत जाए। किन्तु अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद अंग्रेजियत यहां से गई नहीं, उल्टे दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही है। पहले यह कहा जाता था कि अंग्रेज़ी का अध्ययन बालक के मन पर एक अनावश्यक बोझ है, इसलिए अध्यापन अपनी भाषा में होना चाहिए। किन्तु अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद यह कहा जाने लगा है कि अंग्रेज़ी अन्तरराष्ट्रीय भाषा है और उसके पढ़े बिना बालक के मन का विकास पूर्ण नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी पढ़ने से नये-नये ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र उसके लिए खुल जाएंगे, इसलिए हरएक बालक को अंग्रेज़ी अवश्य पढ़ाई जानी चाहिए। इस प्रकार अंग्रेज़ी ही नहीं, और भी कई भाषाओं का वोझ छात्र के सिर लाद दिया गया है, जो निश्चित रूप से बालक के मानसिक विकास में बाधक सिद्ध होगा। परन्तु आशा है कि इस दिशा में शिक्षाशास्त्री शीघ्र हो चेतेंगे और गलतियां सुधार दी जाएंगी।

ये हैं हमारी वर्तमान शिक्षा की कुछ ज्वलन्त समस्याएं। सभी शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान इनकी ओर लगा हुआ है और वे इन्हें सुलझाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

बेसिक शिक्षा

पिछले सौ वर्ष में भारत में जो शिक्षा-प्रणाली चलती रही, वह किसी समय लार्ड मैकाले ने यहां चलाई थी। उसका उद्देश्य भारतवासियों को यूरोपियन ढ़ांचे में ढालना और सरकारी काम-काज के लिए क्लर्क तैयार करना था। उस शिक्षा से किसी समय लोगों ने काफी लाभ उठाया। जो लोग ज़ैसे-तैसे मैट्रिक तक भी पढ़ जाते थे, उन्हें भी सरकारी नौकरी मिल जाती थी। वे आसानी से अपनी ज़िन्दगी पूरी कर जाते थे। शिक्षा इस देश में बहुत समय तक नौकरी पाने का ही साधन बनी रही।

फिर धीरे-धीरे समय बदला। राष्ट्रीय नेताओं ने विदेशी शिक्षा के दोषों को अनुभव किया और उसे बदलने की मांग की। शायद उनकी आवाज़ का कुछ भी असर न होता; परन्तु एक बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि नौकरी मिलने की आशा में जो लोग पढ़-लिखकर विश्वविद्यालयों से बी० ए० और एम० ए० की डिग्रियां लेते थे, अब उन्हें भी बेकार बैठे रहना पड़ता था। यत्न करने पर भी नौकरी नहीं मिलती थी। इन पढ़े-लिखे लोगों की दशा बड़ी दयनीय होती थी। पढ़े-लिखे होने के कारण वे मेहनत-मज़दूरी का काम करना पसन्द नहीं करते थे; और कोई अन्य कला या व्यवसाय उन्हें आता नहीं था। उनके सामने दो ही विकल्प थे—या तो नौकरी पा लें या फिर परकटे पंछी की तरह निकम्मे पड़े-पड़े भूखों मरें। इस समस्या के कारण भी पुरानी चली आ रही शिक्षा-प्रणाली को बदलने की ओर ध्यान दिया गया।

गांधी जी ने शिक्षा के इन दोषों की ओर बहुत पहले ध्यान दिया था और सन् १६२७ में उन्होंने वर्धा में एक शिक्षा-योजना प्रस्तुत की थी। इसे कभी-कभी 'वर्धा शिक्षा-योजना' भी कहा जाता है और कभी-कभी इसे 'बुनियादी तालीम' या 'नई तालीम' नाम भी दिया जाता है।

बेसिक शिक्षा में आधारभूत मान्यता यह है कि विद्यार्थी को शिक्षा किताबों के आधार पर न दी जाए; बल्कि वह जिन परिस्थितियों में रहता है, उन परिस्थितियों के माध्यम से ही उसे सब विषयों की शिक्षा दी जाए। उदाहरण के लिए प्राथमिक बेसिक शिक्षा में बच्चों को कातना, बुनना, बढ़ईगीरी और खेती इत्यादि के काम सिखाए जाते हैं। गणित, भूगोल, इतिहास, वनस्पति-विज्ञान इत्यादि सभी विषय इन उपयोगी व्यवसायों के सहारे ही सिखाए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक उस विषय का केवल किताबी ज्ञान प्राप्त नहीं करता, बल्कि उसे व्यवहार में लाना भी सीख जाता है। दूसरी बात यह है कि उसका केवल मन ही विकसित नहीं होता, बल्कि आंख और हाथ में भी कला और कौशल आ जाता है। शरीर का व्यायाम होता है, जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहता है; और सबसे बढ़कर बात यह है कि उसकी पढ़ाई उसे शारीरिक श्रम के प्रति घृणा नहीं सिखाती। वह मेहनत करते हुए पढ़ता है और पढ़ते हुए मेहनत करता है। इस-

लिए पढ़ने के बाद भी मेहनत करता रह सकता है।

बेसिक शिक्षा का एक बहुत बड़ा गुण यह है कि यह पुराने ढंग की चालू शिक्षा की अपेक्षा सस्ती होती है। यदि बेसिक स्कूलों में ठीक ढंग से काम किया और कराया जाए, तो वे अपना खर्च खुद निकाल सकते हैं और भारत जैसे गरीब देश में, जहां किसी भी मद पर बड़ी राशि खर्च कर पाना सरकार के लिए कठिन होता है, ऐसी शिक्षा-प्रणाली बहुत ही प्रशंसनीय और उपयोगी है। बेसिक शिक्षा के समर्थकों का तो कथन यहां तक है कि ऐसे विद्यालयों में अध्यापकों और विद्यार्थियों के श्रम से इतनी कमाई हो सकती है कि विद्यालय का खर्च निकालने के बाद भी कुछ बचत हो जाए।

स्वाधीनता पाने के बाद भारत में बेसिक शिक्षा कई स्थानों पर चालू की गई। गांवों में बहुत-से बेसिक विद्यालय खोले जा चुके हैं और सरकार की यह योजना है कि गांवों में सभी विद्यालयों को धीरे-धीरे बेसिक विद्यालयों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए। इस विषय में मन्द प्रगति का कारण यह है कि बेसिक शिक्षा देने के लिए उपयुक्त शिक्षकों का अभाव है। ज्यों-ज्यों ऐसे शिक्षक प्रशिक्षित होते जाएंगे, त्यों-त्यों बेसिक विद्यालयों की संख्या बढ़ती जाएगी।

किन्तु इस बीच में बेसिक शिक्षा के विरोध में भी कुछ आवाज़ उठने लगी है। अभी तक सरकार की नीति यह रही है कि बेसिक विद्यालय गांवों के इलाकों में खोले जाएं और शहरी क्षेत्रों में पुराने ढंग की शिक्षा-पद्धति ही चालू रहे। इससे देहाती लोगों में यह सन्देह फैल चला है कि शायद बेसिक शिक्षा-पद्धति कुछ घटिया वस्तु है और इसीलिए वह हमपर थोपी जा रही है। उनका कथन है कि यदि यह सचमुच उतनी ही उपयोगी है, जितनी कि बताई जाती है, तो इसका प्रारम्भ शहरों में भी क्यों नहीं किया जाता?

बेसिक शिक्षा में कम खर्च होने की युक्ति भी गलत सिद्ध हुई है। व्यवसाय सिखाने के लिए जो सामग्री मंगाई जाती है, वह काफी खर्चीली पड़ती है। और विद्यार्थी सीखने की दशा में जो सामान तैयार करते हैं, वह उपयोग के योग्य नहीं होता। इसलिए बाजार में उसकी बिक्री नहीं हो पाती। इस प्रकार सामान्य शिक्षा में व्यवसाय के लिए जो खर्च नहीं होता था, वह बेसिक शिक्षा में होता है और

बेसिक शिक्षा सामान्य शिक्षा से भी अधिक महंगी पड़ती है।

बेसिक शिक्षा में छात्र का ध्यान अनेक दिशाओं में बंट जाता है। स्वभाव से वह क्रीड़ाप्रिय होता है और किताबी शिक्षा प्रारम्भ में उसे बोझ मालूम होती है। इसलिए बेसिक शिक्षा के विद्यालयों में विद्यार्थी पढ़ने-लिखने के बजाय उन व्यवसायों की ओर अधिक झुकता है, जो उसे सिखाए जाते हैं। परन्तु उन व्यवसायों में भी उसकी रुचि इसलिए नहीं होती कि वह उन्हें सीखना चाहता है; अपितु इसलिए होती है कि उनकी आड़ में वह किताबी शिक्षा से बच सकता है। बहुत बार जो व्यवसाय विद्यालयों में सिखाए जा रहे होते हैं, उनका विद्यार्थी के भावी जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार वह किताबी शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा दोनों से वंचित हो जाता है। यदि किसी प्रकार वह कोई व्यवसाय सीख भी ले, तो भावी जीवन में उसका उपयोग न करने के कारण वह सीखा न सीखा बराबर ही होता है। किसी दिन विपत्ति या संकट के समय वह व्यवसाय-ज्ञान उसके काम आ सकता था, यह युक्ति बहुत संतोषजनक नहीं है।

सिद्धांत की दृष्टि से बहुत आकर्षक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से बेसिक शिक्षा बहुत सफल नहीं हो पाई। अनेक जगह बेसिक विद्यालयों का निरीक्षण करने पर यह देखा गया कि जो व्यवसाय या उद्योग उन विद्यालयों में सिखाए जा रहे थे, वे आसपास की सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों के प्रतिकूल थे। उदाहरण के लिए ऐसे गांवों में, जहां जुलाहे ही जुलाहे रहते थे, विद्यार्थियों को बढ़ईगीरी का काम सिखाया जा रहा था; और जहां कुम्हारों की अधिकता थी, वहां कपड़ा बुनने का। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बेसिक शिक्षा एक ऐसी प्रणाली है, जिसका बहुत सूझबूझ के साथ पालन न करने से वह एक निरर्थक पाखंड के रूप में बदली जा सकती है। इस पाखंड-रूप में बदल जाने की सम्भावना तब और भी अधिक है, जब कि बेसिक शिक्षा में धर्म की-सी निष्ठा रखने वाले शिक्षकों का अभाव हो। यदि शिक्षक सचमुच ईमानदार, सुशिक्षित और बेसिक शिक्षा के सिद्धांत में विश्वास रखने वाले हों, तो कुछ थोड़े-से गिने-चुने लोग बेसिक विद्यालयों में शिक्षा को उपयोगी, सस्ता और रोचक बना सकते हैं। किन्तु जहां शिक्षकों की भर्ती लाखों की संख्या में की जानी हो, वहां यह आशा करना कि सभी शिक्षक परिश्रमी,

ईमानदार और सूझबूझ वाले होंगे, गलती होगी। उस दशा में बेसिक शिक्षा से वे लाभ नहीं हो पाएंगे, जो कि सिद्धांत में बताए गए हैं।

प्रारम्भ में बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों में बहुत उत्साह था। सरकार ने भी बड़े पैमाने पर बेसिक विद्यालय खोलने की योजना बनाई थी और सब वर्तमान विद्यालयों को बेसिक विद्यालयों के रूप में परिवर्तित करने का निश्चय किया था। किन्तु पिछले दिनों बेसिक शिक्षा के विरुद्ध कई कठोर आलोचनाएं हुई हैं और इस सम्बन्ध में उत्साह कुछ मन्द पड़ गया दीखता है। बड़े-बड़े अफसर, मन्त्री तथा अन्य सम्पन्न लोग अपने बच्चों को बेसिक विद्यालयों में भेजना पसन्द नहीं करते। इसलिए जनसाधारण में भी यह भावना फैल रही है कि बेसिक शिक्षा वस्तुतः उपयोगी शिक्षा नहीं है।

विशुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से बेसिक शिक्षा को गांधीवाद का एक अंग समझा जाना चाहिए। गांधीवाद जीवन के किसी एक क्षेत्र को नहीं, बल्कि सब क्षेत्रों को व्याप्त करके चलता है। अगर हमारे सारे समाज का निर्माण गांधीवाद के आधार पर होना हो, तो बेसिक शिक्षा किसी सीमा तक उपयोगी हो सकती है। गांधीवादी समाज में भारी उद्योगों के लिए स्थान नहीं है; परन्तु हमारी वर्तमान सरकार भारी उद्योगों को प्रोत्साहन दे रही है और वर्तमान विज्ञान-प्रधान युग में यह आवश्यक भी है। बेसिक शिक्षा का वर्तमान वैज्ञानिक और भारी उद्योगों वाली सभ्यता के साथ पूरा मेल नहीं बैठता। यदि आज के विद्यार्थियों को बड़े होकर अपना जीवन आधुनिक वैज्ञानिक कृषि और उद्योगों में व्यतीत करना हो, तो उनके लिए बेसिक शिक्षा कुछ भी सहायक नहीं हो सकती; अपितु उनको किताबी शिक्षा की ओर से विमुख करना शायद उनके लिए हानिकारक ही सिद्ध हो।

परन्तु बेसिक शिक्षा अभी परीक्षणात्मक दशा में है और जब यह परीक्षण एक बार शुरू कर दिया गया है, तो इसे कुछ दिन तो चलाया ही जाएगा और यदि छोड़ा गया, तो तभी छोड़ा जाएगा, जब इसमें सफलता की कोई भी संभावना दीख नहीं पड़ेगी।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. बुनियादी तालीम
२. बुनियादी शिक्षा
३. वर्धा शिक्षा-योजना

छात्र और राजनीति

पिछले कुछ समय से हमारे देश में ऐसी परम्परा चल पड़ी है कि राजनीतिक दल किसी भी आन्दोलन को छेड़ने के लिए विद्यालयों और महाविद्यालयों के छात्रों का उपयोग करते हैं। छात्र लोग अनुभव-शून्य और उत्साही नवयुवक होते हैं। किसी भी बात को गहराई तक समझे विना वे कोई भी रोमांचकारी आन्दोलन खड़ा करने के लिए चट से तैयार हो जाते हैं। किन्तु इससे न केवल सामाजिक जीवन में अव्यवस्था फैलती है, अपितु छात्रों का ध्यान भी अध्ययन की ओर से हट जाता है, जबकि छात्र-जीवन में उनका एकमात्र और सबसे बड़ा लक्ष्य केवल अध्ययन होना चाहिए।

छात्रों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में विचारक लोग दोनों प्रकार के मत रखते हैं। जो लोग छात्रों के राजनीति में भाग लेने के समर्थक हैं, उनका कथन है कि छात्र भी समाज के अंग हैं। कल बड़े होकर वे नागरिक बनेंगे। उस समय भी उन्हें राजनीति में भाग लेना ही होगा। इसलिए अच्छा है कि उनकी राजनीति की शिक्षा छात्रावस्था में ही प्रारम्भ हो जाए। वे राजनीतिक चालों और हथकंडों को शुरू से ही सीखने लगें।

इस सम्बन्ध में दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि छात्रों में किसी भी महान् आदर्श के लिए लड़ने और बलिदान करने की भावना प्रबल होती है। इसलिए यदि अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए इस उत्साह का उपयोग किया जा सके, तो

इसमें दोष नहीं है।

परन्तु वस्तुतः ये दोनों युक्तियां बहुत ही दुर्बल पैरों पर खड़ी हैं। जब हमारे देश पर विदेशियों का शासन था, उस समय देश को स्वाधीन कराने के लिए देश के नेताओं ने छात्रों की सहायता ली। उन्होंने छात्रों को राजनीतिक आन्दोलन में कूद पड़ने की प्रेरणा दी। छात्रों ने उनका आदेश मानकर जी खोलकर स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया और उनकी वीरता और बलिदान की गाथाओं से भारत का इतिहास उज्ज्वल है। परन्तु साथ ही यह एक बहुत गलत कदम था। यदि स्वाधीनता की लड़ाई छात्रों के सहयोग के विना ही लड़ ली जाती, तो कहीं अधिक अच्छा होता। परन्तु उस भूल को इसलिए क्षम्य समझा जा सकता है, क्योंकि वह देश को स्वाधीन कराने के महान् उद्देश्य से की गई थी।

छात्रों के राजनीति में भाग लेने का बहुत बड़ा दुष्परिणाम यह भी हुआ कि वे छात्र अध्ययन के मार्ग से सदा के लिए हट गए। यदि यह न भी कहा जाए कि उनके जीवन बरबाद हो गए, तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिस उद्देश्य से उन्होंने शिक्षा लेनी शुरू की थी, वह पूरा नहीं हो पाया।

छात्रावस्था साधना का काल है। इस काल में छात्रों को अधिक से अधिक शक्ति, ज्ञान और स्वास्थ्य का अर्जन करना चाहिए। देश और समाज में क्या होता है, इसकी ओर ध्यान न देकर उनका ध्यान इस बात की ओर होना चाहिए कि वे अपने आपको शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अधिक से अधिक समर्थ बनाएं; जिससे भविष्य में जो कुछ होने वाला है, उसमें वे सफलतापूर्वक भाग ले सकें। जिस प्रकार दूध-पीते बच्चे से यह आशा नहीं की जाती कि वह जलते हुए घर को बचाने में कुछ सहायता करेगा, इसी प्रकार छात्रों से भी यह आशा नहीं की जाती कि वे देश की सामान्य राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने या उलझाने में कोई योग देंगे। यदि देश पर विदेशी आक्रमण हो जाए और देश की स्वतन्त्रता और अस्तित्व ही संकट में पड़ता हो, तो छात्रों का विद्यालयों और महाविद्यालयों को छोड़कर युद्ध में कूद पड़ना उचित कहा जा सकता है। परन्तु उस दशा में यह मानना होगा कि आकस्मिक आपत्ति के कारण उनका शिक्षाकाल जल्दी समाप्त हो गया है; या शिक्षा कुछ समय के लिए स्थगित हो गई है। परन्तु देश के ही अन्दर किसी एक दल

की नीति के समर्थन या दूसरे दल की नीति के विरोध में विद्यालयों और महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हुए छात्रों का किसी भी आंदोलन में भाग लेना समाज के लिए तो हानिकारक है ही, शिक्षा के लिए और स्वयं छात्रों के लिए भी बहुत हानिकारक है।

राजनीति का अध्ययन करना एक बात है और राजनीति में भाग लेना दूसरी बात। राजनीति का अध्ययन देश के सामने विद्यमान समस्याओं, राजनीतिक दलों की रचना और उनके विचारों को समझने में सहायक होता है; परन्तु राजनीति में भाग लेना इन बातों में बाधक होता है। छात्र का कार्य यह है कि छात्रावस्था में वह हरएक बात के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओं को निष्पक्ष भाव से देखे। अपने मन को पक्षपात के कारण किसी भी एक दल या नीति के पक्ष या विपक्ष में न झुकने दे। परन्तु जब व्यक्ति राजनीति में भाग लेने लगता है तो वह पक्षपात से भर उठता है। उसे अपने दल की नीति सही ही दिखाई पड़ती है और दूसरे दलों में दोष ही दोष दीखते हैं। मनुष्य के मन में यदि एक दल के प्रति निष्ठा की ऐसी भावना आनी ही हो, तो वह छात्रावस्था के बाद आनी चाहिए; नहीं तो वह ज्ञान को सही रूप में प्राप्त करने के अयोग्य हो जाएगा।

छात्र तो कम आयु के और नासमझ होते हैं; इसलिए वे राजनीतिक दलों के नारों के भुलावे में सरलता से आ जाते हैं। एक ओर तो छात्रों को यह अनुभव करना चाहिए कि देश की आन्तरिक राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं है; और दूसरी ओर राजनीतिक दलों को भी यह अनुभव करना चाहिए कि अपने किसी भी आंदोलन को सफल बनाने या किसी दूसरे दल का विरोध करने के लिए छात्रों का उपयोग करना अनुचित है। सब राजनीतिक दलों में इस प्रकार का भद्रजनोचित समझौता हो जाना चाहिए, जिससे सभी दल छात्रों को राजनीति से दूर रखने का प्रयत्न करें, ताकि छात्र अपनी सारी शक्ति केवल अध्ययन में लगाकर देश के अच्छे नागरिक बन सकें।

शिक्षा में यात्रा का महत्व

शिक्षा प्राप्त करने के दो उपाय हैं। एक तो यह कि हम जिस वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उसे स्वयं जाकर देखें; और दूसरा यह कि जिन लोगों ने उस वस्तु को देखा है, उनसे उसके विषय में सुनें, या उस विषय में लिखी हुई पुस्तकों को पढ़ें। मनुष्य का जीवन इतना अल्प है और उनके साधन इतने कम हैं कि वह संसार के सब भागों को और संसार की सब वस्तुओं को स्वयं जाकर नहीं देख सकता। इसलिए उसे पुस्तकों की शरण लेनी पड़ती है। समय-समय पर अनेक साहसी और उत्साही लोग संसार के विभिन्न भागों का भ्रमण कर चुके हैं और उनके विषय में मनोरंजक और ज्ञानवर्धक पुस्तकें लिख चुके हैं। इसलिए आज अगर हम चाहें तो घर बैठे ही उन पुस्तकों को पढ़कर संसार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इस प्रकार की जानकारी से मनुष्य का ज्ञान न तो पूर्ण हो सकता है और न मनुष्य को संतोष ही हो पाता है। इसलिए यात्रा करके वस्तुओं को और प्रदेशों को अपनी आंखों से देखना भी शिक्षा का आवश्यक अंग है।

पुस्तकों में हम पढ़ते हैं कि हिमालय के वन घने हैं; उनमें ऊंचे-ऊंचे पेड़ होते हैं; उनमें भयंकर जंगली पशु पाए जाते हैं; अजगर सांप होते हैं; परन्तु जब तक हम एक बार स्वयं जाकर उन वनों को न देख आएं, तब तक हम यह नहीं समझ सकते कि हमने उनके विषय में पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया है, या उनके बारे में हमारे मन में स्पष्ट धारणा बन गई है। इसी प्रकार हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों, सुनसान तपती हुई मरुभूमियों, बर्फ से ढके ध्रुव प्रदेशों के सम्बन्ध में भी बिना उन्हें आंखों से देखे हम पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

प्राचीन काल में यात्रा की सुविधाएं आज जैसी नहीं थीं। न तो रेल, मोटर और विमान जैसे द्रुतगामी वाहन थे और न आजकल की-सी सुरक्षा थी। यात्रा में समय बहुत लगता था। रास्ते में चोरों, डाकुओं का भय रहता था। फिर भी मार्को-पोलो, फाहियान, ह्वेन्त्सांग और अलबेरूनी जैसे यात्री हज़ारों मील की यात्रा करके

देश-देश का भ्रमण करते रहे थे। इन यात्रियों के नाम आज इतिहास में अमर हैं, क्योंकि अपने समय में दूर देशों की जानकारी सबसे पहले उन्होंने ही दूसरे लोगों को दी थी। आज जब हमें सब सुविधाएं उपलब्ध हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम क्यों विभिन्न स्थानों और वस्तुओं को अपनी आंखों से न देखें।

केवल एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकते रहना यात्रा नहीं कही जा सकती। यात्रा करते समय पहले मनुष्य के मन में कोई स्पष्ट लक्ष्य होना चाहिए। उसे पता होना चाहिए कि वह किस प्रयोजन से यात्रा कर रहा है; उदाहरण के लिए एक व्यक्ति प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के दर्शन के लिए यात्रा कर सकता है; दूसरा व्यक्ति विभिन्न वनस्पतियों की खोज के लिए यात्रा कर सकता है; तीसरा व्यक्ति देश के विभिन्न स्थानों के प्राकृतिक सौंदर्य के दर्शन के लिए यात्रा पर निकल सकता है। चाहे जो भी हो, किन्तु कुछ न कुछ लक्ष्य पर्यटक के मन में अवश्य रहना चाहिए।

जो व्यक्ति एक ही स्थान में रहता है और यात्रा नहीं करता, वह कूपमंडूक बना रहता है। एक ही प्रकार की शान्त परिस्थिति में वह जीवन बिताता जाता है। नई-नई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढालते जाने की क्षमता उसमें नहीं आती। नये लोगों से व्यवहार करते उसे संकोच होता है, परन्तु जब व्यक्ति यात्रा पर निकलता है, तो उसके सामने नई-नई परिस्थितियां आती हैं। उनमें से सफलतापूर्वक गुज़रने के बाद उसके मन में आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है। उसके हृदय का भय और संकोच समाप्त हो जाता है।

यात्रा करते समय मनुष्य को आंखें खोलकर चलना चाहिए; अर्थात् उसे अपने आसपास की परिस्थितियों को भली-भांति देखना, समझना और हृदयंगम कर लेना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी नगर में जाकर वहां के निवासियों की वेशभूषा को, खानपान, रहन-सहन और रीति-रिवाजों को ध्यान से नहीं देखता और लौटकर उनका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता, तो उसकी यात्रा व्यर्थ रही। वह उस यात्रा के बिना भी जी सकता था। इसलिए यात्रा करते समय प्राकृतिक दृश्यों, निवासियों के रहन-सहन, कला-कौशल और रीति-रिवाज इत्यादि पर यात्री को पूरी दृष्टि रखनी चाहिए।

यात्रा से एक बड़ा लाभ यह होता है कि हमारा मन उदार हो जाता है। जो

लोग यात्रा नहीं करते और एक ही स्थान में पड़े रहते हैं, उनके दृष्टिकोण संकुचित हो जाते हैं। उनकी विचारधारा बहुत संकीर्ण होती है। वे समझते हैं कि जो कुछ हम करते हैं, बस वही ठीक है, उससे भिन्न संसार में कहीं कुछ नहीं होना चाहिए। अगर कुछ होता है, तो वह गलत है। परन्तु पर्यटक के मन में ऐसी कट्टरता नहीं रहती। वह नये-नये देशों को देखता है। उनके अलग-अलग रीति-रिवाजों को देखता है और समझ लेता है कि अमुक स्थान पर अमुक बात ठीक मानी जाती है और किसी दूसरे स्थान पर दूसरी; इसलिए दोनों ही बातें ठीक हैं। ऐसा उदार दृष्टिकोण मनुष्य के जीवन को सुखी और सन्तुष्ट बनाता है।

यात्रा स्वास्थ्य-सुधार के लिए भी बहुत लाभदायक समझी जाती है। एक ही प्रकार के जलवायु में देर तक रहने से स्वास्थ्य क्षीण हो चलता है। उस समय चिकित्सक लोग भी रोगियों को जलवायु-परिवर्तन की सलाह देते हैं। यदि व्यक्ति समय-समय पर यों ही यात्रा करता रहे, तो शायद उसके रोगी होने का अवसर ही न आए।

यात्रा से मनुष्य व्यापारिक लाभ भी उठा सकता है। उसे यह पता चल जाता है कि कहां कौन-सी वस्तुएं पैदा होती हैं और सस्ती मिलती हैं और कहां उन वस्तुओं की मांग अधिक है और वे महंगी बिक सकती हैं। इस प्रकार सस्ती जगह से खरीदकर महंगी जगह बेचकर वह सरलता से लाभ पा सकता है।

किन्तु इन सबसे बढ़कर बड़ा लाभ यह होता है कि विभिन्न देशों के रीति-रिवाज और रहन-सहन की तुलना करके व्यक्ति बुराइयों को छोड़ सकता है और अच्छाइयों को अपना सकता है। किसी भी व्यक्ति या जाति की उन्नति के लिए यही एक मूल मन्त्र है। दूसरे देशों या जातियों के सम्पर्क में आकर हम उनसे अपनी तुलना कर सकते हैं। यदि हम उनसे अच्छे हैं, तो हम उनपर अपना प्रभाव जमा सकते हैं और यदि हम उनसे पिछड़े हुए हैं तो हमारे मन में प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होती है और हम आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं।

दूर-दूर तक घूमे-फिरे व्यक्ति का सब जगह आदर होता है; न केवल इसलिए कि वह किसी भी समाज में बैठकर अपनी यात्राओं के वर्णन सुनाकर लोगों का घंटों मनोरंजन कर सकता है, अपितु इसलिए भी कि दूर देशों की यात्रा करके

उसका ज्ञान इतना बढ़ जाता है और उसका व्यक्तित्व इतना निखर जाता है कि लोग स्वभावतः उसका सम्मान करते हैं और यह आशा करते हैं कि उसके सम्पर्क में आकर वे उससे कुछ अच्छी और उपयोगी बातें सीख सकेंगे।

इसलिए यात्रा को शिक्षा का एक आवश्यक अंग समझा जाना चाहिए। बिना सामयिक लम्बी यात्राओं के केवल किताबी शिक्षा पूरी शिक्षा नहीं समझी जा सकती। इस बात को शिक्षाशास्त्रियों ने अनुभव कर लिया है और आजकल छात्रों के लिए समय-समय पर यात्रा करने की विशेष सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं। विद्यालयों की ओर से यात्राओं का आयोजन किया जाता है, जिसमें होने वाले खर्च का कुछ भाग सरकार भी वहन करती है।

अस्पृश्यता-निवारण

यद्यपि परमातमा ने सब मनुष्यों को समान बनाया, फिर भी मनुष्य ने जाति, धर्म और धन के आधार पर मनुष्य मनुष्य में वहुत अन्तर उत्पन्न कर दिया है और कहीं-कहीं तो स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों को मनुष्य ही नहीं समझते। उन्हें पशु से भी हीन समझते हैं। उनके साथ खाना-पीना, उठना-बैठना तो दूर, उन्हें छूने तक से हिचकते हैं। कुछ समय पूर्व भारत-वर्ष में भी छुआछूत की समस्या बड़े भयावह रूप में उपस्थित थी।

वैसे तो वर्ण, जातियों और उपजातियों के हिसाब से हिन्दू-समाज के अनेक उपविभाग हैं, परन्तु दो विभाग बड़े स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं—एक सवर्ण हिन्दू और दूसरे नीचे समझे जाने वाले अछूत लोग। सवर्ण हिन्दू अछूतों से छू जाने पर अपने आपको अपवित्र हुआ समझते थे और स्नान इत्यादि करके फिर अपने को पवित्र करते थे। भंगी, डोम, चमार आदि का स्पर्श तो दूर, उनकी छाया से भी बचते थे। दक्षिण भारत में तो यह रिवाज इतनी दूर तक बढ़ गया था कि

अछूत अगर सड़क पर चल रहा हो, तो उसे आवाज़ देते हुए चलना पड़ता था, जिससे लोग समझ लें कि वह अछूत है और उसके स्पर्श से बच सकें। यदि कभी गलती से वह किसी सवर्ण हिन्दू से छू जाता था, तो उस बेचारे की शामत ही आ जाती थी।

हमारे देश में इन अस्पृश्य लोगों की संख्या छह करोड़ से भी अधिक है। ये लोग हिन्दू-धर्म के सब रीति-रिवाजों को मानते हैं, और उन्हीं देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, जिनकी सवर्ण हिन्दू करते हैं। फिर भी सवर्ण हिन्दुओं ने इनका जीना दूभर करने में कोई कसर उठा नहीं रखी। हिन्दुओं के मन्दिरों के द्वार अछूतों के लिए बन्द थे। जिन कुओं से उच्च जाति के हिन्दू पानी भरते थे, उनसे अछूतों को पानी लेने का अधिकार नहीं था। अपनी पवित्रता का दावा करने वाले सवर्ण हिन्दू ईसाइयों और मुसलमानों को उन कुओं से पानी भरने से नहीं रोक पाते थे और स्थिति यहां तक हास्यास्पद बन चुकी थी कि जो व्यक्ति अछूत रहते हुए सवर्ण हिन्दुओं के कुएं से पानी नहीं भर सकता था, मुसलमान या ईसाई हो जाने पर उसीको उस कुएं से पानी भरने का अधिकार हो जाता था; या कहना चाहिए कि तब उसे रोकने की हिम्मत किसीको नहीं होती थी।

अछूतों की इस दुर्दशा का श्रेय मुख्य रूप में हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था को है। किसी समय यह वर्ण-व्यवस्था श्रम के विभाजन की दृष्टि से बनाई गई थी और लोगों का वर्ण कर्म पर आधारित था, जन्म पर नहीं। आवश्यकता होने पर मनुष्य अपना वर्ण बदल भी सकता था। उसमें कठोरता या संकीर्णता नहीं थी। सब वर्ण प्रतिष्ठा की दृष्टि से समान न होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से बहुत ऊँचे या नीचे नहीं थे। परन्तु पराधीनता के हज़ार वर्षों में हिन्दू-समाज क्रमशः ह्रास की ओर बढ़ता गया और यह वर्ण-व्यवस्था ही इस समाज के पांव की बेड़ी बन गई। अंग्रेज़ों ने अछूतों की दशा सुधारने के लिए कोई प्रयत्न न किया।

वैसे देखा जाए, तो अप्रिय, गन्दे और कठिन समझे जाने वाले सब कार्य अछूतों को ही करने पड़ते थे। यदि वे उन कामों को करने से इन्कार कर देते, तो समाज का जीना कठिन हो जाता। परन्तु शोषित और अपमानित दशा में रहने के कारण उनमें समाज के अत्याचारों के विरुद्ध सिर उठाने का साहस ही नहीं रह गया था।

उनके साथ बहुत ही अमानुषिक बर्ताव किया जाता था और वे बिना किसी विरोध के उसे सह लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज का एक बड़ा अंग कई शताब्दियों तक पंगु और निर्जीव रहा और वह समाज पर बोझ बना रहा।

इसका काफी कुछ दुष्परिणाम सारे देश को भुगतना पड़ा। लुहार, बढ़ई, राज, तेली, मोची आदि लोगों के पेशे नीच समझे जाते थे। सवर्ण हिन्दू इन पेशों को करते नहीं थे और अछूत लोगों का समाज में कोई आदर नहीं था। वस्तुत: देखा जाए, तो ये पेशे ही सारे शिल्प और उद्योग की जान हैं। इन पेशों का तिरस्कार करते रहने के कारण देश औद्योगिक अवनति के गड्ढे में गिरता गया और एक समय ऐसा आ गया, जबकि भारत औद्योगिक दृष्टि से संसार का सबसे अधिक पिछड़ा हुआ देश बन गया।

अछूतों की इस प्रकार उपेक्षा करने और उनके साथ अपमानजनक व्यवहार करने का एक और बुरा परिणाम हुआ। मुसलमान और ईसाई, दोनों ही धर्म भारत के लिए नये थे। दोनों इस देश में अपना प्रचार करना चाहते थे। उच्च वर्ण के हिन्दुओं को अपनी ओर आकृष्ट कर पाना सरल काम नहीं था; परन्तु अछूत लोग इन धर्मों की ओर बहुत सरलता से आकृष्ट होने लगे। वे देखते थे कि हिन्दू-जाति का अंग बने रहते उन्हें जो समानता और सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं, मुसलमान या ईसाई बनते ही वे उन्हें प्राप्त हो जाती थीं। अछूत हिन्दू रहते तो सवर्ण हिन्दू उनको पग-पग पर दुत्कारते थे, पर मुसलमान या ईसाई हो जाने के बाद वे उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकते थे। इसलिए अछूत लोग धड़ाधड़ मुसलमान और ईसाई बनने लगे। हिन्दुओं की संख्या तेज़ी से घटने लगी। जाति के लिए आत्मघात का इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था!

इस समस्या की गम्भीरता को सबसे पहले ऋषि दयानन्द ने पहचाना। उन्होंने देखा कि यदि यही रफ्तार जारी रही, तो कुछ ही दिनों में सभी अछूत मुसलमान या ईसाई बन जाएंगे। इसलिए आर्यसमाज ने दो आन्दोलन शुरू किए। पहला आन्दोलन अछूतोद्धार का था, जिसका अर्थ यह था कि अछूत समझे जाने-वाले लोगों के साथ समानता का बर्ताव किया जाए। उनके साथ छूने से या उनके साथ बैठकर भोजन करने से कोई परहेज़ न किया जाए। इस प्रकार यदि अछूतों को हिंदू-

समाज में भी समानता का अधिकार मिल जाए, तो उन्हें किसी दूसरे धर्म में दीक्षित होने की आवश्यकता न रहेगी। आर्यसमाज का दूसरा आन्दोलन शुद्धि-आन्दोलन था। इसका अर्थ यह था कि जो लोग किसी कारणवश मुसलमान बन गए थे, वे यदि फिर चाहें तो उन्हें शुद्ध करके फिर हिन्दू बनाया जा सकता था। शुद्धि-आंदोलन केवल तभी सफल हो सकता था, जब मुसलमान या ईसाई बने हुए अछूतों को यह विश्वास हो जाए कि फिर हिन्दू बन जाने पर उनके साथ समानता का बर्ताव किया जाएगा।

अंग्रेज़ इस देश में सदा ही 'लड़ाओ और राज्य करो' की नीति बरतते रहे। पहले उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाया। जब गांधी जी ने १९२१ में अपना पहला सत्याग्रह किया, तो उससे अंग्रेज़ लोग काफी चिन्तित हो गए। उन्होंने देश में फूट डालने के लिए अछूतों को हिन्दुओं से अलग मानकर उनके लिए अलग अधिकारों की व्यवस्था की। तब से गांधीजी ने भी अछूतोद्धार की ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया। अंग्रेज़ों ने जिस साम्प्रदायिक निर्णय के द्वारा अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने का प्रयत्न किया था, उसके विरुद्ध गांधीजी ने २१ दिन का अनशन किया। इस अनशन से एक तो अंग्रेज सरकार को अपना निर्णय वापस लेना पड़ा और यह स्वीकार करना पड़ा कि अछूत भी हिन्दू ही हैं; हिन्दुओं से अलग कुछ नहीं हैं, और दूसरी ओर सारी हिन्दू जनता का ध्यान भी इस समस्या की विकटता की ओर खिंच गया।

गांधीजी ने अछूतों के लिए एक नया शब्द गढ़ा—'हरिजन'। हरिजन का अर्थ है—भगवान के प्रिय व्यक्ति। अछूत शब्द के साथ जो अपमान और तिरस्कार का भाव जुड़ा हुआ था, वह इस शब्द से जाता रहा।

सन् १९३५ में भारत में अंग्रेज़ों ने एक नया संविधान लागू किया। इसके अनुसार १९३७ में चुनाव हुए। इस संविधान के अनुसार जनता के एक बड़े भाग को वोट का अधिकार दे दिया गया था। इस अधिकार के कारण हरिजनों की दशा में एकाएक बहुत अन्तर पड़ गया। शताब्दियों से शोषित और पीड़ित अछूतों ने यह अनुभव किया कि उनके हाथ में भी कुछ ताकत है, जिसके कारण सवर्ण कहलाने वाला प्रतिष्ठित आदमी भी वोट की भिक्षा मांगने के लिए उनके द्वार पर आता

है। वे धीरे-धीरे अपनी शक्ति को पहचानने लगे।

उन्हीं दिनों डाक्टर भीमराव अम्बेडकर ने हरिजनों का संगठन प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने यह मांग की कि उन्हें सवर्ण हिन्दुओं के साथ पूरी समानता का अधिकार दिया जाए। यह अधिकार न मिलने की दशा में उन्होंने मुसलमानों या ईसाइयों के साथ मिल जाने की धमकी दी। अंग्रेज़ सरकार तो उन्हें अलग होने के लिए हर तरह का बढ़ावा देने के लिए तैयार थी ही, इसलिए सवर्ण हिन्दुओं को हरिजनों की मांगों के आगे झुकना पड़ा। १९३७ के चुनावों में ग्यारह में से सात प्रान्तों में कांग्रेस जीती थी। कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों में कम से कम एक हरिजन मन्त्री अवश्य रखा जाए। हरिजनों के उत्थान के लिए और भी अनेक रूपों में प्रयत्न किया गया।

उन्नति के लिए सब ओर से प्रोत्साहन मिलने के बाद भी शताब्दियों से मन में जमी हुई अछूतों की आत्महीनता की भावना आसानी से दूर नहीं हो सकती थी। यह ठीक है कि कुछ थोड़े-से गिने-चुने हरिजन अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो उठे थे, किन्तु अधिकांश हरिजन अशिक्षित थे और वे अपनी दशा सुधारने या सामाजिक अधिकार लेने के लिए बिल्कुल ही उत्सुक नहीं थे। हरिजन विद्यार्थियों को विद्यालयों में पढ़ने की सुविधाएं दी गईं। उन्हें छात्रवृत्तियां भी दी गईं, फिर भी हरिजन लोग अपने बालकों को पढ़ने के लिए न भेजते थे। अपनी उन्नति के मार्ग में वे स्वयं ही बाधक बन रहे थे।

अछूतोद्धार का दम भरने वाले सब नेता भी पूरी तरह ईमानदार नहीं थे। मंच पर खड़े होकर दहाड़ते समय तो ये ऊंचे-ऊंचे आदर्श बघारते थे, किन्तु निजी व्यवहार में ये संकीर्ण छुआछूत का भेद-भाव करते थे। शताब्दियों की जमी हुई मैल इतनी जल्दी धुलकर साफ नहीं हो सकती थी।

१९४७ में भारत स्वाधीन हो गया। हमारे नये संविधान में सब नागरिकों की समानता की घोषणा की गई। जाति, लिंग या धर्म के आधार पर भेद-भाव निषिद्ध ठहराया गया। अब तो छुआछूत को दंडनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। मज़े की बात यह थी कि खुद असवर्ण समझे जाने वाले नाई लोग भी अछूतों की हजामत करने में बहुत भेद-भाव दिखाते थे। अब ऐसा करना कानून के

द्वारा निषिद्ध कर दिया गया है। सब हिन्दू-देवमन्दिर हरिजनों के लिए भी खोल दिए गए हैं और वहां रोक-टोक लगाने वाले व्यक्ति को दंड दिया जा सकता है।

इतना ही नहीं, दस साल तक की अवधि के लिए हरिजनों को, जो अनुसूचित जातियों में आ जाते हैं, उन्नति के लिए विशेष सुविधाएं दी गई हैं, जिससे वे भी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सवर्ण हिन्दुओं के समान बन सकें।

इसमें सन्देह नहीं कि अस्पृश्यता हमारे समाज का कलंक थी। अब वह कलंक धीरे-धीरे पुंछता जा रहा है और शीघ्र ही हमारा प्रजातन्त्रीय समाज स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के उच्च आदर्शों का प्रतीक बन जाएगा।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. छुआछूत
२. अछूतोद्धार
३. भारत में अछूतों की समस्या

मद्य-निषेध

मद्य, मदिरा, सुरा, आसव आदि नाम शराब के ही पर्यायवाची हैं। मद्य या सुरा का पान आनन्द के लिए किया जाता है। मद्य अथवा मदिरा शब्द 'मदि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—हर्षित होना। मदिरा पीकर आदमी अपने दुःख और चिन्ताओं को कुछ समय के लिए भूल जाता है। और एक कृत्रिम उत्तेजना के कारण विचित्र आनन्द का अनुभव करता है। दुःखों को भुला देने और आनन्द देने की यह शक्ति ही मदिरा का आकर्षण है।

मद्यपान लगभग सभी देशों में प्रचलित है। लोग किसी भी आनन्द के अवसर पर मदिरा पीते हैं और बहुत-से देशों में तो मदिरा दैनिक जीवन का अंग बनी हुई है। यूरोप के ठंडे देशों में मदिरा पानी की अपेक्षा भी अधिक सुलभ है। चीन,

भारत और अफ्रीका जैसे देशों में भी इसका प्रचार कम नहीं है। काल की दृष्टि से भी देखा जाए, तो मदिरा बहुत पुराने समय से उपयोग में आती रही है। वेदों में वर्णित सोम मदिरा जैसी ही कोई वस्तु थी, जिसका प्रभाव मदिरा की भांति आह्लाददायक होता था। महाभारत-काल में तो मद्य और सुरा का प्रयोग खुल-कर होता था। यहां तक कि यादव लोग सुरा पीकर आपस में ही लड़ मरे थे।

मदिरा पीने से आनन्द का अनुभव होता है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु मदिरा पीकर व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है, अनाप-शनाप बकता है और अनेक असभ्य आचरण करता है। जब मदिरा का नशा अपनी सीमा पर पहुंच जाए, तो व्यक्ति नाली में गिरकर पड़े रहने में भी स्वर्ग का-सा सुख अनुभव करता है। जिन लोगों ने मदिरा नहीं पी हुई, वे अवश्य ही उसके इस स्वर्गसुख को देखकर प्रसन्न नहीं होंगे और यही यत्न करेंगे कि उनके देखते-देखते कोई ऐसा स्वर्ग-सुख न ले। यही कारण है कि चिरकाल से मदिरा-पान को दोष माना जाता है और इसकी निन्दा की जाती है।

मदिरा को निश्चित रूप से हानिकारक या दूषित वस्तु करार देना उचित नहीं है। अत्यधिक उत्साह या सुधार के आवेश में ही लोग मदिरा को इतना दूषित बताते हैं। मदिरा का सेवन औषध के रूप में किया जाए और उसकी मात्रा निय-मित रखी जाए, तो वह शरीर के लिए और मन के लिए बहुत उपयोगी है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध नेता विंस्टन चर्चिल ने मदिरा के सम्बन्ध में कहा है कि 'मदिरा से मैंने जितना कुछ पाया है, उतना मदिरा मुझसे नहीं पा सकी।' उनका अभिप्राय यह था कि मदिरा से उन्हें लाभ अधिक हुआ है और हनि कम। नियत मात्रा में ली गई मदिरा शारीरिक और मानसिक शक्तियों को जगाती है और नई स्फूर्ति प्रदान करती है। आयुर्वेद में अनेक आसव रोगों की चिकित्सा के लिए तैयार किए जाते हैं। सभी आसव मदिरा होते हैं।

परन्तु मदिरा की यह एक विशेषता है कि इसको पीने के बाद मनुष्य का अपने ऊपर संयम कम और कम होता जाता है। ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो औषध के रूप में नियत मात्रा में मदिरा का सेवन करते हों। अधिकांश लोग तामसिक आनन्द के लिए ही अन्धाधुन्ध शराब पीते हैं। अधिक मात्रा में पी गई मदिरा यकृत पर

बहुत बुरा प्रभाव डालती है। मदिरा पीने से धीरे-धीरे मनुष्य का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ना शुरू हो जाता है।

मनुस्मृति में लिखा है कि 'व्यसन मृत्यु से भी अधिक बुरा होता है; क्योंकि व्यसनी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता चला जाता है।' शराब तो पहली सीढ़ी है। शराब मुफ्त नहीं मिलती; काफी मंहगी होती है। उसे पीने के लिए पैसा चाहिए। अतः शराबी को उचित-अनुचित सभी उपायों से पैसा कमाने का यत्न करना पड़ता है। शराबी लोग पैसा कमाने के लिए जुआरी बन जाते हैं। जुआ पैसा कमाने का नहीं, अपितु पैसा गंवाने का सबसे अच्छा उपाय है। शराबी कर्ज़ लेते हैं; किन्तु उसको चुकाने की नौबत कभी नहीं आती। इस प्रकार एक के बाद एक अनेक दुराचारों में वे फंसते जाते हैं और शायद अन्त में शारीरिक और मानसिक व्याधियां इतनी बढ़ जाती हैं कि उनसे केवल मृत्यु ही उन्हें मुक्ति दिलाती है।

वैसे कोई आदमी यदि जान-बूझकर आत्मविनाश पर उतारू हो, या अपने घर में आग लगाकर तमाशा देखना चाहे, तो उसमें किसीको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु जब उसका यह तमाशा अन्य लोगों के लिए भी कष्टदायक बन जाए, तब उसमें दूसरों का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। गरीब मज़दूर अपने दुःख, थकान और गरीबी को भुलाने के लिए शराब पीते हैं। धीरे-धीरे शराब के इतने आदी हो जाते हैं कि अपनी सारी कमाई शराब पर ही खर्च कर डालते हैं और अपने बच्चों, पत्नी इत्यादि के भोजन और औषध तक की व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं देते। जिस गरीबी को भुलाने के लिए उन्होंने शराब पीनी शुरू की थी, वह शराब की कृपा से ही निरन्तर बढ़ती चली जाती है। ऐसी दशा में समाज और सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि कोई ऐसा प्रबन्ध किया जाए, जिससे उनके निरपराध बच्चों और पत्नियों को कष्ट न उठाना पड़े।

बहुत बार लोग शराब पीकर सड़कों पर अथवा सार्वजनिक स्थानों में पहुंच जाते हैं; शराब के नशे में लड़ाई-झगड़ा करते हैं और कई बार एक दूसरे की हत्या तक कर डालते हैं। अब से लगभग १५ साल पहले जिस दिन मिलों के मज़दूरों को वेतन मिलता था, उस दिन वे खूब शराब पीते थे और उस दिन झगड़े और हत्या होना बिल्कुल मामूली बात समझी जाती थी।

धनी और शिक्षित लोग अपने बारे में खुद सोच-समझ सकते हैं और यदि वे गलत निर्णय भी कर लें, तो भी उनमें इतना सामर्थ्य होता है कि नुकसान या कष्ट को सह सकें। परन्तु गरीबों की स्थिति इससे उल्टी होती है। इसलिए उनकी चिन्ता समाज को करनी पड़ती है। मद्यपान और उससे होने वाली बुराइयों की ओर १९२० में कांग्रेस ने लोगों का ध्यान खींचा और सत्याग्रह के सिलसिले में शराब की दूकानों पर भी धरना दिया गया। जब १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने, तब उन्होंने मद्य-निषेध को अपनी नीति का अंग बना लिया। परीक्षण के तौर पर कुछ क्षेत्रों में मद्य-निषेध लागू किया गया, किन्तु १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए और मद्य-निषेध समाप्त हो गया।

किन्तु कांग्रेस ने मद्यपान के दोषों को भली भांति अनुभव कर लिया था और वह, चाहे जैसे भी हो, मद्यपान को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध थी। १९४७ में देश के स्वाधीन होने के बाद लगभग सभी राज्यों में पूर्णतया या आंशिक रूप से मद्य-निषेध कानून लागू कर दिए गए हैं। इस दिशा में बम्बई राज्य अन्य सब राज्यों से आगे है।

सरकार की दृष्टि से मद्य-निषेध बिल्कुल घाटे का सौदा है। शराब के ठेकों से सरकार को हर साल करोड़ों रुपये की आय होती है। परन्तु ऐसे उपायों से आय प्राप्त करना, जिससे देशवासियों को हानि पहुंचती हो, अनुचित है। इसीलिए सरकार हानि सह कर भी मद्य-निषेध को लागू करने के लिए कटिबद्ध है। इन दिनों सरकार को बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूरा करने के लिए धन की बड़ी आवश्यकता है। परन्तु उसके लिए सरकार ने अन्य बहुत-से कर बढ़ा दिए हैं और मद्य-निषेध को जारी रखने का ही निश्चय किया है।

सिद्धान्त की दृष्टि से कानून द्वारा मद्य-निषेध करना अनुचित है। यह मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण है। यदि मद्यपान से मनुष्य को हानि होती है, तो भी उसे कानून द्वारा नहीं रोका जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार हानि तो सिगरेट पीने, और सिनेमा देखने से भी होती है। शायद कल कोई बहुत ही सदाचारी प्रशासक प्याज को भी हानिकारक करार देकर निषिद्ध घोषित कर दे; किन्तु उसके उपयोग को कानून द्वारा रोकना मूर्खता ही कही जाएगी। इसलिए मद्यपान के

विरोध में लोगों को शिक्षा दी जानी चाहिए ; उपदेशों और प्रचार द्वारा लोगों को मद्यपान की हानियां समझाई जानी चाहिएं, किन्तु इसमें कानून का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए ।

सिद्धान्त की दृष्टि से मद्य-निषेध अनुचित होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से उचित है । भारत जैसे गरीब और अशिक्षित देश में लोगों को मद्यपान की हानियां समझाकर उन्हें मद्यपान से विरत कर पाना लगभग असम्भव है। एक बार शराब का चस्का लग जाने पर बिना दंड-भय के लोग शराब को छोड़ेंगे नहीं और जब तक वे शराब को छोड़ेंगे नहीं, तब तक वे अपने परिवार को और अपने समाज को नरक बनाए रखेंगे । यदि कुछ अंश में व्यक्तिगत स्वाधीनता का अपहरण करके भी लोगों को सुखी बनाया जा सके, तो बनाया जाना चाहिए । अशिक्षित और अविवेकी व्यक्ति को पूरी स्वाधीनता देना उसे विनाश के मार्ग पर चला देना है ।

जहां यह ठीक है कि मद्यपान को कानून द्वारा निषिद्ध कर देना समाज के हित में है, वहां यह भी ठीक है कि केवल कानून बनाकर मद्यपान को पूरी तरह बंद नहीं किया जा सकता । जब तक देश की अधिकांश जनता का समर्थन प्राप्त न हो, तब तक लुके-छिपे शराब पी जाती रहेगी और उससे होने वाली हानियां होती ही रहेंगी। किसी समय अमेरिका में भी कानून द्वारा मद्य-निषेध करने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु वह प्रयत्न असफल रहा ; क्योंकि पहले खुल्लमखुल्ला जितनी शराब पी जाती थी, उससे भी अधिक बाद में दुबका-चोरी पी जाने लगी । वहां सरकार को मद्य-निषेध का कानून रद्द करना पड़ा । भारत में भी परिस्थितियां कुछ भिन्न नहीं हैं । इसलिए यदि मद्य-निषेध की सफलता अभीष्ट हो, तो कानून बनाने के अतिरिक्त मद्यपान की बुराइयों के सम्बन्ध में ज़ोरदार प्रचार किया जाना चाहिए और ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देनी चाहिए कि लोग स्वयं ही मद्यपान करना छोड़ दें ।

वस्तुतः मद्यपान एक ऐसी समस्या है, जिसके सम्बन्ध में सरकार और जनता दोनों को ही शान्ति और विवेक से काम लेना चाहिए । जहां यह ठीक है कि मद्य-पान एक बुराई है और उसे हटाया जाना चाहिए, वहां यह भी ठीक है कि यह एक ऐसी बुराई है कि जो धीरे-धीरे ही हटेगी। इसलिए सरकार को धीरज से काम

लेना चाहिए। दूसरी ओर जनता को यह अनुभव करना चाहिए कि मद्य-निषेध उसकी भलाई के लिए किया जा रहा है, उसपर अत्याचार करने के लिए नहीं। इसलिए थोड़ी-बहुत असुविधा सहकर भी मद्य-निषेध को क्रियान्वित करने में सहायता देनी चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि मद्य-निषेध का उल्लंघन करने वाले लोगों को कड़ी और लम्बी सज़ाएं न देकर छोटी सज़ाएं दी जानी चाहिएं, जिनका उद्देश्य केवल अपराधी को सावधान और सचेत करना भर हो। हां, जो लोग अपने आर्थिक लाभ के लिए दुबका-चोरी दूसरों को शराब पिलाने का प्रयास करें उन्हें कड़ी सज़ाएं दी जानी चाहिएं, जिससे कि अन्य लोग वैसा करते डरें। कानून और जनमत दोनों मिलकर ही मद्य-निषेध को सफल बना सकते हैं।

अन्य संभावित शीर्षक

१. क्या कानून द्वारा मद्य-निषेध उचित है ?

परिवार-आयोजन

इस समय सारे संसार की जनसंख्या लगभग दो अरब है। किन्तु अनेक देशों में जनसंख्या जिस तेज़ी से बढ़ रही है, उसको देखते हुए अर्थशास्त्रियों ने अनुमान किया है कि अगले पचास साल में संसार की आबादी चार अरब से भी अधिक हो जाएगी। किसी समय माल्थस ने यह सिद्धांत संसार के सामने रखा था कि प्राकृतिक विपत्तियों के अभाव में किसी भी देश में जनसंख्या पचीस साल में दुगनी हो जाती है। संसार में इस समय भी खाद्य पदार्थों की स्थिति बहुत भली नहीं है। अफ्रीका, भारत और चीन जैसे देशों में लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें दोनों समय भर पेट भोजन नहीं मिल पाता। यदि संसार की आबादी दुगुनी हो गई, तो खाद्य पदार्थों की कमी और भी अधिक कष्टदायक हो जाएगी।

जनसंख्या जितनी तेज़ी से बढ़ती है, उतनी तेज़ी से खाद्य पदार्थों का उत्पादन नहीं बढ़ पाता। साथ ही यह भी निश्चित है कि पृथ्वी पर केवल उतने ही लोग जीवित रह सकते हैं, जितनों के लिए खाद्य पदार्थ होंगे। यदि जनसंख्या अधिक हो जाएगी और खाद्य पदार्थ कम होंगे, तो फालतू लोग अकाल और बीमारी के शिकार होकर मर जाएंगे। इस प्रकार प्रकृति अपने कठोर नियमों द्वारा जनसंख्या को सीमित रखती है। अकाल और महामारियों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं।

पहले महामारियों और लड़ाइयों के कारण लोगों की जन्म और मृत्यु की दर लगभग बराबर ही रहती थी। वर्ष में जितने लोग पैदा होते थे, लगभग उतने ही मर भी जाते थे। किन्तु १९२० के बाद से चिकित्सा-क्षेत्र में इतनी प्रगति हो गई है कि मृत्यु-दर बहुत कम हो गई है। पहले चेचक, हैजा और प्लेग जैसी महामारियों से गांव के गांव साफ हो जाते थे। मलेरिया भी हर वर्ष लाखों आदमियों को मौत के घाट उतार देता था। किन्तु टीके इत्यादि की सुविधा के कारण महामारियों का फैलना तो लगभग बन्द ही हो गया। जनसंख्या में वृद्धि हुई, जिसके कारण कई अकाल पड़े। १९४३ में बंगाल में भयानक अकाल पड़ा, जिसमें तीस लाख से भी अधिक व्यक्ति मौत के मुंह में चले गए।

यह स्थिति बहुत चिन्ताजनक है और इसका कोई न कोई उपाय अवश्य होना चाहिए। भारत में लोगों के रहन-सहन का स्तर संसार के उन्नत देशों की अपेक्षा पहले ही बहुत नीचा है। इसपर यदि जनसंख्या और बढ़ती जाए, तो उनका स्तर ऊंचा उठना तो दूर बल्कि और नीचा गिरता जाएगा। स्वतंत्र देश में सभी लोगों के लिए अन्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा और चिकित्सा का प्रबंध करना आवश्यक है। इसलिए यदि हमें देश की दशा सुधारनी है, तो जनसंख्या को सीमित करने का कोई न कोई ठोस उपाय करना होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि अशिक्षा और गरीबी का जन्म-दर के साथ सीधा सम्बन्ध है। अशिक्षा और गरीबी जितनी अधिक होगी, जन्म-दर उतनी ही अधिक होगी। अशिक्षित और गरीब लोग बच्चों के पालन-पोषण को बड़ा बोझ अनुभव नहीं करते; क्योंकि उन्हें तो बच्चों का केवल पेट भरना होता है; पढ़ाई-लिखाई या ऊंचे रहन-सहन के कोई व्यय वे अपने सिर नहीं लेते। यूरोप के उन्नत और समृद्ध

देशों में जन्म-दर भारत और चीन की अपेक्षा बहुत कम है, बल्कि वहां के कुछ देशों में तो जनसंख्या घटती पर है।

भारत में धर्म जीवन का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। यहां के सब कार्य चिरकाल से धर्म को दृष्टि में रखकर ही होते रहे हैं। हिन्दू-धर्म के अनुसार मनुष्य तब तक मोक्ष नहीं पा सकता, जब तक उसके सन्तान न हो। इसलिए सन्तान-उत्पादन भारत में एक आवश्यक कार्य समझा जाता है। यहां विवाह मनुष्य के लिए न केवल आवश्यक है, अपितु वह बहुत छोटी अवस्था में ही हो जाता है। बाल-विवाह के कारण बच्चे भी अधिक उत्पन्न होते हैं। माता-पिता भाग्यवादी होने के कारण यह सोचते हैं कि हर बच्चा अपना भाग्य साथ लेकर आएगा। इसलिए वे उनके भविष्य की चिन्ता छोड़कर सन्तान उत्पन्न करते जाते हैं।

इस समय देश की दशा को सुधारने के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या पर रोक लगाना आवश्यक है। आर्थिक उन्नति के लिए जो योजनाएं बनाई जा रही हैं, वे कोई भी लाभ तब तक नहीं दे सकतीं, जब तक आबादी की रोक-थाम न की जाए। सन्तति-निरोध होना चाहिए, इस विषय में अब विचारकों में दो मत नहीं हैं। मत-भेद केवल इस विषय में है कि सन्तति-निरोध किस प्रकार किया जाए। कुछ लोग तो ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम पर ज़ोर देते हैं। गांधीजी और उनके अनुयायी इसी मत के समर्थक थे। दूसरी ओर वैज्ञानिक और चिकित्सक हैं, जिनका कहना है कि ऐसी बड़ी समस्या को आत्मसंयम और ब्रह्मचर्य के भरोसे छोड़ देना ठीक नहीं है। अधिकांश लोग ऐसी साधना का जीवन नहीं बिता सकते ; इसलिए कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति-निरोध किया जाना चाहिए।

कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति-निरोध कर पाना यदि सरल होता, तो इसे काफी सीमा तक अपनाया जा सकता था। परन्तु यह इतना सरल नहीं है, जितना कि पहली दृष्टि में दिखाई पड़ता है। भारत जैसे विशाल देश में, जहां कि अधिकांश जनता अशिक्षित है और गांवों में रहती है, वैज्ञानिक उपायों का प्रचार कर पाना आसान नहीं है। फिर कृत्रिम सन्तति-निरोध के लिए जो उपकरण सुझाए जाते हैं, वे इतने महंगे होते हैं कि गांव के गरीब लोग उन्हें खरीदना पसन्द नहीं करते।

कृत्रिम सन्तति-निरोध के विरोध में सबसे बड़ी आपत्ति नैतिक आधार पर

की जाती है। कहा जाता है कि यदि कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति-निरोध को उचित मान लिया जाए, तो इससे दुराचार बहुत फैल जाएगा। लोगों में नैतिकता की भावना पहले ही कम होती जा रही है, तब तो वह बिलकुल ही समाप्त हो जाएगी। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि सन्तति-निरोध के कृत्रिम और तथा-कथित वैज्ञानिक उपायों से स्त्री और पुरुष के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है। इसलिए नैतिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से कृत्रिम उपाय उचित नहीं कहे जा सकते।

गांधीजी और उनके अनुयायी लोगों का कहना यह है कि हमारी प्राचीन भारतीय जीवन-प्रणाली में गृहस्थ आश्रम का काल पचीस से लेकर पचास वर्ष की आयु तक ही सीमित था। इस प्रकार मनुष्य केवल पचीस वर्ष गृहस्थ रहता था। उसके बाद वानप्रस्थी हो जाता था। उन दिनों लोगों का जीवन सादा और संयमपूर्ण था। यदि उसी प्रकार का जीवन लोग फिर बिताना शुरू करें, तो बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या हल हो सकती है।

इस मत के संबन्ध में कठिनाई यह है कि यह वर्तमान काल की दशाओं को ध्यान में रखे बिना बनाया गया है। आजकल हमारा सामाजिक जीवन जैसा पेचीदा हो गया है, उसमें प्राचीनकाल जैसा सादा और सरल जीवन बिता पाना सम्भव नहीं है। आजकल का खानपान, साहित्य, और सिनेमा इत्यादि मनोरंजन के साधन सभी ऐसे हैं, जो मनुष्यों को असंयत जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। धर्म और नैतिकता की भावना तेज़ी से समाप्त हो रही है। यदि यह मान भी लिया जाए कि कुछ थोड़े-से गिने-चुने लोग इन आदर्शों के अनुसार त्याग और तपस्या का जीवन बिता भी सकेंगे, तो भी उनसे देश की समस्या हल नहीं हो सकेगी; और हमें हर हालत में जनसंख्या को कम करना है।

ऐसी दशा में एक ही विकल्प सामने रह जाता है और वह यह कि इन दोनों उपायों का साथ-साथ अवलम्बन किया जाए। जो लोग ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम के द्वारा सन्तति-निरोध कर सकते हैं, वे वैसा प्रयत्न करें। किन्तु जो लोग अपने आपको इसमें असमर्थ पाते हैं, वे कृत्रिम वैज्ञानिक उपायों का अवलम्बन करें। इस प्रयत्न में सरकार की ओर से भी कदम उठाए जा रहे हैं। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है,

आत्मसंयम के सम्बन्ध में सरकार कुछ भी सहायता नहीं कर सकती। इसलिए सरकार की ओर से तो ऐसे ही केन्द्र खोले जा रहे हैं, जहां स्त्रियों और पुरुषों को कृत्रिम रूप से सन्तति-निरोध के उपाय समझाए जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ साहित्य भी प्रकाशित किया गया है और उसे बिना मूल्य बांटा भी जा रहा है। कुछ स्थानों पर दवाइयां भी मुफ्त बांटी जा रही हैं।

किन्तु इस प्रकार का सारा प्रयास मुख्य रूप से अभी तक शहरों में ही हुआ है और यह समस्या शहरों से भी कहीं अधिक उग्र गांवों में है। जब तक गांव के लोगों को इन उपायों को सिखाकर इनका पालन करने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता, तब तक किसी भी बड़ी सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

कई बार कुछ उत्साही लोग यह युक्ति भी प्रस्तुत करते देखे जाते हैं कि हमें देश की जनसंख्या को घटाने का प्रयत्न न करके उसे कार्य में लगाकर उससे लाभ उठाना चाहिए। परन्तु यह युक्ति इसलिए थोथी है, क्योंकि देश में जितनी जन-संख्या इस समय विद्यमान है, उसीका एक बड़ा भाग बेकार है और भूखों मर रहा है। इसलिए इस विषय में तो कोई दुविधा रहनी ही नहीं चाहिए कि यदि देश की जनसंख्या कम न भी की जा सके, तो भी उससे अधिक तो किसी भी दशा में नहीं होने देनी चाहिए, जितनी कि इस समय है।

यह आश्चर्य की ही बात है कि इतनी सीधी-सी बात को लोग स्वयं नहीं समझ पाते। आजकल के महंगाई के दिनों में छोटे-से परिवार का भरण-पोषण करना ही काफी कठिन होता है, उसपर बच्चों की संख्या को बढ़ाते जाना तो जान-बूझकर कष्ट और भुखमरी को आमन्त्रित करना है। वैसे आर्थिक कठिना-इयों में पड़कर बहुत लोग इस कष्ट को हृदयंगम करने लगे हैं, और जिन्हें अपने उत्तरदायित्व का कुछ भी ज्ञान है, वे इस विषय में सचेत रहने लगे हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में अभी प्रचार की बहुत आवश्यकता है। यदि किसी प्रकार सभी लोगों में इस प्रकार की उत्तरदायित्व की भावना जगाई जा सके, तो यह समस्या हल हो सकती है।

अन्य संभावित शीर्षक

१. सन्तति-निरोध

२. हमारी जनसंख्या को समस्या

विज्ञान वरदान है या अभिशाप ?

यों तो मनुष्य को इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए लाखों वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक उन्नति पिछले दो सौ वर्षों में ही हुई है। ऐसा मानने वालों की भी कमी नहीं है कि इस प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति अतीत में अनेक बार हो चुकी है और फिर अपने आप ही विनष्ट भी हो गई है। परन्तु जहां-तहां विमानों और दिव्यास्त्रों के कवित्वमय उल्लेख के अतिरिक्त और कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे इस बात का कुछ प्रमाण मिल सके कि पहले भी कभी इस प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति हुई थी।

वैज्ञानिक उन्नति न होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्राचीन लोग असभ्य या असंस्कृत थे। बल्कि सत्य तो यह है कि नैतिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में उनकी देन इतनी उत्कृष्ट है कि वर्तमान में उसका कहीं कोई जोड़ ही नहीं है। उस युग में उन्होंने कला-कौशल विकसित किया था, अच्छे-अच्छे विशाल भवन बनाए थे और मृत शवों को सुरक्षित रखने की पद्धति का भी विश्व में आविष्कार किया जा चुका था; किन्तु सम्भवतः भाप, बिजली और परमाणु शक्ति जैसी प्राकृतिक शक्तियों को वश में करके उनका उपयोग मानव के सुख के लिए नहीं किया गया था।

वैसे तो यदि बारीकी से छान-बीन की जाए, तो यह बात दृष्टिगोचर होगी कि मनुष्य प्रारम्भ से ही अनुसन्धानप्रिय रहा है। जो-जो कठिनाइयां उसके मार्ग में आती गई, उनको अपने बुद्धिबल से वह दूर करता गया है। इस दृष्टि से केवल

भाप, बिजली और परमाणु-शक्ति ही आविष्कार नहीं हैं, अपितु आग, पहिया और मकान भी उतने ही महत्वपूर्ण आविष्कार हैं। इस प्रकार विज्ञान के कदम चिरकाल से आगे और आगे बढ़ते रहे हैं। इतना अवश्य है कि पहले उनकी गति मन्द थी और पिछले दो सौ साल में वह एकाएक तीव्र हो उठी है।

आजकल आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य की सेवा के लिए अनेक साधन जुटा दिए हैं। पुरानी कहानियों के अलादीन के चिराग का वर्णन आज मामूली और तुच्छ जान पड़ता है। उस चिराग का दैत्य जो काम कर सकता था, उन्हें विज्ञान बड़ी सरलता से कर देता है। रातोंरात महल बनाकर खड़ा कर देना, आकाश में उड़-कर दूसरे स्थान पर चले जाना, शत्रु के नगर को मिनटों में बरबाद कर देना इत्यादि बातें ऐसी ही हैं। जैसे वस्त्र पहले राजाओं को भी दुर्लभ थे, वैसे वस्त्र आज दो सौ रुपये मासिक पाने वाले बाबुओं को भी सुलभ हैं। आजकल के वाहन, आज-कल के मनोरंजन के साधन, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि की सुविधाएं सामान्य लोगों को प्राप्त हैं। मुगलकाल में दिल्ली में बर्फ डलहौजी से मंगाई जाती थी और वह केवल बादशाहों को ही मिल पाती थी, किन्तु आज विज्ञान की कृपा से गरीब से गरीब आदमी भी गर्मियों में बर्फ का प्रयोग कर सकता है।

सबसे बड़ी बात यह हुई है कि विज्ञान ने मानवीय श्रम की बचत कर दी है। पहले सब काम मनुष्य को अपने हाथ से करने पड़ते थे; किन्तु अब उसका काम मशीनें करती हैं। ये मशीनें जादू की कहानियों के दैत्यों से कम नहीं हैं। ये काम जल्दी करती हैं और अच्छा करती हैं; बिना थके लगातार काम करती रह सकती हैं। ट्रैक्टर खेती में सहायता देते हैं। वस्त्र बुनने की मशीनें दिन-रात आदमी के लिए कपड़ा बुनती हैं। रेलें, मोटरें, विमान और पानी के जहाज़ उसे इच्छा-नुसार भूमंडल के एक भाग से दूसरे भाग तक ले जाते हैं। प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करके मनुष्य कहीं अधिक शक्तिशाली और सुखी बन गया है।

अब से दो सौ वर्ष पहले के दिनों की कल्पना कीजिए। लोग सवेरे उठते ही जीविका-उपार्जन में जुट जाते थे और दिन छिपने के काफी देर बाद तक भी काम में जुटे रहते थे। बड़ी कठिनाई से अन्न और वस्त्र प्राप्त हो पाते थे। किन्तु अब मनुष्य बहुत थोड़े समय काम करके अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर

लेता है और शेष समय को अध्ययन, मनोरंजन या किसी भी अन्य उपयोगी कार्य में लगा सकता है।

विज्ञान ने हमारे जीवन में इतना परिवर्तन कर दिया है कि अगर दो सौ वर्ष पूर्व का कोई व्यक्ति आज आकर हमें देखे, तो यही समझे कि हम स्वर्ग में रह रहे हैं। नये से नये ढंग के नाइलोन के वस्त्र, बढ़िया मोटर कारें, रेडियो और टेलीवीजन, वायु-अनुकूलन के यंत्र, रिफ्रिजिरेटर, सिनेमा, बिजली की जगमगाहट इत्यादि वस्तुओं की कल्पना कवि लोग स्वर्ग के लिए भी नहीं कर पाए थे। इसके अतिरिक्त चिकित्सा के अद्भुत साधन विज्ञान ने जुटा दिए हैं। रोगों की परीक्षा की अच्छी से अच्छी विधियां निकल आई हैं। एक्स-रे द्वारा शरीर के अन्दर का भी चित्र लिया जा सकता है और शल्यतन्त्र ने तो इतनी उन्नति कर ली है कि बीमार आदमी के हृदय को निकालकर उसकी जगह किसी बन्दर जैसे अन्य प्राणी का हृदय लगाया जा सकता है और उसे लम्बा जीवन दिया जा सकता है। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि अब विज्ञान मरे हुए आदमी को भी जिला सकता है। इसलिए विज्ञान को वरदान न कहा जाए, तो क्या कहा जाए?

परन्तु विज्ञान का एक दूसरा भी पहलू है। जहां इसने मनुष्य के हाथ में इतनी अधिक शक्ति दी है, वहां उस शक्ति के प्रयोग पर कोई रोक-थाम नहीं लगाई। इसलिए उस शक्ति का जितना उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया गया है, उससे अधिक विनाशात्मक कार्यों के लिए। पहले युद्ध होते थे। उनमें जय-पराजय आसानी से हो जाती थी और विनाश बहुत कम होता था। किन्तु विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ युद्धों की भयंकरता बहुत बढ़ गई है और गत दो महायुद्धों में इतना भयंकर विनाश हुआ है कि उसको हृदयंगम कर पाना भी कठिन है। और अब परमाणु बम और हाइड्रोजन बम के आविष्कार के बाद तो विनाश की मात्रा कितनी होगी, यह कह पाना भी सम्भव नहीं है।

विज्ञान की उन्नति अंशतः युद्ध के कारण भी हुई है। युद्ध में विजय पाने के लिए भयंकर विस्फोटकों, विमानों और राकेटों का आविष्कार किया गया है। इसके अतिरिक्त युद्ध में अन्य सभी वैज्ञानिक आविष्कारों से पूरा लाभ उठाया जाता है। रेलें और मोटरें केवल मनुष्य को सैर ही नहीं करातीं, अपितु सेनाओं को मोर्चों

तक भी पहुंचाती हैं। रेडियो केवल मनोरंजन और समाचार ही प्रदान नहीं करता अपितु सेनाओं में सम्वादवहन का एक प्रमुख साधन है। इसी प्रकार युद्ध-काल में सभी वैज्ञानिक आविष्कार शत्रु के विनाश के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। इससे शत्रु का विनाश अधिक होता हो या अपने पक्ष का, किन्तु समूची मानव-जाति की दृष्टि से तो हानि होती ही है। एक युद्ध में जितना विनाश हो जाता है, वह आधी शताब्दी के परिश्रम से भी पूरा नहीं किया जा सकता।

पहले युद्ध केवल सेनाओं तक सीमित रहते थे। असैनिक लोगों पर आक्रमण करना युद्ध-नीति के विरुद्ध था। किन्तु अब वैज्ञानिक युद्ध इतने विस्तृत हो गए हैं कि नगरों पर और कारखानों पर बम-वर्षा करना मामूली बात हो गई है। यदि सैनिक जीवित बच भी जाएं, तो भी उनके मकान नष्ट हो चुके होते हैं। अन्न, वस्त्र तथा जीवन की अन्य सामग्रियां बर्बाद हो जाती हैं। पहले आहत सैनिक प्रायः मर जाते थे। किन्तु अब नई चिकित्सा द्वारा उन्हें जीवित रखा जाता है और वे सारा जीवन अपाहिज के रूप में बिताते हैं।

परमाणु बम के प्रयोग से पहले भी युद्ध की भयंकरता रोमांचकारी थी। किन्तु परमाणु बम के संहार को देखते हुए तो वह बच्चों का खेल जान पड़ती है। परमाणु बम की चोट से न केवल लाखों आदमी कुछ ही घंटों में मर गए, अपितु जो लोग आहत होकर जीवित बच गए, उन्हें नरक-वास से भी अधिक कष्ट सहना पड़ा। रेडियो-सक्रियता के कारण उनके शरीर में ऐसी व्याधियां हो गईं, जिनके कारण वे घुल-घुलकर मरे। यदि भविष्य में परमाणु-युद्ध हुआ, तो इस प्रकार का कष्ट कितना अधिक होगा, कह पाना कठिन है।

यह ठीक है कि विज्ञान ने मनुष्य को अनेक सुविधाएं प्रदान की हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन सुविधाओं से मनुष्य के सुख में ही वृद्धि हुई है। बिजली के आविष्कार से पहले कारखानों में केवल दिन में काम होता था और मज़दूर रात को सुख की नींद सो सकते थे। किन्तु अब कारखानों में दिन-रात काम होता है और हज़ारों मज़दूरों को रात में जागकर काम करना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी, देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के श्रम की बचत हो रही है, परन्तु वस्तुतः मनुष्य को जीवित रहने के लिए अब पहले की अपेक्षा अधिक श्रम

करना पड़ता है और अधिक सतर्क और सावधान रहना पड़ता है क्योंकि तनिक-सा असावधान होते ही मशीनें मनुष्य को ही कुचल देने को तैयार हो जाती हैं।

मशीनों की उन्नति का तथा अन्य वैज्ञानिक सुविधाओं का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की अपनी शक्तियां क्षीण होती जा रही हैं। उसमें पहले का-सा बल, फुर्ती और सहनशक्ति नहीं रही। अब वह मशीनों का दास है। मोटर पर प्रति घंटे ६० मील की चाल से सफर करने वाला व्यक्ति अब पैदल दो मील भी नहीं चल सकता। वायु-अनुकूलित कमरे में समय बिताने वाला व्यक्ति ज़रा-सी धूप या ज़रा-सी सर्दी में बाहर निकलते डरता है, क्योंकि उससे उसे बीमार होने का भय रहता है। सभी क्षेत्रों में विज्ञान ने मनुष्य को पंगु बना दिया है।

यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक उन्नति के कारण लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो गया है। जितनी सुविधाएं उन्हें पहले कभी उपलब्ध नहीं हुई थीं उतनी अब उपलब्ध हो सकती हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि इस रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करने की दौड़ का कहीं अन्त नहीं है। इन साधनों को जुटाने में मनुष्य को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति और समय लगाना पड़ता है। पहले लोग कुएं का ठंडा पानी पीकर सन्तुष्ट रहते थे। किन्तु अब रेफ्रिजिरेटर का ठंडा पानी पीने के लिए उन्हें अपनी सारी शांति, सुख और सन्तोष गंवा देना पड़ा है। इस प्रकार आवश्यकताओं और लालसाओं के बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य का नैतिक स्तर गिर गया है। सहानुभूति और ईमानदारी समाप्त हो गई है। विज्ञान ने युद्धों के द्वारा केवल भौतिक विनाश ही नहीं किया है, अपितु नैतिकता और सद्भावनाओं को भी नष्ट कर डाला है।

यह ठीक है कि इस सारे विनाश के लिए विज्ञान को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। विज्ञान तो एक शक्ति है, जिसका उपयोग अच्छे और भले, दोनों तरह के कार्यों के लिए किया जा सकता है। यह एक तलवार है, जिससे शत्रु का गला भी काटा जा सकता है और मूर्खता से अपना भी। विनाश करना विज्ञान का दोष नहीं है, अपितु मनुष्य के असंस्कृत मन का दोष है। यदि मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों को रचनात्मक दिशा में ढाल ले, तो विज्ञान एक बड़ा वरदान है। किन्तु जब तक मनुष्य मानसिक विकास की उस सीढ़ी पर नहीं पहुंचता, तब तक विज्ञान से जितना

विनाश होगा, उसका कलंक विज्ञान के सिर भी रहेगा और उसे अभिशाप ही समझा जाएगा। मूर्ख भी कम से कम इतना तो कह ही सकता है कि यदि मेरे पास तलवार न होती, तो मैं अपनी अंगुली न काट सकता।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. विज्ञान के लाभ और हानियां

धर्म और विज्ञान

आजकल दिनोंदिन धर्म का प्रभाव क्षीण और क्षीण होता जा रहा है और विज्ञान का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ रहा है। किन्तु कुछ समय पूर्व स्थिति इससे ठीक उल्टी थी। लगभग २५० वर्ष पहले जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म का आधिपत्य छाया हुआ था और विज्ञानवेत्ताओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। ऐसा समझा जाने लगा था कि वैज्ञानिक अनुसंधान धर्मग्रन्थों की शिक्षाओं के प्रतिकूल हैं और विज्ञान से नास्तिकता को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए प्रभावशाली धर्मगुरुओं ने विज्ञानवेत्ताओं के विरुद्ध ज़िहाद-सा बोला हुआ था और कुछ विज्ञानवेत्ताओं को तो अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा था। अब तक भी धर्म और विज्ञान का वह विरोध पूरी तरह समाप्त हुआ नहीं दीखता।

वस्तुतः शांत भाव से देखा जाए, तो धर्म और विज्ञान दोनों ने ही मानवजाति की उन्नति में योग दिया है। भौतिक पक्ष की उन्नति विज्ञान के कारण हुई है, तो मानसिक और आत्मिक उन्नति का श्रेय धर्म को ही है। पता नहीं, पशुओं का भी काम केवल भौतिक आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने से चल सकता है या नहीं, किंतु मनुष्य का काम तो निश्चित ही नहीं चल सकता। उसके लिए भौतिक सुख-सुविधाओं की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही, अपितु उससे भी कुछ अधिक मानसिक और आध्यात्मिक शान्ति और आनन्द की है। इसलिए मानव-

जगत् में धर्म और विज्ञान दोनों का महत्त्व सदा रहा है और आगे भी शायद बना रहेगा। यह बात दूसरी है कि किसी काल-विशेष की परिस्थितियों के कारण कभी एक का प्रभाव घट जाए और कभी दूसरे का।

हमें पहले धर्म के स्वरूप को समझना चाहिए। धर्म मानव-मन की एक उच्च भावना है। इसके द्वारा मनुष्य में सहानुभूति, सेवा, परोपकार आदि की भावनाएं जागरित होती हैं। धर्म के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह जैसे अच्छे गुणों का अभ्यास और काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे दुर्गुणों का त्याग आवश्यक माना गया है। धार्मिक मनुष्य को भौतिक सुखों की ओर आकृष्ट न होकर कष्ट-सहन का अभ्यास करना चाहिए। अच्छे कर्म करने चाहिएं। सत्य पर दृढ़ रहना चाहिए, चाहे उसके लिए कितना ही कष्ट सहन क्यों न करना पड़े। धार्मिक मनुष्य की दृष्टि में जीवन का अन्त इसी संसार में नहीं हो जाता, अपितु मर जाने के बाद भी आत्मा रहती है और वह दूसरे जन्म लेकर अच्छे कर्मों के कारण सुख और बुरे कर्मों के कारण दुःख पाती है। जो लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते, वे भी परलोक, स्वर्ग और नरक को मानते हैं। इसलिए वे सोचते हैं कि इस संसार के छोटे-से जीवन में सुख भोग करने की अपेक्षा परलोक के लम्बे जीवन के लिए पुण्य-संचय करना चाहिए। लगभग सभी धर्मों में ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार की गई है, जो भले लोगों को सहायक और दुष्टों को दंड देने वाला है। धार्मिक मनुष्य को ईश्वर पर विश्वास रखकर ठीक रास्ते पर चलते जाना चाहिए। उसकी सारी विघ्न-बाधाएं दूर हो जाएंगी और उसे सफलता अवश्य मिलेगी।

ये सब शिक्षाएं और आदेश बहुत अच्छे हैं। इनसे संसार का बहुत लाभ हुआ है और हज़ारों-लाखों जीवन इनके फलस्वरूप सुधर गए हैं। कितने ही सन्त-महात्माओं ने अपना जीवन धर्म के कार्यों में उत्सर्ग कर दिया और दीन-दुखियों के दुःखों को दूर करना ही अपना लक्ष्य बना लिया। उनके निर्मल और पवित्र जीवन से और भी कितने ही पथभ्रष्ट लोगों को प्रकाश दिखाई दिया। कितने ही दुष्ट और हिंस्र मनुष्य उनके पवित्र प्रभाव में आकर सुधर गए। ऐसे त्यागी, तपस्वी, सन्त लोगों के प्रति लोगों की श्रद्धा होनी स्वाभाविक थी। बड़े-बड़े धनाधीशों ने उनकी सेवा के लिए मठ और मन्दिर बनवाए। उनकी सुख-सुविधा के लिए साम-

ग्रियां जुटाईं और सन्त-महात्माओं के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए जो-जो भी सहायता आवश्यक थी, वह सब उनके भक्तों ने प्रदान की। इसीलिए धर्म का प्रभाव संसार के कोने-कोने में छा गया। बड़े-बड़े तीर्थों और नगरों का तो कहना ही क्या, छोटे-छोटे गांवों तक में धर्म-मन्दिर बन गए।

किन्तु कालान्तर में धर्म का रूप विकृत होने लगा। चरम उत्कर्ष तक पहुंचने के बाद पतन प्रारम्भ हुआ। सच्चे महात्माओं की सेवा के लिए जो मठ और मन्दिर बनाए गए थे, उनमें सुख और सुविधाओं के लोभ से ढोंगी, पाखंडी लोग आ भरे। त्याग और सेवा की भावनाएं समाप्त हो गईं। मठों की सम्पत्ति का उपयोग मठों के महन्त अपने विलास के लिए करने लगे। अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए उन्होंने तरह-तरह के पाखंड और आडम्बर रचे। जनता को प्रकाश का मार्ग दिखाने की बजाय उन्होंने उसे अज्ञान के अंधकार में डुबाए रखना अधिक भला समझा। इस प्रकार किसी समय जो धर्म उच्च भावनाओं से प्रेरित और समाज की उन्नति का साधन था, वह रूप बिगड़ जाने पर समाज के पतन का कारण बन चला। ईश्वर के बजाय भूत-प्रेतों की पूजा होने लगी। शुभ कार्य करके स्वर्ग पाने का प्रयत्न करने के बजाय पुरोहित और मठाधीश धन लेकर लोगों को स्वर्ग में सुविधाएं दिलाने का वचन देने लगे। बड़े से बड़े पाप का प्रायश्चित्त धन देने से होने लगा।

यह थी अन्धविश्वास और अन्ध श्रद्धा की चरम सीमा। जिस प्रकार धर्म की उन्नति स्थिर न रह सकी, उसी प्रकार धर्म की अवनति के ये क्षण भी मनुष्य को देर तक भुला रखने में असमर्थ हुए। उस समय विज्ञान ने सिर उठाना शुरू किया। विज्ञान की मूल प्रवृत्ति तर्क और प्रत्यक्ष दर्शन के बाद ही विश्वास करने की थी। या तो कोई बात तर्क द्वारा समझ आ जाए या आंखों से देखी जा सके, उसीपर विश्वास किया जा सकता है। केवल किसी धर्मपुस्तक में लिखे होने या किसी धर्म-गुरु द्वारा कही गई होने के कारण विज्ञान किसी बात को सत्य स्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान का तर्क धर्म द्वारा प्रचारित श्रद्धा का ठीक विरोधी पड़ता था, इसी-लिए धर्म और विज्ञान में विरोध उठ खड़ा हुआ। धर्म की आड़ में जो स्वार्थी लोग अपना उल्लू सीधा कर रहे थे, उनके हितों को विज्ञान से आंच पहुंचती थी, इस-लिए उन्होंने वैज्ञानिकों के रास्ते में रोड़े अटकाना और उन्हें तरह-तरह से कष्ट

देना प्रारम्भ किया। किन्तु सत्य का रथ पथ की विघ्न-बाधाओं से कभी रुका नहीं। जब एक बार धर्म के पाखंडों की पोल खुल गई, तो लोग प्राणों की बाज़ी लगाकर सत्य की खोज में जुट गए। अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा का विशाल गढ़ देखते-देखते धराशायी हो गया। धर्म के ठेकेदार अपनी कल्पना के स्वर्ग में जिन सुखों की आशा दिलाते थे, उन्हें विज्ञान ने अपनी खोजों से इसी संसार में प्रस्तुत कर दिखाया। धर्म परमेश्वर की पूजा कर रहा था। विज्ञान ने प्रकृति की पूजा की। उसने वायु, जल, अग्नि, विद्युत् आदि शक्तियों को अपने वश में किया और उनसे अनेक प्रकार के काम लेकर मनुष्य के जीवन को सुखी और समृद्ध बना दिया। विज्ञान ने मनुष्य को इतनी शक्ति दी कि वह जल में, वायु में या समुद्र के गर्भ में इच्छानुसार जहां चाहे घूम सके। विज्ञान की सफलता ठोस और प्रत्यक्ष थी। उसके मुकाबले में धर्म की स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं धुंधली पड़ गई और उनपर से लोगों का विश्वास उठ गया।

विज्ञान ने मनुष्य को एक वस्तु दी है और वह है—तर्कबुद्धि। विज्ञान का एक ही दावा है और वह यह कि वह केवल उसी वस्तु पर विश्वास करेगा जिसे वह प्रत्यक्ष कर सके। 'प्रत्यक्ष कर सके' का अर्थ यह नहीं है कि उसे आंखों से देखा जा सके अपितु यह है कि उसे बुद्धि द्वारा समझा जा सके और अपने उपकरणों द्वारा नापा-तोला जा सके। यद्यपि आज तक किसी भी विज्ञानवेत्ता ने परमाणु को देखा नहीं है, फिर भी उन्होंने परमाणु की लम्बाई-चौड़ाई को नाप लिया है, उसका बोझ तोल लिया है और अपने उपकरणों से उसे फाड़कर उससे अपार ऊर्जा उत्पन्न कर दिखाई है। इससे स्पष्ट है कि आंखों से न देख पाने पर भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तर्क-बुद्धि जगाकर विज्ञान ने मनुष्य की अन्ध श्रद्धा को दूर कर दिया है।

जिस प्रकार धर्म का रूप विकृत हुआ और धर्म पाखंड और आडम्बरों में परिवर्तित हो गया, उसी प्रकार विज्ञान का रूप भी विकृत हो गया। जिस विज्ञान ने मनुष्य की सुख-सुविधा के लिए रेलगाड़ी, विमान, बिजली, रेडियो आदि साधन जुटाए थे, उसीने विनाशकारी विस्फोटक, तोपें, टैंक और परमाणु बम जैसे शस्त्रास्त्र भी जुटा दिए। जो विज्ञान मनुष्य की आकांक्षा की वस्तु था, वही परमाणु-आयुधों

के परीक्षणों के कारण आज भय की वस्तु बन गया है। संसार के सभी देशों में परमाणु आयुधों के परीक्षणों को बन्द करने की मांग की जा रही है, किन्तु कहीं भी अभी तक ये परीक्षण बन्द नहीं हुए हैं। यदि धर्म का विकृत रूप मनुष्य को जड़ता और मूढ़ता की ओर ले जा रहा था, तो विज्ञान का विकृत रूप समस्त मानव-जाति को महाविनाश की ओर लिए जा रहा है; और यह अन्धी दौड़ अभी जारी है।

मनुष्य के समृद्ध और सुखी जीवन के लिए धर्म और विज्ञान दोनों का समुचित समन्वय करना आवश्यक है। अकेला धर्म शायद संसार को समृद्ध नहीं कर सकता और अकेला विज्ञान सारे संसार में शान्ति और सुख नहीं भर सकता। मनुष्य को जहां भौतिक सुख और समृद्धि की आवश्यकता है, वहां मानसिक शांति की भी है। मनुष्य में दिव्य और दानवीय दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। धर्म दानवीय प्रवृत्तियों का दमन करता और दिव्य प्रवृत्तियों को जगाता है। यदि धर्म का अंकुश न रहे, तो अकेला विज्ञान मनुष्य को कभी भी सुखी नहीं रख सकता।

रामायण की कथा तथा अन्य अनेक पौराणिक कथाओं का यही निष्कर्ष निकलता है कि भौतिक उन्नति तो दानव और राक्षस अधिक कर लेते थे और उसके फलस्वरूप वे तीनों लोकों को भी जीत लेते थे, परन्तु धर्म का अभाव होने के कारण उनकी वह जय न तो लोक-कल्याण के लिए होती थी और न स्थायी हो पाती थी। लोक-कल्याण के लिए विज्ञान के साथ धर्म का समन्वय आवश्यक है।

इस प्रकार विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य के सम्मुख धर्म या विज्ञान, दोनों में से एक को चुनने का प्रश्न नहीं है, अपितु दोनों को ग्रहण करके उन्हें समन्वित रूप में अपनाने का प्रश्न है। वस्तुतः धर्म और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान हमें अन्धविश्वासों के गढ़े में गिरने में बचाता है और धर्म हमारी दुष्ट प्रवृत्तियों का दमन करने में सहायक होता है। क्योंकि यदि मनुष्य के पास विज्ञान द्वारा प्रदत्त शक्ति तो हो, किन्तु उस शक्ति का प्रयोग करने के लिए धर्म द्वारा निर्दिष्ट सेवा और परोपकार की दिशा न हो, तो मनुष्य का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। अकेला विज्ञान मानव जाति के आत्मघात का साधन है और अकेला धर्म मानव-जाति की जड़ता का।

किन्तु दोनों के सहयोग से मानव-जाति निरन्तर सुख, समृद्धि और शांति की ओर बढ़ती चली जा सकती है।

देशभक्ति

जिस देश में हमने जन्म लिया और जहां पलकर हम बड़े हुए हैं, उसके प्रति प्रेम या अनुराग होना बिलकुल स्वाभाविक है। जिस प्रकार मनुष्य को अपने परिवार से, माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र आदि से प्रेम होता है, उसी प्रकार साथ रहते-रहते अपने पड़ौसियों से भी प्रेम हो जाता है और यही प्रेम का भाव जब और अधिक उदार और विकसित हो जाता है, तो मनुष्य अपने सभी देशवासियों को अपना भाई या मित्र समझ लेता है और उनसे प्रेम करता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का यही अर्थ है कि मां और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक सुख देने वाली हैं।

देशभक्ति मन की एक उच्च भावना है। यह हमें देश के प्रति अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रेरित करती है। देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के लिए अथवा देश की दशा को सुधारने के लिए देशभक्त त्याग करते कभी नहीं हिचकिचाता। सच्चे देशभक्त की दृष्टि में देश की सेवा करना ही सबसे बड़ा कर्तव्य होता है।

पहले यह समझ लेना उचित होगा कि देश क्या है ? किसी भी बड़े भूभाग को हम देश कह सकते हैं; किन्तु वहां के पहाड़, वहां की नदियां और वहां के वन ही देश का सब कुछ नहीं हैं; उन वस्तुओं के प्रति तीव्र प्रेम होना ही देशभक्ति नहीं है, अपितु उस देश के निवासी देश का और भी महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जैसे भूभाग के बिना केवल निवासी देश नहीं कहला सकते, उसी प्रकार निवासियों के बिना भी कोई भूभाग देश नहीं कहलाएगा, विशेष रूप से देशभक्त की दृष्टि में। देशभक्त के

लिए तो भूभाग और उसके निवासी दोनों मिलकर ही देश हैं।

हमारी उन्नति या अवनति, हमारी समृद्धि या दुर्दशा, हमारे देश की दशाओं पर ही निर्भर है। जो लोग उन्नत देशों में जन्म लेते हैं, वे अधिक अच्छी शिक्षा पाते हैं, अधिक सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत पिछड़े हुए असभ्य देशों के निवासी उन्नति की दौड़ में पीछे रहते हैं और जीवन का अधिकांश भाग कष्ट में बिताते हैं। इस संबंध में हमें दास-व्यापार के दिनों को नहीं भूलना चाहिए, जबकि यूरोप के लोग अफ्रीका के हब्शियों को दासों के रूप में पकड़ ले जाते थे और उन्हें इस प्रकार बेच देते थे मानो वे पशु हों। इसका कारण यही था कि यूरोप के देश शस्त्र-बल और शिक्षा की दृष्टि से उन्नत थे और वे अफ्रीका के निवासियों पर विजय पा सकते थे। इस उदाहरण का प्रयोजन केवल इतना है कि यदि हमारा देश उन्नत न हो और स्वाधीन न हो, तो हमारी दशा भी दासों जैसी हो सकती है; और यदि हमारा देश उन्नत और समृद्ध हो, तो हम संसार में गौरव के साथ सिर ऊंचा करके खड़े हो सकते हैं।

इसलिए देश के प्रत्येक निवासी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने देश की दशा को सुधारने के लिए जो कुछ कर सकता है, अवश्य करे। इस समय हमारे देश की जो भी स्थिति है, वह हमारे पूर्वजों के कार्यों का फल है। यदि कभी हमारा देश पराधीन हो गया था, तो उसका कारण यह था कि उससे पहले की पीढ़ी ने देश के प्रति अपना कर्तव्य पूरी तरह नहीं निभाया। उसके बाद जब देश स्वाधीन हुआ, तो उसका अर्थ यह था कि उससे पहले की पीढ़ी ने देश को स्वाधीन कराने के लिए परिश्रम किया, बलिदान किया और संघर्ष किया। आज हमारे ही नहीं, अपितु किसी भी देश की जो दशा है, वह अब से पहले की पीढ़ियों के कार्यों का परिणाम है और अब हम जो कुछ करेंगे, उसका परिणाम आगे आने वाली पीढ़ियों के सम्मुख आएगा।

जब कोई देश पराधीन होता है, तब उसको पराधीनता के चुंगल से छुड़ाने के लिए देशभक्ति की भावना को जगाना आवश्यक होता है। इसी प्रकार जब किसी स्वाधीन देश पर कोई दूसरा देश आक्रमण कर देता है, तब उस आक्रमण का मुका-बला करने के लिए भी देशभक्ति की भावना को जागरित करना आवश्यक हो

जाता है। संसार का इतिहास ऐसे असंख्य उज्वल उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनमें लोगों ने अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए हंसते-हंसते अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। ऐसे देशभक्त वीर प्रायः सभी देशों में और सभी कालों में होते रहे हैं। रूस, जापान, जर्मन, इंग्लैण्ड इत्यादि सभी देशों में देशभक्त वीरों को अत्यन्त गौरव का स्थान दिया गया है और उनकी कहानियों को बड़े प्रेम और आदर के साथ सुना जाता है। हमारे भारतवर्ष में भी देशभक्तों की परम्परा बड़ी उज्वल रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से भारत का ज्ञात इतिहास प्रारम्भ होता है। उस समय सिकन्दर के आक्रमण को रोकने के लिए छोटे-छोटे राजाओं ने जिस वीरता का परिचय दिया, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। उस वीरता का ही यह परिणाम था कि सिकन्दर व्यास नदी से आगे न बढ़ सका। चंद्रगुप्त मौर्य ने विदेशी आक्रान्ताओं को इस बुरी तरह अफगानिस्तान से परे खदेड़ दिया कि उन्होंने कई शताब्दियों तक इस ओर मुंह न किया। उसके बाद भी पुष्य-मित्र, समुद्रगुप्त, शालिवाहन और विक्रमादित्य आदि राजाओं ने देश को विदेशी आक्रांताओं से मुक्त कराने के लिए घोर युद्ध किए और सफलता प्राप्त की। मुगल-काल में भी राणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल और गुरु गोविन्दसिंह अत्याचारी शासन के विरुद्ध लड़ते रहे। अंग्रज़ों के राज्य-काल में १८५७ में लाखों वीरों ने देश को स्वाधीन कराने के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी और उसके बाद भी स्वाधीनता की लड़ाई कभी उग्र और कभी मन्द रूप में १९४७ तक चलती रही। अन्त में देश स्वाधीन होकर रहा। अनेक नवयुवक देश की स्वाधीनता के लिए जानते-बूझते हंसते-हंसते फांसी पर झूल गए या गोलियों के सामने छाती खोलकर वीरगति को प्राप्त हुए।

देश की स्वाधीनता मिल जाने से यह नहीं समझना चाहिए कि अब देशभक्ति की आवश्यकता नहीं रही या अब देशभक्तों के करने के लिए कुछ कार्य शेष नहीं है। वस्तुतः ऐसा समय कभी नहीं आ सकता, जबकि देशभक्त के करने के लिए कुछ शेष न रहे; क्योंकि देशभक्त का कार्य केवल विदेशी शासन या आक्रमण के विरुद्ध लड़ना ही नहीं है, अपितु देश की दशा सुधारने के लिए अशिक्षा, गरीबी और सामाजिक विषमता के विरुद्ध लड़ना भी है। सभी देशों में सदा कुछ न कुछ त्रुटियां

ग्रौर ग्रभाव ग्रवश्य होते हैं, जिन्हें दूर करने के लिए देशभक्त कार्य कर सकता है।

पिछली ग्राधी शताब्दी में देशभक्ति का ग्रर्थ यह समझा जाने लगा था कि ग्रपने देश की उन्नति के लिए प्रयास किया जाए; पड़ोसी देशों को जीतकर ग्रपने ग्रधीन किया जाए ग्रौर इस प्रकार ग्रपने देश का गौरव बढ़ाया जाए। यहां तक कि कुछ देशों ने तो विश्व-विजय करने के मनसूबे भी बांधे थे। परन्तु गत दो विश्व-युद्धों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यह देशभक्ति का बिगड़ा हुग्रा रूप है। दूसरे देशों को ग्रपने ग्रधीन करके उनका शोषण करना मानव-मन की उच्च भावना नहीं कही जा सकती, जबकि देशभक्ति एक बहुत उच्च भावना का नाम है। ग्रब वे दिन लद गए प्रतीत होते हैं कि जब बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को जीतकर उन-पर शासन किया करते थे। इसलिए ग्रब देशभक्ति का ग्रर्थ भी ठीक-ठीक समझा जाना चाहिए। देशभक्ति का प्रयोग रचनात्मक कार्यों के लिए होना चाहिए, विनाशात्मक कार्यों के लिए नहीं। देशभक्त को यदि कभी युद्ध करना ही हो, तो वह ग्रपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति ग्रथवा रक्षा के लिए करना चाहिए। दूसरों की स्वाधीनता के ग्रपहरण के लिए कदापि नहीं।

सच्चे देशभक्त को देश के लिए ग्रात्मबलिदान करना पड़ता है। उसे ग्रपने व्यक्तिगत हानि-लाभ की परवाह न करते हुए देश के हित के लिए ग्रपनी संपूर्ण शक्ति लगा देनी पड़ती है। ऐसा बलिदान कभी व्यर्थ नहीं जाता ग्रौर किसी भी देश के निवासी ऐसे कृतघ्न नहीं होते कि वे ऐसे बलिदान का ग्रादर न करें। सभी देशों में सच्चे देशभक्तों की पूजा होती है। परन्तु ग्राजकल बहुत-से लोग ग्रपना उल्लू सीधा करने के लिए देश-सेवा का ढोंग रचते हैं; चुनाव लड़ते हैं ग्रौर उच्च पद पाने के लिए लालायित रहते हैं। ऐसे स्वार्थी लोगों में ग्रौर सच्चे देशभक्तों में ग्रन्तर छिपा नहीं रहता। स्वार्थी लोगों का लोग केवल उस समय तक ग्रादर करते हैं, जब तक उनके हाथ में सत्ता रहती है; किन्तु सच्चे देशभक्तों का ग्रादर सत्ता न रहने पर भी होता है ग्रौर उनकी मृत्यु के पश्चात् भी होता है।

ग्रन्य सम्भावित शीर्षक

१. देशप्रेम
२. देशभक्त का कर्तव्य

नागरिकता

किसी भी देश में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली तभी सफल हो सकती है, जब उस देश के सब निवासियों में नागरिकता की भावना भली भांति विद्यमान हो। नागरिकता का अर्थ यह है कि मनुष्य को अपने कर्तव्यों और अधिकारों का भली भांति ज्ञान हो। कर्तव्यों का पालन कराने के लिए उसे किसी दंड के भय की आवश्यकता न हो और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए वह संघर्ष करने को भी तैयार हो। तानाशाही शासन में नागरिकता के विकास की गुंजाइश नहीं होती।

अत्यन्त प्राचीन काल में, जब मनुष्य समाज में नहीं रहता था, तो वह चाहे जैसा स्वच्छन्द जीवन बिता सकता था। किन्तु जब से उसने समाज में रहना शुरू किया है, तब से उसे समाज के अनेक नियमों को मानकर ही चलना पड़ता है; क्योंकि यदि उन नियमों को न माना जाए, तो समाज का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। समाज में रहने के कारण मनुष्य को अनेक लाभ होते हैं। इसलिए वह समाज से बाहर रहना नहीं चाहता। समाज द्वारा बनाए गए नियमों का पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है और समाज द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ मनुष्य के अधिकार हैं।

इस प्रकार प्रत्येक नागरिक के कुछ कर्तव्य और कुछ अधिकार होते हैं। नागरिक का सबसे बड़ा कर्तव्य यह है कि वह अपने देश की सुरक्षा व शांति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। इसका अर्थ यह है कि यदि देश पर कोई विदेशी आक्रमण हो या देश में कोई आन्तरिक उपद्रव या उत्पात हो, तो उस समय वह बिना दुविधा में पड़े सरकार की सहायता करे; क्योंकि सरकार ही विदेशी आक्रमण का सामना और आन्तरिक उपद्रव का दमन कर सकती है। प्रजातंत्र में सरकार जनता की अपनी चुनी हुई होती है, इसलिए हर प्रकार से उस सरकार के हाथ मज़बूत करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सरकार का काम धन से चलता है। यह धन सरकार को विभिन्न प्रकार के करों द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए हरएक नागरिक का कर्तव्य है कि वह सरकार

द्वारा लगाए गए करों को ईमानदारी से और प्रसन्नता के साथ चुकाए। कर देने में बेईमानी करना सरकार को और देश को नुकसान पहुंचाना है।

स्वच्छता जीवन का एक आवश्यक अंग है। मनुष्य को अपने शरीर, वस्त्र और घर को तो साफ रखना ही चाहिए, क्योंकि यह उसके अपने स्वास्थ्य और आनन्द के लिए आवश्यक है, परन्तु सामाजिक स्वच्छता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी गली, अपने मुहल्ले और अपने शहर को साफ रखने का भी प्रयत्न करे। यदि सब लोग सफाई का ध्यान रखें, तो गली, मुहल्ले और शहर बड़ी आसानी से साफ रह सकते हैं। परन्तु बहुत-से लोग अपना घर साफ करके कूड़ा पड़ौसी के घर के सामने फेंक देते हैं। यह नागरिकता के नियमों के प्रतिकूल है। कूड़ा ऐसी जगह फेंका जाना चाहिए, जहां से उसे उठाकर ले जाने का नगरपालिका की ओर से प्रबन्ध हो।

समाज में अनेक वर्गों और सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। उन सबकी प्रथाएं और रीति-रिवाज पृथक् होते हैं। उनकी रुचियां भिन्न होती हैं। इसलिए यह सम्भव है कि उनमें अनेक बार वैमनस्य उत्पन्न हो जाए। परन्तु अच्छे नागरिक को इन सब मामलों में उदार और सहिष्णु होना चाहिए, जिससे जनता में शान्ति और प्रेम बना रहे।

विपत्ति के समय अपने पड़ौसी की सहायता करना भी नागरिक का कर्तव्य है। जब सब नागरिकों में यह भावना विद्यमान रहती है कि उन्हें एक दूसरे की सहायता करनी है, तब समाज विपत्तियों का सामना आसानी से कर सकता है।

संसार में ऐसा कोई देश या समाज नहीं है, जहां भले लोगों के साथ-साथ दुष्ट और समाज-विरोधी लोग भी न रहते हों। इन समाज-विरोधी तत्त्वों का दमन करना पुलिस और सरकार का काम है। परन्तु अकेली पुलिस तब तक अपना काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती, जब तक उसे नागरिकों का पूरा सहयोग प्राप्त न हो। इसलिए समाज-विरोधी तत्त्वों का दमन करने में पुलिस को सहायता देना हर एक नागरिक का कर्तव्य है।

इन कर्तव्यों का पालन करने के बदले नागरिक को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन अधिकारों को उसे अवश्य प्राप्त करना चाहिए और

इनसे लाभ उठाना चाहिए। इन अधिकारों में सबसे बड़ा निर्भय और निश्चिन्त होकर जी सकने का अधिकार है। अच्छे समाज में मनुष्य को निर्भय होकर जी सकना चाहिए और यह राज्य का कर्तव्य है कि वह सब नागरिकों को यह अधिकार प्रदान करे।

निर्भय जी सकने के साथ-साथ मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए या जीविका-उपार्जन के लिए सब कानून-सम्मत उपायों को अपनाने का अधिकार है। अर्थात् यदि किसी मनुष्य ने कानून-सम्मत उपायों से धन कमाया हो या किसी प्रकार की सम्पत्ति जमा की हो, तो वह सम्पत्ति उससे छीनी नहीं जा सकती। यदि कोई व्यक्ति उस सम्पत्ति को छीनने या चुराने का यत्न करे, तो राज्य की ओर से उसे दंड मिलता है।

मनुष्य के मन में प्रभुत्व जमाने और शासन करने की भावना भी विद्यमान रहती है। राजतन्त्र या अधिनायकतन्त्र में सामान्य नागरिक की यह भावना तृप्त नहीं हो पाती। परन्तु प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार होता है, जिसके द्वारा वह देश के शासन में भाग ले सकता है। संसद के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करके वह यह अनुभव करता है कि राज्य के संचालन में मेरा भी हाथ है। इसलिए प्रजातन्त्र शासन में प्रत्येक नागरिक को वोट देने का समान अधिकार होता है।

प्रजातन्त्र देशों में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता भी नागरिक का बहुत बड़ा अधिकार समझी जाती है। मनुष्य केवल दूसरों की बातें ही नहीं सुनते जाना चाहता, अपितु वह अपनी बात भी दूसरों को सुनाना चाहता है। यह भी पहले से नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा व्यक्ति कोई ऐसी नई और अच्छी बात कह सकेगा, जो आगे चलकर देश और समाज के लिए हितकारी सिद्ध होगी। इसलिए सब लोगों को वह अधिकार दिया जाता है कि वे भाषण द्वारा या लेखों द्वारा अपने विचारों का प्रचार कर सकते हैं। परन्तु इस स्वाधीनता पर इतना प्रतिबन्ध अवश्य लगाना पड़ता है कि कोई व्यक्ति ऐसे विचार प्रकट नहीं कर सकता, जो दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुंचाने वाले हों या जो समाज में वर्ग-द्वेष को बढ़ाने वाले हों।

जो देश जितना उन्नत और समृद्ध होता है, उसमें नागरिकों को उतने ही

अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं; जैसे अनेक देशों में नागरिकों को शिक्षा और चिकित्सा की सुविधाएं निःशुल्क प्राप्त करने का अधिकार है। बहुत-से देशों में लोगों को रोज़ी प्राप्त करने का भी अधिकार प्राप्त है अर्थात् यदि किसी आदमी को काम न मिले, तो उसे सरकार की ओर से बेकारी-भत्ता दिया जाता है। कल्याण-राज्य में यह समझा जाता है कि सब नागरिकों के सुख और सुविधा की व्यवस्था करना सरकार का काम है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य और नागरिक दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जो नागरिक के कर्तव्य हैं, वे राज्य के अधिकार हैं, और जो नागरिक के अधिकार हैं, वे राज्य के कर्तव्य हैं। यदि राज्य और नागरिक दोनों अपने कर्तव्यों का पालन ठीक-ठीक करते रहें, तो दोनों को उनके अधिकार मिलते रहेंगे और देश और समाज निरन्तर उन्नत और समृद्ध होता जाएगा। कर्तव्य के अभाव में अधिकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. नागरिक के कर्तव्य और अधिकार
२. प्रजातन्त्र और नागरिकता

समाचार-पत्र

विज्ञान की उन्नति होने के साथ-साथ संसार का विस्तार मानो कम होता जा रहा है। सारे संसार की खबरों को जानना अब सभी लोगों के लिए अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है। इसलिए समाचार-पत्र आज के जीवन का अनिवार्य अंग बन गए हैं। कितने ही ऐसे शिक्षित व्यक्ति हैं, जिन्हें यदि सवेरे समाचार-पत्र पढ़ने को न मिले तो उन्हें ऐसा लगता रहता है कि जैसे नित्य के कार्यक्रम में कोई बड़ी कमी रह गई है।

समाचार-पत्र कई प्रकार के होते हैं। कुछ समाचार-पत्र प्रतिदिन छपते हैं, कुछ सप्ताह में दो बार और कुछ सप्ताह में केवल एक बार। कुछ पत्र प्रातःकाल प्रकाशित होते हैं और कुछ सायंकाल। किन्तु इन सबका उद्देश्य जनता को विभिन्न प्रकार के समाचार पहुंचाना ही होता है।

समाचार-पत्रों में अनेक प्रकार की खबरें होती हैं। आजकल सबसे अधिक प्रमुखता राजनीतिक समाचारों को दी जाती है। कहां, किस देश में, क्या राजनीतिक उथल-पुथल हो रही है, इसमें प्रायः सभी लोगों की रुचि होती है। इसके बाद बड़े-बड़े नेताओं के वक्तव्य, तथा डाके, कत्ल और चोरी इत्यादि की सनसनीखेज़ घटनाएं होती हैं। इस प्रकार की घटनाओं को भी लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार के समाचार भी होते हैं। खेलों के समाचार के लिए प्रायः एक अलग ही पृष्ठ होता है। बहुत-से लोग सिनेमा के पृष्ठ को भी बड़े चाव से पढ़ते हैं। इस सबके अतिरिक्त समाचार-पत्रों में विभिन्न प्रकार से विज्ञापन प्रकाशित होते हैं, जिनमें बहुत-से लोगों की रुचि होती है।

समाचार-पत्रों से अनेक लाभ हैं। दस नये पैसे का समाचार-पत्र खरीदकर हम सारे संसार के समाचार जान सकते हैं। यदि कोई घटना हमारे अनुकूल या प्रतिकूल हो, तो हम पहले से ही सावधान होकर उससे लाभ उठा सकते हैं या उससे होने वाली हानि से अपना बचाव कर सकते हैं। व्यापारी लोग अखबारों में विज्ञापन देकर अपने सामान की बिक्री बढ़ाते हैं। बेकार लोग रिक्त स्थानों के विज्ञापन पढ़कर अपने लिए नौकरियां ढूंढते हैं और आजकल तो बहुत-से विवाह भी समाचार-पत्रों के विज्ञापन द्वारा ही होते हैं।

समाचार-पत्रों में केवल समाचार ही नहीं होते, अपितु उनमें दो अन्य प्रमुख स्तम्भ भी होते हैं। एक स्तम्भ तो वह होता है जिसमें सम्पादक का अग्रलेख होता है। इस अग्रलेख में किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर उसके बारे में सम्पादक अपनी सम्मति प्रकट करता है। साधारणतया सम्पादक की जानकारी साधारण पाठक की अपेक्षा अधिक होती है, इसलिए वह हरएक प्रश्न पर अपनी कुछ सुलझी हुई सम्मति पाठक के सम्मुख रख पाता है। इस अग्रलेख को पढ़कर पाठक भी अपने विचार बना सकता है। इस प्रकार समाचार-पत्र किसी भी विषय में जनता

की सम्मति को किसी खास दिशा में मोड़ने में सहायक होते हैं।

सम्पादकीय स्तम्भ के अतिरिक्त एक पाठकों का स्तम्भ होता है, जिसमें पाठकों के विचार प्रकट किए जाते हैं। इस प्रकार पाठक लोग भी समाचार-पत्रों के माध्यम से अपने विचार दूसरे पाठकों तक पहुंचा पाते हैं।

समाचार-पत्रों का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। उसके पहले न तो समाचार-पत्र छाप पाने की सुविधाएं ही थीं, और न समाचारों में जनता की उतनी रुचि ही थी, जितनी कि आजकल है। समाचार-पत्रों का विकास शिक्षा-प्रसार के साथ ही साथ बढ़ता है। जिन देशों में जनता अधिक शिक्षित है, वहां समाचार-पत्र बहुत बड़ी संख्या में छपते हैं। इंग्लैंड, अमेरिका और रूस में ऐसे अनेक पत्र हैं, जिनकी प्रतिदिन लाखों प्रतियां छपती हैं। इस दृष्टि से अभी भारत बहुत पिछड़ा हुआ है। यहां एक लाख छपने वाले पत्रों की संख्या भी शायद दो या तीन से अधिक नहीं होगी।

आजकल प्रजातन्त्र का युग है और प्रजातन्त्र में समाचार-पत्रों का महत्त्व बहुत अधिक समझा जाता है। इसे चौथी 'आस्ति' (जायदाद) कहा जाता है। इसका कारण यह है कि समाचार-पत्र जनमत को बना या बिगाड़ सकते हैं और इसीलिए चुनाव के अवसर पर किसी एक पक्ष को जिताने या हराने में उनका बड़ा हाथ रहता है। इसीलिए प्रजातन्त्रीय देशों में सभी बड़े-बड़े राजनीतिक दल अपने-अपने समाचार-पत्र प्रकाशित करते हैं; और जिस दल के समाचार-पत्र अधिक प्रभावशाली होते हैं, प्रजातन्त्र में प्रायः उसीके हाथ में शासनसत्ता रहती है।

समाचार-पत्र सरकार और जनता के बीच में एक माध्यम के रूप में भी कार्य करते हैं। सरकार जो कुछ निश्चय करती है, जिस प्रकार की नीति चलाना चाहती है, उसे वह समाचार-पत्रों द्वारा जनता तक पहुंचा देती है। इसी प्रकार जब किसी विवाद को लेकर जनता में असन्तोष उठ खड़ा होता है, तब समाचार-पत्र जनता की आवाज़ को सरकार तक भी पहुंचाते हैं। यदि सरकार जनता की इच्छाओं की अवहेलना करे, तो आगामी चुनावों में जनता सरकार को बदल सकती है।

समाचार-पत्रों के हाथों में बहुत बड़ी शक्ति है। बड़े-बड़े प्रभावशाली पत्र किसी भी प्रश्न के पक्ष या विपक्ष में आंदोलन खड़ा कर सकते हैं और जनमत को जागरित करके सरकार को अपनी बात मनवाने के लिए विवश कर सकते हैं। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में देश के समाचार-पत्रों ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। इसी प्रकार अनेक सामाजिक कुरीतियों को हटाने का श्रेय भी बहुत कुछ समाचार-पत्रों को ही है।

जहां समाचार-पत्रों में इतनी अधिक शक्ति है, वहां उनपर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी भी आ पड़ती है; क्योंकि यदि शक्ति हो और उसके साथ विवेक न हो, तो वह शक्ति लाभकारी न होकर हानिकारक भी हो सकती है। जहां समाचार-पत्र जनमत को बदल सकते हैं, वहां उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उसको ठीक रास्ते पर ही ले चलें, गलत पर नहीं। प्रायः यह देखा जाता है कि बहुत-से घटिया दर्जे के समाचार-पत्र बहुत बार केवल लोगों में सनसनी पैदा करने के लिए झूठे समाचार भी प्रकाशित कर देते हैं। बहुत-से पत्र हत्या, व्यभिचार, अपहरण आदि के समाचारों को बहुत महत्त्व देकर बड़े-बड़े शीर्षकों में छापते हैं और पाठकों की कुत्सित मनोवृत्तियों को तृप्त करके अपना प्रचार बढ़ाते हैं। बहुत-से समाचार-पत्रों में झूठे विज्ञापन छपते हैं, जिनसे नासमझ लोग ठगे जाते हैं और नुकसान उठाते हैं। बहुत बार समाचार-पत्र मामूली छोटी-छोटी घटनाओं को व्यर्थ ही बहुत बढ़ा-चढ़ाकर इस प्रकार जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिससे लोगों में उत्तेजना फैल जाती है और बहुत बार तो भयानक उपद्रव हो जाते हैं। यदि समाचार-पत्र संयम और विवेक से काम लें, तो देश में होने वाली अनेक अप्रिय घटनाओं को रोका जा सकता है।

जहां तक विशुद्ध पत्रकारिता का प्रश्न है, पत्र-सम्पादकों को निष्पक्ष और तटस्थ होना चाहिए। समाचार चाहे अपने मन के अनुकूल हो या प्रतिकूल, किन्तु किसी भी दशा में उसको घटाया या बढ़ाया नहीं जाना चाहिए। सम्पादकीय अग्रलेख में समाचारों के बारे में सम्पादक अपनी सम्मति प्रकट करे, इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु समाचार को ही अपने मन के अनुसार रंग डालना अनुचित है।

समाचार-पत्रों ने लम्बे संघर्ष के पश्चात् यह अधिकार प्राप्त किया है कि वे समाचारों को स्वतंत्रतापूर्वक छाप सकें और उनके सम्बन्ध में अपना मतामत निर्भी-

कतापूर्वक प्रकट कर सकें। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रजातंत्र में मनुष्य का महत्त्वपूर्ण अधिकार मानी जाती है। किन्तु यह अधिकार तभी बना रह सकता है, जब कि पत्र-सम्पादक विवेक से काम लें। यदि स्वाधीनता का दुरुपयोग किया जाने लगे और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का उपयोग देश-विरोधी कार्यों और जनता के विभिन्न वर्गों में परस्पर द्वेष फैलाने के लिए किया जाए, तो ऐसी स्वतन्त्रता देर तक बनी नहीं रह सकती। इसलिए समाचार-पत्रों को स्वयं इस दिशा में सतर्क रहना होगा कि वे स्वयं अपनी स्वाधीनता के मूल पर कुठाराघात न करें।

प्रातःकाल उठते ही हम लोग समाचार-पत्र में जो खबरें पा लेते हैं, उनके पीछे सैकड़ों व्यक्तियों का परिश्रम छिपा रहता है। पत्रों के सम्वाददाता सारी दुनिया में फैले रहते हैं। वहां से वे तार या पत्र द्वारा सम्वाद भेजते हैं। समाचार-पत्रों के कार्यालयों में चौबीसों घंटे काम होता है। समाचारों का यथोचित सम्पादन करने के वाद उन्हें प्रेस में भेजा जाता है। रात-रात-भर जागकर लोग अखबार तैयार करते हैं और तब कहीं सवेरे वह पाठकों के हाथ तक पहुंच पाता है।

समाचारों की दृष्टि से समाचार-पत्रों का एक और प्रतिद्वंद्वी उठ खड़ा हुआ है और वह है—रेडियो। जो समाचार अगले दिन सवेरे अखबार से मिलते हैं, प्रायः वे सब के सव उससे पहले दिन रात को ही रेडियो पर सुनाई पड़ जाते हैं। परन्तु रेडियो पर समाचार अपेक्षाकृत बहुत संक्षिप्त होते हैं, इसलिए रेडियो सुनने वाले लोग भी प्रायः समाचार-पत्र खरीदते ही हैं।

जब तक भारत में विदेशी सरकार थी, तब तक उसने शिक्षा-प्रसार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसी कारण देश में शिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम रही और समाचार-पत्रों का प्रचार भी बहुत नहीं हो पाया। किन्तु अब स्वतन्त्र देश की सरकार शिक्षा की ओर बहुत ध्यान दे रही है और जनता की रुचि भी राजनीतिक मामलों में बहुत बढ़ती जा रही है। इसलिए भविष्य में समाचार-पत्रों की स्थिति अव की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी होने की पूरी संभावना है। जब इंग्लैंड जैसे पांच करोड़ की आबादी के देश में प्रतिदिन दस-दस और बीस-बीस लाख छपने वाले पत्र विद्यमान हैं, तो कोई कारण नहीं कि भारत जैसे विशाल देश में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार हो जाने के बाद ऐसे समाचार-पत्र क्यों न हो जाएं, जिनकी

प्रतिदिन एक करोड़ प्रतियां छपती हों। वह समय चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो, किन्तु यह निश्चित है कि हमारे देश में समाचार-पत्रों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

अन्य संभावित शीर्षक

१. समाचार-पत्रों के लाभ

सिनेमा

सिनेमा आज के युग का सबसे अधिक लोकप्रिय और सबसे सस्ता मनोरंजन है। धनी और गरीब, सभी लोग इससे अपना मन बहलाते हैं। देश का शायद ही कोई ऐसा शहर होगा, जिसमें एक या एक से अधिक सिनेमा न हों।

रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि आविष्कार भारत में इतनी जल्दी लोकप्रिय नहीं हुए, जितनी जल्दी सिनेमा। भारत में पहली फिल्म 'हरिश्चन्द्र' सन् १९१३ में बनी थी। उस समय मूक फिल्में ही बनती थीं। बोलती फिल्मों का आविष्कार लगभग पंद्रह वर्ष बाद हुआ और सबसे पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' १९३१ में इम्पीरियल फिल्म कम्पनी ने बम्बई में बनाई। किन्तु आज तो न केवल बोलती फिल्मों, अपितु तीन डाइमेन्शन वाली फिल्मों, सिनेमा स्कोप आदि की रंगीन फिल्मों के कारण सिनेमा में दृश्य का चित्र नहीं, अपितु वह सारा दृश्य ही जीता-जागता-सा प्रस्तुत कर दिया जाता है।

सिनेमा का इतिहास कोई दस-बीस साल का इतिहास नहीं है। इसका प्रारम्भ हमें हज़ारों साल पहले नाटकों के रूप में दिखाई पड़ता है। नाटक संसार के सभी देशों में पसंद किए जाते थे। लोग मनोरंजन के लिए नाटक देखते थे। ग्रीस और रोम में नाटक कई-कई दिन तक सारी रात-रात भर हुआ करते थे। फिर भी नाटकों द्वारा होने वाला मनोरंजन जनसाधारण के लिए इतना सुलभ नहीं था, जितना आजकल का सिनेमा।

उन दिनों नाटक करने वाले लोगों की अपनी-अपनी मंडलियां हुआ करती थीं। एक मंडली एक समय में एक ही जगह नाटक प्रदर्शित कर सकती थी और एक प्रेक्षागार में सीमित संख्या में ही प्रेक्षक समा सकते थे। किन्तु अब सिनेमा की सहायता से एक ही नाटक सैकड़ों शहरों में प्रतिदिन दिन में कई बार प्रदर्शित किया जा सकता है।

नाटक में रंगमंच की असुविधाओं के कारण और भी कई कठिनाइयां थीं। बहुत थोड़े-से दृश्य ही प्रदर्शित किए जा सकते थे। किन्तु सिनेमा में ऐसी कोई रोक नहीं है। सिनेमा के पर्दे पर पहाड़, नदियां, टकराती हुई रेलें, जलते हुए शहर और डूबते हुए जहाज़ भी सरलता से प्रदर्शित किए जा सकते हैं और इसके द्वारा प्रेक्षकों के नाम को नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तेजित और आनन्दित किया जा सकता है। सिनेमा नाटक की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक निकट है।

नाटकों के युग में सब नाटक-मंडलियों के सब अभिनेता अच्छे नहीं होते थे। किन्तु सिनेमा में फिल्म बनाते समय काफी धनराशि व्यय करके अच्छे से अच्छे अभिनेता और संगीतकार प्राप्त किए जा सकते हैं और उनकी कला का आनन्द सारे देश या कहना चाहिए सारे संसार की जनता ले सकती है। वस्तुतः सिनेमा ने नाटकों को बहुत बड़ा धक्का पहुंचाया है।

नाटकों और सिनेमा में काफी समानता होने पर भी दोनों में अन्तर भी बहुत है। नाटकों का क्षेत्र सिनेमा की अपेक्षा बहुत सीमित था। वे केवल मनोरंजन के लिए या कुछ उपदेश या नीति की शिक्षा देने के लिए खेले जाते थे; किन्तु आजकल सिनेमा की फिल्में जहां एक ओर मनोरंजन के लिए तैयार की जाती हैं, वहां दूसरी ओर ज्ञानवर्धन के लिए भी उनका निर्माण किया जाता है। अनेक फिल्मों में विभिन्न प्रदेशों के भौगोलिक दृश्यों और सामाजिक जीवन के चित्र होते हैं, जिससे उन फिल्मों को देखकर हम बिना उन देशों में गए भी उनके सम्बन्ध में जानकारी पा सकते हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की फिल्में तैयार की जाती हैं; जैसे इंग्लैंड की रानी के राज्याभिषेक का समारोह या नेहरू की रूस-यात्रा या गांधी जी की प्रार्थना-सभाएं। इन फिल्मों द्वारा जो लोग घटनास्थल पर उपस्थित नहीं थे, वे भी उन घटनाओं को अपनी आंखों के सामने होता हुआ देख सकते हैं।

इतना ही नहीं, बल्कि जिन लोगों का जन्म भी उन घटनाओं के समय नहीं हुआ था, वे भी अनेक वर्षों बाद उन घटनाओं को और उन व्यक्तियों को देखकर धन्य हो सकते हैं। गांधीजी की फिल्मों को अब से सौ वर्ष बाद भी देखकर लोग गांधीजी का साक्षात् दर्शन-सा कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त विशुद्ध शिक्षण की दृष्टि से भी बहुत-सी फिल्में तैयार की जाती हैं। वन्य प्राणियों के जीवन के सम्बन्ध में अथवा चिकित्सकों द्वारा किए जाने वाले आपरेशनों की फिल्में इस प्रयोजन से तैयार की जाती हैं।

इस प्रकार सिनेमा से बहुत लाभ उठाया जा सकता है। सबसे पहला लाभ तो मनोरंजन का ही है। दिनभर या सप्ताहभर की थकान के बाद मनुष्य अपना जी बहलाना चाहता है। उस समय आठ-दस आने या एक रुपया देकर वह तीन घंटे तक बढ़िया मनोरंजन प्राप्त कर सकता है। सिनेमा के आविष्कार से पहले ऐसा मनोरंजन केवल राजाओं और रईसों को ही प्राप्त था, किन्तु अब हरएक व्यक्ति इसका आनन्द ले सकता है।

सिनेमा का दूसरा लाभ ज्ञानवर्धन है। पहले लोग दूर देशों में यात्रा करके वहां के रीति-रिवाजों, रहन-सहन तथा भूगोल के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते थे। इसके लिए उन्हें काफी धन और बहुत समय लगाना पड़ता था। किन्तु अब फिल्मों द्वारा हम जगत् के सभी देशों और प्रदेशों के बारे में जानकारी पा सकते हैं। इसमें धन और समय दोनों का ही नगण्य-सा व्यय होता है।

सिनेमा द्वारा मनुष्य में कला के प्रति रुचि जागरित होती है। मनुष्य का जीवन केवल श्रम करने के लिए ही नहीं बना है; कलाओं का अभ्यास करना और उनका आनन्द लेना भी जीवन का लक्ष्य है। सिनेमा में काव्य, चित्र, संगीत और अभिनय इन चारों ललित कलाओं का समावेश रहता है और यदि प्रेक्षक विवेक और यत्न से सिनेमा देखे, तो वह इन चारों कलाओं का अभ्यास कर सकता है।

आजकल शिक्षा के क्षेत्र में भी सिनेमा को बहुत उपयोगी समझा जा रहा है। विदेशों में बालकों और वयस्कों, दोनों को ही शिक्षा देने के लिए विशेष फिल्में बनाई जाती हैं। बालकों के लिए फिल्में बालकों की रुचि की होती हैं और वयस्कों के लिए वयस्कों की रुचि की। जिन बातों को बालक पुस्तक में पढ़ते हुए ऊब जाते हैं और बार-बार पढ़कर भी याद नहीं कर पाते, उन्हें सिनेमा में वे बड़े चाव से

देखते हैं और उनका प्रभाव उनके मन पर इतना गहरा बैठ जाता है कि उन्हें फिर वे आसानी से भूलते नहीं। इस प्रकार उन्हें भूगोल, इतिहास, विज्ञान और वस्तुपाठ की शिक्षा बड़ी सरलता से दी जा सकती है। वयस्क लोगों को स्वास्थ्य के नियमों के सम्बन्ध में, बीमारियों की रोकथाम के सम्बन्ध में, खेती की नई पद्धतियों के विषय में, नये कल-कारखानों और उद्योगों के सम्बन्ध में फिल्में दिखाकर उन्हें अनेक उपयोगी बातें सिखाई जा सकती हैं और विदेशों में सिखाई भी जाती हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सिनेमा केवल वरदान ही वरदान है और इससे कोई हानि है ही नहीं। बल्कि सचाई तो यह है कि हमारे देश में सिनेमा से लाभ कम और हानि अधिक हो रही है। यहां पर अधिकांश फिल्में या तो पौराणिक या धार्मिक ढंग की बनाई जाती हैं, या सस्ता मनोरंजन करने वाली। इन फिल्मों में कामोत्तेजक दृश्य भरे होते हैं। चोरी, हत्या और ठगी के दृश्य दिखाए जाते हैं, जिन्हें देखकर कच्ची बुद्धि के युवक पथभ्रष्ट हो जाते हैं। हजारों युवकों के कुमार्गगामी होने का श्रेय सिनेमा ही को लेना चाहिए।

यह ठीक है कि मनोरंजन का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है और मनोरंजन किया जाना चाहिए, किन्तु मनोरंजन की भी सीमा है; और जो मनुष्य अपना सारा समय और सारा धन मनोरंजन पर ही लगा देता है वह जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकता। आजकल हमारे यहां बहुत-से लोगों को सिनेमा की ऐसी चाट पड़ गई है कि वे अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों को छोड़कर सिनेमा की ओर दौड़ते हैं; अन्य आवश्यक व्ययों में कमी करके सिनेमा पर पैसा व्यय करते हैं। सिनेमा के प्रति और वह भी कुरुचिपूर्ण वासनोद्दीपक फिल्मों के प्रति इतना आग्रह दूषित मनोवृत्ति का परिचायक है। अधिक मात्रा में लेने से अमृत भी विष हो जाता है; इसी प्रकार बहुत अधिक सिनेमा देखने से धन, समय और शक्ति का अपव्यय होता है।

धार्मिक फिल्में प्रायः अन्धविश्वास को बढ़ाने वाली होती हैं। उनमें कहने को तो कुछ अच्छी शिक्षाएं और उपदेश दिए गए होते हैं, किन्तु वे जिस ढंग से दिए जाते हैं, उनका न दिया जाना ही भला है। देश में शिक्षा बढ़ने के साथ-साथ अन्ध-विश्वास कम होते जाएंगे और इस प्रकार की तथाकथित धार्मिक फिल्मों का निर्माण,

जो अब भी बहुत कम हो गया है, बिल्कुल ही समाप्त हो जाएगा।

समाज-सुधार के क्षेत्र में सिनेमा ने काफी उपयोगी कार्य किया है और इस क्षेत्र में आगे भी बहुत गुंजाइश है। बेमेल विवाहों को रोकने, दहेज-प्रथा को समाप्त करने, छुआछूत को हटाने में अनेक फिल्मों ने सहायता की। इस प्रकार की और भी नई-नई समस्याएं समाज के सामने आती रहेंगी। उनके समाधान के लिए फिल्म-निर्माता उपयोगी सहायता दे सकते हैं।

कुछ फिल्में जासूसी ढंग की भी बनाई जाती हैं, जिनमें मारधाड़, साहस के दृश्यों और सूझ-बूझ का प्रदर्शन रहता है। नई तीन डाइमेन्शन वाली प्रणाली से इन फिल्मों की रोमांचकता और भी अधिक बढ़ गई है। एक विशिष्ट आयु के युवक इन फिल्मों को बड़े चाव से देखते हैं। यदि ये फिल्में युवकों को अपराध की दिशा में प्रेरित न करें, तो इनमें कोई दोष नहीं है। अपराध की प्रेरणा को इस प्रकार रोका जा सकता है कि ऐसी सब फिल्मों में अन्त में पुलिस और न्याय की विजय और अपराधियों की पराजय प्रदर्शित की जाए।

फिल्म-निर्माण की दृष्टि से संसार में भारत का स्थान दूसरे नम्बर पर है। सबसे अधिक फिल्में अमेरिका में तैयार होती हैं और दूसरे नम्बर पर भारत में। परन्तु कला और शिल्प की दृष्टि से भारतीय फिल्मों का स्तर अन्य अनेक देशों से घटिया है। न केवल विदेशी फिल्मों की फोटोग्राफी अच्छी होती है, अपितु उनकी कथा, उनका अभिनय, और उनका निदेशन भी उत्कृष्ट होता है।

भारत में इतनी बड़ी संख्या में फिल्में तैयार होने के बाद विदेशी फिल्मों का देश में बड़े पैमाने पर आयात उचित नहीं समझा जा सकता। विदेशी फिल्मों में नग्नता और चुम्बन-आलिंगन के दृश्य बहुत होते हैं। विदेशों की नैतिकता के स्तर से उनमें कोई दोष न हो, किन्तु भारतीय जीवन की दृष्टि से वे फिल्में अश्लील कही जा सकती हैं। यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम इस तथ्य पर दृष्टि डालते हैं कि अंग्रेजी फिल्में देखने वालों में ऐसे लोग गिने-चुने ही होते हैं, जो फिल्मों की अंग्रेजी को समझकर उसका आनन्द ले सकें। अधिकांश दर्शक केवल नग्न शृंगार को देखने के लिए ही उन्हें देखते हैं।

विदेशों से आने वाली बहुत-सी फिल्में प्रेक्षकों को अपराध करने की प्रेरणा

देती हैं। भारत में ऐसी फिल्मों का प्रदर्शन कानून द्वारा निषिद्ध है। उस कानून का प्रयोग कठोरतापूर्वक किया जाना चाहिए।

अभी तक सिनेमा ने भारत में सेवा कम और अपसेवा अधिक की है। स्वाधीनता मिलने के बाद भी फिल्म-निर्माताओं की प्रवृत्ति में कोई सराहनीय परिवर्तन नहीं दीख पड़ा। किन्तु आशा करनी चाहिए कि अब वे लोग देश के प्रति अपने दायित्व को पहचानेंगे और अपनी शक्ति और साधनों का प्रयोग देश के सर्वांगीण कल्याण के लिए ही करेंगे। सिनेमा को देश के नवनिर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेना है।

अन्य संभावित शीर्षक

१. चित्रपट
२. चित्रपट के लाभ और हानियां

रेडियो

बीसवीं शताब्दी में एक से एक बढ़कर वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं। इस शताब्दी के बिलकुल प्रारम्भ में ही अर्थात् १९०१ में रेडियो का आविष्कार हुआ, जो उस समय महान्, आश्चर्यजनक आविष्कार समझा गया। भले ही आज रेडियो लोगों के लिए इतना अधिक परिचित हो गया है कि लोगों को उसमें कोई नवीनता या चमत्कार प्रतीत नहीं होता, किन्तु यदि ज़रा-सा ध्यान से देखा जाए और रेडियो के विविध उपयोगों पर दृष्टिपात किया जाए, तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि रेडियो जादू से किसी प्रकार कम नहीं है।

पहले सम्वाद तार द्वारा भेजे जाते थे। तार में से बिजली गुज़रती थी। बिजली की चाल १८६००० मील प्रति सैकिंड है। बिजली के इस वेग के कारण ही तार द्वारा सम्वाद हज़ारों मील दूर कुछ सैकिंडों में ही पहुंच जाते थे। परन्तु

हज़ारों मील दूर तक तार लगाना और उसको ठीक अवस्था में बनाए रखना कम कठिनाई का काम नहीं था। आंधी-तूफान के कारण अथवा शरारती लोगों के उपद्रवों के कारण तार टूट जाते थे या कट जाते थे और उस दशा में तार द्वारा सम्वाद भेज पाना सम्भव नहीं होता था। विज्ञानवेत्ताओं के मन में यह बात आई कि कोई ऐसा उपाय भी होना चाहिए, जिसके द्वारा तार के बिना भी विद्युत् की तरंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजा जा सके। इस सम्बन्ध में बंगाल के डा० जगदीशचन्द्र वसु और इटली के मार्कोनी ने अनेक परीक्षण किए। जगदीश-चन्द्र वसु ने १८५६ में बंगाल के गवर्नर की उपस्थिति में रेडियो तरंगों द्वारा एक पटाखा छोड़कर और घण्टी बजाकर दिखाई। इन दोनों परीक्षणों में बिजली की तरंगें बिना तार के एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजी गई थीं। परन्तु रेडियो के बाकायदा आविष्कार का श्रेय मार्कोनी को दिया जाता है। १६०१ में उसने इंग्लैंड से न्यूज़ीलैंड तक रेडियो द्वारा समाचार भेजकर अपने आविष्कार की धाक सारे संसार में जमा दी।

रेडियो के आविष्कार से कई नई सुविधाएं भी मिल गईं। पहले समुद्री जहाज़ों और विमानों के पास सम्वाद नहीं भेजे जा पाते थे। समुद्री जहाज़ों को यदि कोई सन्देश बन्दरगाह पर भेजना होता था, तो वे समुद्र में बिछे हुए तारों का उपयोग करते थे। ये तार समुद्र की तली में बिछे हुए हैं। बीच-बीच में जहां-तहां पानी में सब ओर से बन्द ढोल तैरा दिए गए हैं, जिनका सम्बन्ध नीचे के तारों से है। जहाज़ इन ढोलों के पास पहुंचकर केबिल द्वारा बन्दरगाह तक सम्वाद भेज देते थे। परन्तु यदि जहाज़ एकाएक डूबने लगे, या उसपर किसी शत्रु जहाज का आक्रमण हो जाए और वह केबिल की लाइन के पास तक न पहुंच जाए, तो वह सम्व द नहीं भेज सकता था। परन्तु रेडियो के आविष्कार के बाद सब जहाज़ों औ सब विमानों में रेडियो यन्त्र लगा दिए गए हैं, जिससे वे स्थल के साथ अपना सम्पर्क निरन्तर बनाए रहते हैं। न केवल स्थल के साथ, बल्कि समुद्र में चलते हुए अन्य जहाज़ों के साथ भी सम्पर्क बनाए रहते हैं। इससे अब संकट-काल में विमानों और जहाज़ों को सहायता भेजी जा सकती है।

यद्यपि शुरू में रेडियो का आविष्कार सम्वाद-प्रेषण के लिए ही हुआ था,

परन्तु धीरे-धीरे इसका उपयोग अन्य कार्यों के लिए किया जाने लगा। लगभग सभी देशों में रेडियो-प्रसारण-केन्द्र बन गए हैं, और उन केन्द्रों से मधुर संगीत, रोचक नाटक इत्यादि के कार्यक्रम और समाचार प्रसारित किए जाते हैं। रेडियो द्वारा मनमाना प्रचार भी किया जा सकता है। रोचक कार्यक्रम इसलिए प्रसारित किए जाते हैं कि उनके लोभ में लोग रेडियो अपने घर में रखें और समय-असमय सरकारी प्रचार की बातें भी सुन सकें।

युद्ध-काल में रेडियो का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया था। न केवल प्रचार की दृष्टि से मित्रराष्ट्र और धुरी-राष्ट्र एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे, अपितु सेनाओं में परस्पर सम्वाद भेजने के लिए भी रेडियो का उपयोग किया जाता था। शत्रु के गुप्तचर अपने छोटे-छोटे प्रसारक यन्त्रों से महत्त्वपूर्ण समाचार अपने देशों को भेज देते थे। पनडुब्बियों, जहाज़ों और बमवर्षक विमानों को अपने मुख्यालयों से आदेश रेडियो पर ही मिल जाते थे और जो कुछ जानकारी वे मुख्यालय को भेजना चाहते थे, वह भी रेडियो द्वारा भेजी जाती थी।

युद्ध की समाप्ति के दिनों में जर्मनी ने रेडियो द्वारा नियन्त्रित उड़नबम तैयार किए थे। ये उड़नबम वी-१ और वी-२ नाम के राकेट थे, जिनकी मार ३०० या ४०० मील तक थी। ये रेडियो द्वारा नियन्त्रित रहते थे और रेडियो द्वारा ही इनकी दिशा भी मोड़ी जा सकती थी। द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हो जाने के बाद इन राकेटों में बहुत अधिक सुधार हुआ है और रूस और अमेरिका ने रेडियो द्वारा नियन्त्रित ऐसे प्रक्षेपणास्त्र तैयार किए हैं, जो हज़ारों मील दूर जाकर अपने ठीक निशाने पर चोट कर सकते हैं। रूस और अमेरिका ने जो भूमि के चारों ओर घूमने वाले नकली उपग्रह छोड़े हैं, उनमें भी रेडियो-नियन्त्रण का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य था। जिन राकेटों द्वारा ये उपग्रह ले जाए गए थे, उनकी दिशा का नियन्त्रण रेडियो-तरंगों द्वारा किया जाता था।

रेडियो ईथर की तरंगों के कारण अपना कार्य करता है। ईथर एक सूक्ष्म पदार्थ है, जो सारे विश्व-ब्रह्मांड में भरा हुआ है। किन्तु कमरे में भरी हुई हवा की भांति वह हमें दिखाई नहीं पड़ता और न हम उसे अनुभव कर पाते हैं। बिजली द्वारा ईथर में तरंगें उठाई जा सकती हैं। जब ऐसी तरंगें उठाई जाती हैं, तो वे

सारे संसार में फैल जाती हैं और संसार के किसी भी भाग में रेडियो-ध्वनि-ग्राहक यन्त्र द्वारा उन तरंगों को ग्रहण किया जा सकता है। रेडियो-ध्वनि-प्रसारक यन्त्र बिजली द्वारा ईथर में तरंगें उत्पन्न करते हैं और संसार के किसी भी भाग में रखे हुए रेडियो-ध्वनि-ग्राहक यन्त्र उन तरंगों को ग्रहण कर सकते हैं। इसीलिए हम दिल्ली में बैठे हुए मास्को, लन्दन और न्यूयार्क के रेडियो स्टेशनों के कार्यक्रम सुन सकते हैं।

रेडियो की इन तरंगों का एक महत्त्वपूर्ण उपयोग रडार के रूप में किया जाता है। रडार यन्त्र का आविष्कार द्वितीय महायुद्ध के दिनों में हुआ था। रडार यन्त्र की सहायता से हम आंखों से न दीख पड़ने वाली सैकड़ों मील दूर की वस्तु का भी पता लगा सकते हैं, उनकी दूरी और दिशा जान सकते हैं। युद्ध में रडार का उपयोग शत्रु के विमानों की दिशा और दूरी जानने के लिए किया जाता था। रडार यन्त्र रेडियो-तरंगों द्वारा ही कार्य करता है।

रेडियो ने हमारे दैनिक जीवन में काफी बड़ा परिवर्तन कर दिया है। पहले साधारण नागरिक के पास मनोरंजन का एकमात्र साधन सिनेमा ही था; किन्तु अब रेडियो द्वारा एक और नया साधन प्राप्त हो गया है, जो सिनेमा से भी सस्ता है। रेडियो द्वारा हम घर बैठे आराम से अच्छे से अच्छे संगीतकारों का संगीत, कवि-सम्मेलन, नाटक इत्यादि सुन सकते हैं।

रेडियो केवल मनोरंजन का साधन नहीं, अपितु ज्ञानवर्धन का भी बड़ा साधन है। संसार में घटने वाली सब महत्त्वपूर्ण घटनाओं के समाचार रेडियो पर नित्य दिन में कई बार सुनाए जाते हैं। रेडियो ने समाचार-पत्रों को बहुत कुछ अन्यथा-सिद्ध-सा कर दिया है, क्योंकि रेडियो पर समाचार सुन लेने के बाद समाचार-पत्र पढ़ने की इच्छा केवल उन्हीं लोगों को रहती है, जो हरएक घटना को पूरे विस्तार के साथ पढ़ना चाहते हैं।

इतना ही नहीं, लगभग सभी क्षेत्रों की रुचि और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उनके काम की बातें रेडियो पर बताई जाती हैं। व्यापारियों के लिए बाज़ार भाव, किसानों के लिए मौसम के हाल, स्त्रियों के लिए घरेलू काम-धन्धे, और बच्चों के लिए अलग कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त

महत्त्वपूर्ण विषयों पर योग्य विद्वानों की वार्ताएं प्रसारित की जाती हैं, जिनसे सभी लोग लाभ उठा सकते हैं। जिन लोगों को पुस्तक पढ़ना भार मालूम होता है, उनके लिए रेडियो ज्ञानवर्धन का बहुत ही सुगम उपाय है।

भारत में १९२७ में रेडियो स्टेशन बनाया गया था। भारत में रेडियो विभाग सरकार के अपने हाथ में है और व्यक्तिगत तौर पर लोगों को ध्वनि-प्रसारण की सुविधा या अधिकार नहीं है। इन समय देश में दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, लखनऊ, नागपुर इत्यादि २५ ध्वनि-प्रसारण-केन्द्र कार्य कर रहे हैं। इन सबका नियन्त्रण दिल्ली के आकाशवाणी कार्यालय से होता है।

रेडियो का अभी हमारे देश में उतना प्रचार नहीं हुआ, जितना कि होना चाहिए, या हो सकता है। इसका कारण यह है कि रेडियो यन्त्र महंगे हैं और लाइसेंस शुल्क भी अधिक है। ज्यों-ज्यों देश की समृद्धि बढ़ेगी, त्यों-त्यों लोग अधिकाधिक संख्या में रेडियो खरीदेंगे। आजकल सरकार गांवों में भी रेडियो यन्त्र रखवाने की व्यवस्था करवा रही है। यदि प्रत्येक गांव में एक भी रेडियो हो, तो उससे सब ग्रामवासी ताज़े समाचार सुन सकते हैं और अन्य ज्ञान की बातें जान सकते हैं।

अभी तक रेडियो पर केवल आवाज़ सुनाई पड़ती थी, किन्तु बोलने वाले व्यक्तियों की आकृति दिखाई नहीं पड़ती थी। किन्तु अब टेलीवीज़न के रूप में रेडियो ने एक और प्रगति की है। टेलीवीज़न में न केवल आवाज़ सुनाई पड़ती है, अपितु बोलने वालों या अभिनय करने वालों का चित्र भी दिखाई पड़ता है। टेलीवीज़न का प्रयोग भारत में शीघ्र ही प्रारम्भ होने वाला है। टेलीवीज़न से लोग घर बैठे सिनेमा का आनन्द ले सकेंगे तथा ज्ञानवर्धन के लिए भी अनेक शिक्षात्मक कार्यक्रम टेलीवीज़न पर प्रसारित किए जा सकेंगे।

दासता के दो सौ वर्षों में हमारी संस्कृति बहुत कुछ धुंधली और लुप्त-सी हो गई थी। लोगों को अन्न-वस्त्र जुटाना ही कठिन था, कला और संस्कृति की ओर किसका ध्यान जाता? किन्तु स्वाधीनता के बाद देश की समृद्धि बढ़ने के साथ-साथ लोगों में कला की रुचि बढ़ रही है। इस रुचि को संवारने-सुधारने में रंगमंचों और चित्रपटों के साथ-साथ रेडियो भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग ले रहा है। शिक्षण के माध्यम की दृष्टि से और एक नई संस्कृति के विकास की दृष्टि से नवीन भारत

के निर्माण में रेडियो का महत्त्वपूर्ण योग रहेगा।

परमाणु-शक्ति

जिस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्य ने पत्थर के औज़ारों का और फिर लोहे का आविष्कार किया था और उनके कारण उन कालों को 'पाषाण-युग' और 'लौह युग' नाम दिया गया, उसी प्रकार नवीनतम आविष्कारों के कारण आज के युग को 'परमाणु युग' का नाम दिया जा सकता है। पिछली कई शताब्दियों से मानव-जाति के सम्मुख ऊर्जा प्राप्त करने की समस्या थी। अब तक ऊर्जा मुख्य रूप से पत्थर के कोयले से, लकड़ी के ईंधन से, मिट्टी के तेल से और जल-प्रपातों से बिजली उत्पन्न करके प्राप्त की जा रही थी। किन्तु विज्ञानवेत्ताओं के सम्मुख यह समस्या मुंह बाए खड़ी थी कि एक न एक दिन ऊर्जा के ये स्रोत समाप्त हो जाएंगे; उस समय मनुष्य को अपने कल-कारखानों के लिए ऊर्जा कहां से मिलेगी? किन्तु परमाणु-युग ने इस समस्या का हल कर दिया है।

अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व महान् विज्ञानवेत्ता आइन्स्टीन ने यह बात लोगों के सामने रखी थी कि पदार्थ को ऊर्जा में और ऊर्जा को पदार्थ में बदला जा सकता है। उसने यह भी बतला दिया था कि यदि हम किसी प्रकार पदार्थ की बहुत थोड़ी-सी मात्रा को भी ऊर्जा के रूप में बदल सकें, तो उससे ऊर्जा की बहुत बड़ी मात्रा उत्पन्न हो जाएगी।

वैसे तो जब हम लकड़ी को जलाकर गर्मी उत्पन्न करते हैं, तब भी पदार्थ का कुछ अंश ऊर्जा के रूप में बदलता है। परन्तु आइन्स्टीन ने बताया कि इसमें पदार्थ के परमाणु ज्यों के त्यों रहते हैं। उनकी रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु यदि किसी प्रकार इन परमाणुओं को भी तोड़-फोड़कर ऊर्जा के रूप में बदला जा सके, तो उससे इतनी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होगी, जिसकी कल्पना कर पाना भी सरल नहीं है।

वर्षों तक इस सम्बन्ध में परीक्षण होते रहे। दूसरे विश्वयुद्ध के समय जर्मन विज्ञानवेत्ता परमाणु बम बनाने में जुटे हुए थे, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। जर्मनी पहले ही हार गया और उन्हीं जर्मन विज्ञानवेत्ताओं की सहायता से अमेरिका ने परमाणु बम का निर्माण किया। १९४५ के अगस्त मास में ६ तारीख को जापान के हीरोशिमा नगर पर पहला परमाणु बम गिराया गया। इस एक ही बम से तीन लाख की आबादी का यह विशाल नगर पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो गया। तीन दिन बाद एक और परमाणु बम नागासाकी पर गिराया गया और इसका भी हीरोशिमा वाला ही हाल हुआ।

परमाणु बम का विस्फोट उससे पहले के अन्य विस्फोटकों की तुलना में कई हज़ार गुना अधिक है। पहले टी० एन० टी० को सबसे बड़ा विस्फोटक समझा जाता था और भयानक बमों में इसीका प्रयोग किया जाता था। एक औंस यूरेनियम वाले परमाणु बम से जितना भयानक विस्फोट होता है, उतना विस्फोट करने के लिए अट्ठाईस हज़ार टन टी० एन० टी० की आवश्यकता होगी। जब पहले पहल परमाणु बम का परीक्षण किया गया था, तो उसका धमाका सैकड़ों मील दूर तक सुनाई दिया था और उसकी चमक इतनी तेज़ थी कि देखने वाले कुछ लोग अन्धे हो गए थे। विस्फोट से इतनी अधिक गर्मी उत्पन्न हुई थी कि मीलों दूर तक मिट्टी ऐसी लाल हो उठी, मानो लुहार की भट्टी में तपाई गई हो।

परमाणु बम का रहस्य यह है कि इसमें भारी तत्त्वों के परमाणुओं को इस प्रकार फाड़ा जाता है कि वे ऊर्जा के रूप में बदल जाएं। परमाणु के तीन अंग होते हैं। एक तो केन्द्र का भाग, जिसमें कुछ प्रोटोन होते हैं। दूसरा बाहरी खोल, जिसमें कुछ इलैक्ट्रोन प्रोटोनों के चारों ओर तेजी से चक्कर लगाते रहते हैं। किसी भी परमाणु में बाहर चक्कर लगाने वाले इलैक्ट्रोनों की संख्या ठीक उतनी होती है, जितनी केन्द्र में अर्थात् नाभिक में प्रोटोनों की होती है। प्रोटोनों में धन विद्युत् होती है और इलैक्ट्रोनों में ऋण विद्युत् होती है, जिसके कारण वे एक दूसरे को अपनी ओर खींचे रहते हैं। एक तीसरे प्रकार के कण न्यूट्रोन कहलाते हैं। ये प्रोटोनों के साथ परमाणु के नाभिक में विद्यमान रहते हैं। इनमें धन या ऋण विद्युत् नहीं होती; इस दृष्टि से ये उदासीन होते हैं।

लम्बे समय तक परीक्षण करने के बाद विज्ञानवेत्ताओं ने यह पता चला लिया कि यूरेनियम २३५ के परमाणु को अन्य किसी भी परमाणु की अपेक्षा अधिक सरलता से तोड़ा जा सकता है। इसके लिए उन्होंने इस परमाणु के नाभिक पर न्यूट्रोन द्वारा चोट की। उससे यूरेनियम का परमाणु फटा। उसके फटने पर उसमें से कुछ नये न्यूट्रोन भी छिटककर बाहर निकले। ये न्यूट्रोन यूरेनियम के अन्य परमाणुओं से टकराए, जिससे वे परमाणु भी फट गये और उनमें से फिर नये न्यूट्रोन निकले। इस प्रकार परमाणुओं के फटने और नये न्यूट्रोनों के निकलने की यह प्रक्रिया इतनी तेज़ी से होती है कि एक सैकिंड में ही करोड़ों-अरबों परमाणु फट पड़ते हैं, और उनसे आश्चर्यजनक अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है।

कुछ दिन तक सारी दुनिया पर परमाणु बम का आतंक छाया रहा। उस समय तक परमाणु बम का रहस्य केवल अमेरिका को ही ज्ञात था। परन्तु बहुत शीघ्र ही रूस ने भी वह रहस्य जान लिया और रूस में भी परमाणु बम बना लिए गए। दोनों में इस सम्बन्ध में नई खोज की होड़-सी लग गई। बहुत शीघ्र ही हाइड्रोजन बम भी तैयार कर लिया गया, जिसका विस्फोट परमाणु बम की अपेक्षा सौ गुना अधिक भयंकर था। परमाणु बम में तो भारी परमाणु को फोड़कर ऊर्जा प्राप्त की जाती है, किन्तु हाइड्रोजन बम में छोटे परमाणुओं को आपस में जोड़कर एक बड़ा परमाणु बनाया जाता है और उस प्रक्रिया में और भी अधिक ऊर्जा मुक्त हो जाती है।

बमों के रूप में परमाणु अस्त्रों का प्रयोग बहुत भयंकर और अमानुषिक है। न केवल बम के विस्फोट से हज़ारों-लाखों निरीह और निरपराध लोग मारे जाते हैं या घायल हो जाते हैं, अपितु पशु-पक्षी तक भी अकारण काल का ग्रास बन जाते हैं। फिर भी परमाणु बम के शिकार होकर जो व्यक्ति तुरन्त मर जाते हैं, वे सस्ते छूट जाते हैं; क्योंकि जो लोग केवल घायल होकर जीवित बच जाते हैं, उनका जीवन बड़ा कष्टमय होता है। जिन लोगों पर स्पष्ट रूप से कोई प्रभाव नहीं भी हुआ होता, वे भी रेडियो-सक्रिय कणों के स्पर्श के कारण भयानक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। किसी भी परमाणु बम के विस्फोट के बाद उसकी रेडियो-सक्रिय धूल सारे संसार में फैल जाती है और इस विषय में सभी विज्ञानवेत्ता एकमत हैं कि यह

रेडियो-सक्रियता प्राणीमात्र के लिए अत्यधिक हानिकारक वस्तु है। इसीलिए संसार के प्रायः सभी विचारकों और विज्ञानवेत्ताओं ने यह मांग की है कि परमाणु अस्त्रों के परीक्षणों पर रोक लगाई जाए। कहीं ऐसा न हो कि इन परीक्षणों ही परीक्षणों में पृथ्वी पर इतनी रेडियो-सक्रियता बढ़ जाए कि जिससे मनुष्य जाति का मूलोच्छेद ही हो जाए।

इस समय संसार में परमाणु ऊर्जा चार देशों के पास है; रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस। परमाणु शस्त्र जितने अधिक राष्ट्रों के पास होते जाएंगे, उतना ही यह खतरा बढ़ जाएगा कि कोई अविवेकी राष्ट्र युद्ध प्रारम्भ कर दे, जिसमें परमाणु शस्त्रों का प्रयोग किया जाए। इस विषय में लगभग सभी एक मत हैं कि यदि परमाणु शस्त्रों द्वारा कोई युद्ध लड़ा गया, तो उसमें जीतने वाले और हारने वाले दोनों ही समान रूप से नष्ट हो जाएंगे; और अधिक सम्भावना यही है कि न केवल मानव-सभ्यता, अपितु मानव-जाति ही नष्ट हो जाएगी। इसलिए पूंजीवादी और साम्यवादी गुटों में आपस में ऐसा कोई समझौता कर लेने का प्रयास बहुत दिनों से चल रहा है, जिससे इस प्रकार के आत्मविनाशकारी युद्ध का खतरा स्थायी रूप से टल जाए। किन्तु अभी इस दिशा में कुछ सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

यह ठीक है कि परमाणु-शक्ति का उपयोग विनाशकारी कार्यों के लिए ही किया गया है, किन्तु अपने-आपमें यह शक्ति विनाशकारी ही हो, ऐसी कोई बात नहीं है। अपितु इसके ठीक विपरीत यदि इस शक्ति का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सके तो यह मनुष्य के लिए सबसे बड़ा वरदान सिद्ध हो सकती है। परमाणु-शक्ति द्वारा बहुत कम व्यय से पानी के जहाज़ और पनडुब्बियां चलाई जा सकती हैं। ऐसे बिजली के कारखाने तैयार किए गए हैं, जिनमें परमाणु के विस्फोट से बहुत बड़ी मात्रा में सस्ती बिजली उत्पन्न की जा रही है। इसके अतिरिक्त परमाणु के विस्फोट से नये-नये आइसोटोप तैयार किए गए हैं, जिनका उपयोग रोगों की चिकित्सा के लिए, खेती के उत्पादन को बढ़ाने के लिए, उद्योगों और व्यवसायों की पुरानी प्रणालियों में सुधार करने के लिए किया जा रहा है। अभी तक हाइड्रोजन बम को पूरी तरह वश में करके उसे रचनात्मक कार्यों के लिए उप-

योगी नहीं बनाया जा सका। किन्तु जल्दी या देर से जब भी ऐसा किया जा सकेगा तब मनुष्य जाति की ईंधन की समस्या सदा के लिए हल हो जाएगी, क्योंकि परमाणु बम में काम आने वाली यूरेनियम धातु का भंडार फिर भी बहुत कुछ सीमित है; किन्तु हाइड्रोजन का भंडार तो मोटे तौर पर असीम ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार परमाणु के रूप में एक महान् शक्तिशाली दैत्य हमारे सामने है। यदि हम इसे किसी प्रकार अपने वश में करके मानव जाति की सेवा में लगा सकें, तो वह हमारे लिए सुख के सारे साज सजाने को तैयार है; किन्तु यदि कहीं गलती करके आपसी अविश्वास और सन्देह के कारण हम उसे विनाश के लिए प्रोत्साहित कर दें, तो उसे सारी मनुष्य-सभ्यता का विनाश करते शायद एक महीना भी न लगेगा। अब यह संसार के प्रमुख राष्ट्रों के विवेक पर निर्भर है कि वे निर्माण और विनाश में से कौन-से मार्ग को चुनते हैं।

अब से कुछ वर्ष पूर्व तक रूस और अमेरिका में पारस्परिक तनाव बहुत उग्र था। किन्तु अब दोनों ही देशों ने एक दूसरे की शक्ति को अनुभव कर लिया है और यह समझ लिया है कि ऐसा उपाय किसी भी पक्ष के पास नहीं, जिसके द्वारा दूसरे को तो नष्ट कर दिया जाए, किन्तु स्वयं विनाश से बचा जा सके। इसलिए अब दोनों ही ओर से समझौते का कुछ सच्चा प्रयत्न होता दीख पड़ता है और यह आशा बंधती है कि दोनों ही गुट सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेंगे और परमाणु शक्ति का उपयोग मानव-जाति के सुख और कल्याण के लिए ही किया जाएगा।

अन्य संभावित शीर्षक

१. परमाणु युग
२. परमाणु पर मनुष्य की विजय

स्पुतनिक

विज्ञान के हर नये आविष्कार ने, जब वह पहले पहल हुआ, तो दुनिया में तहलका मचा दिया। किन्तु कुछ समय बाद जब उससे बड़ा दूसरा आविष्कार हुआ, तो पहला आविष्कार बिलकुल मामूली और फीका जान पड़ने लगा। प्रारम्भ में जब पहली रेलगाड़ी ११ मील प्रति घंटे की चाल से चली थी, तो लोगों ने दांतों तले अंगुली दबा ली थी। उसके बाद मोटरें चलीं; पनडुब्बियां बनीं, पर जब विमान बने, तो दुनिया में फिर तहलका मचा और विमान के आविष्कार को मनुष्य की वायु पर विजय कहा गया। इसी प्रकार बिजली का आविष्कार भी कुछ समय तक चमत्कार समझा जाता था। जब वैज्ञानिकों को परमाणु का विस्फोट करने और उससे ऊर्जा प्राप्त करने में सफलता मिली, तो उससे फिर एक नये युग का सूत्रपात हुआ समझा गया। परन्तु स्पुतनिक की सफलता ने परमाणु शक्ति के आविष्कार को भी फीका कर दिखाया है।

स्पुतनिक रूसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—सहयात्री, अर्थात् साथ चलने वाला। जैसे चन्द्रमा, हमारी पृथ्वी की परिक्रमा करता है, उसी प्रकार पृथ्वी की परिक्रमा करने के लिए रूसियों ने जो पहला कृत्रिम उपग्रह आकाश में छोड़ा था, उसको उन्होंने स्पुतनिक नाम दिया, क्योंकि वह चन्द्रमा का सह-यात्री बना। रूसियों का यह पहला उपग्रह ४ अक्तूबर, १९५७ को छोड़ा गया था, जिसके कारण सारा संसार चकित हो उठा।

विज्ञानवेत्ता बहुत समय से इस सम्बन्ध में खोज कर रहे थे कि चन्द्रमा तथा दूसरे ग्रहों तक यात्रा करने का क्या उपाय ढूंढा जा सकता है। पहले तो केवल कथाकार लोग अपनी कहानियों में दूसरे ग्रहों की यात्राओं के काल्पनिक विवरण लिखा करते थे; किन्तु धीरे-धीरे विज्ञानवेत्ताओं ने इस दिशा में सोचना प्रारम्भ किया और उन्हें लगा कि ऐसी यात्रा कोई असम्भव वस्तु नहीं है। किन्तु इस यात्रा में सबसे बड़ी बाधा पृथ्वी की गुरुताकर्षण शक्ति की थी। पृथ्वी अपने आसपास के सब पिंडों को अपनी ओर खींचती है और इसीलिए सब वस्तुएं भूमि की ओर

खिंचकर उसपर गिर पड़ती हैं। विज्ञानवेत्ताओं ने हिसाब लगाया कि यदि किसी पदार्थ को प्रति सैकिंड ७ मील की गति से फेंका जा सके, जिससे वह ७००-८०० मील दूर तक चलता चला जाए, तो वह पृथ्वी के गुरुताकर्षण पर विजय पा सकेगा और वापस पृथ्वी पर नहीं गिरेगा।

इस सम्बन्ध में राकेटों के परीक्षण बहुत पहले से प्रारम्भ हो चुके थे। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी ने वी-१ और वी-२ प्रकार के जिन राकेटों का उपयोग किया था, उन्हींको युद्ध के बाद रूसी विज्ञानवेत्ताओं ने और विकसित किया और अन्त में ४ अक्तूबर, १९५७ को वे पहला स्पुतनिक छोड़ने में सफल हुए। इस राकेट की चाल १८००० मील प्रति घंटा थी और इसने लगभग ६०० मील दूर जाकर एक १८४ पौंड भार वाले छोटे-से उपग्रह को आकाश में एक ऐसे गोल मार्ग में धकेल दिया कि वह पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाने लगा। इस उपग्रह में रेडियो ट्रांसमीटर रखे हुए थे, जो तरह-तरह की जानकारी अपने आप पृथ्वी पर भेजते थे। उदाहरण के लिए वहां का तापमान, हवा का दबाव, पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति का प्रभाव इत्यादि बातें उपग्रह में रखे हुए यन्त्रों द्वारा जानी जाती थीं और रेडियो ट्रांसमीटर द्वारा उनकी सूचना अपने आप पृथ्वी पर भेज दी जाती थी। इस ट्रांसमीटर के संकेत संसार के सभी देशों में सुने जा सकते थे। ९२ दिन तक यह उपग्रह पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता रहा। यह पृथ्वी की परिक्रमा ९५ मिनट में पूरी कर लेता था। अन्त में पृथ्वी की गुरुताकर्षण शक्ति से खिंचता हुआ यह सघन वायुमण्डल में आ गया और जिस प्रकार उल्काएं जलती हुई नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार यह भी जलकर नष्ट हो गया।

प्रथम स्पुतनिक की सफलता का आश्चर्य अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि ३ नवम्बर, १९५७ के दिन रूस ने दूसरा उपग्रह छोड़ा, जिसका वज़न आधा टन अर्थात् लगभग १४ मन था। इस भारी उपग्रह के छोड़ने पर संसार के प्रमुख वैज्ञानिक और भी अधिक चकित हो गए। इस उपग्रह में लाइका जाति का एक कुत्ता भी बिठाकर भेजा गया था, जिससे यह जानकारी प्राप्त हो सके कि इतनी ऊंचाई पर व्योम में इतनी तीव्र गति से यात्रा करने से जीवित प्राणियों पर क्या प्रभाव पड़ता है। दूसरे रूसी उपग्रह से रूसी वैज्ञानिकों को व्योम-यात्रा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण

जानकारी प्राप्त हुई है।

रूस और अमेरिका में अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने की होड़ लगी है। राकेटों का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है, क्योंकि इनका प्रयोग युद्ध-काल में शत्रु को नष्ट करने के लिए किया जा सकता है। रूस के प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव तो कई बार यह घोषणा कर चुके हैं कि आगामी युद्ध विशुद्ध रूप में राकेटों का युद्ध होगा और रूस के पास ऐसे राकेट विद्यमान हैं, जो संसार के किसी भी भाग तक आसानी से पहुंच सकते हैं। राकेट के क्षेत्र में अमेरिका की प्रगति रूस की अपेक्षा कुछ कम थी, इसलिए रूस के दो उपग्रह छूट चुकने के बाद अमेरिकनों ने विशेष प्रयत्न किया और उन्होंने भी कुछ छोटे-छोटे उपग्रह, जिनका वज़न तीस पौंड था, आकाश में छोड़े। १५ मई, १९५८ को रूस ने तीसरा उपग्रह डेढ़ टन वज़न का छोड़ा। उसके बाद अमेरिका एक और बड़ा उपग्रह छोड़ चुका है, जिसका वज़न चार टन था। अमेरिका के इस चार टन वाले उपग्रह से रूस का दबदबा कुछ घटता प्रतीत होता था, शायद इसीलिए २ जनवरी, १९५९ को रूसियों ने एक राकेट छोड़ा, जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया था कि वह चन्द्रमा तक पहुंचेगा। परन्तु वह राकेट चन्द्रमा से ३००० मील दूर होकर सूर्य की ओर चलता चला गया और वह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने वाला एक छोटा-सा ग्रह बन गया। पहले जो स्पुतनिक छोड़े गए थे, वे केवल पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करने वाले उपग्रह ही थे, किन्तु इस राकेट द्वारा रूसियों ने सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने वाला एक ग्रह भी तैयार कर दिया। अब रूस का एक राकेट चन्द्रमा पर पहुंच चुका है।

अभी तो स्पुतनिक युग का प्रारम्भ ही है और ज्यों-ज्यों समय बीतेगा; त्यों-त्यों इस सम्बन्ध में नई-नई खोजें होंगी और अब से भी अच्छे और बड़े राकेट आकाश में छोड़े जा सकेंगे। चन्द्रमा तक पहुंचना अब पूरी तरह सम्भव समझा जाता है और विज्ञानवेत्ताओं को आशा है कि अगले १० साल के अन्दर-अन्दर मनुष्य चन्द्रमा पर पहुंच जाएगा। परन्तु सृष्टि तो चन्द्रमा पर समाप्त नहीं हो जाती। चन्द्रमा के बाद मंगल ग्रह पर पहुंचने का प्रयत्न किया जाएगा और मंगल के बाद अन्य दूसरे ग्रहों पर। प्रकृति ने मनुष्य को पृथ्वी पर ही कैद किया हुआ

था। अब उस जेल की दीवारों को तोड़कर मनुष्य दूसरे ग्रहों के भी दर्शन कर सकेगा और अपने ज्ञान को और भी अधिक बढ़ा सकेगा।

व्योम की यात्रा करने वाले इन राकेटों का निर्माण खर्चीला तो जो है सो है ही, इसके लिए आश्चर्यजनक सूक्ष्मता और दूरदर्शिता की भी आवश्यकता होती है। यदि राकेट को छोड़ते हुए उसकी दिशा में बाल जितना भी अन्तर पड़ गया, तो वह राकेट लाखों मील यात्रा कर चुकने के बाद अपने लक्ष्य से हज़ारों मील दूर जा पड़ेगा और लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंच पाएगा। पहले राकेटों में जिस ईंधन का प्रयोग किया जाता था, वह बहुत बोझल होता था और उसके द्वारा इतने बड़े राकेटों को आकाश में भेज पाना सम्भव नहीं था। परन्तु अब एक हल्के ईंधन का आविष्कार किया गया है, जिसके कारण इतने भारी राकेट भी व्योम में छोड़े जा सकते हैं। यह भी सम्भव है कि भविष्य में राकेटों को चलाने के लिए परमाणु-शक्ति का उपयोग किया जाए, क्योंकि परमाणु-शक्ति इस समय मनुष्य के हाथ में सबसे बड़ी शक्ति है।

अमेरिका ने इस प्रकार के अनेक राकेट छोड़ने के प्रयत्न किए और उनमें अनेक बार असफलता मिली। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज़रा-सी असावधानी या त्रुटि के कारण राकेट अपने लक्ष्य तक पहुंचने में असमर्थ हो जाता है। जब तक केवल भूमि के चारों ओर घूमने वाले उपग्रहों का प्रश्न था, तब तक शायद उतनी अधिक सूक्ष्मता की आवश्यकता नहीं थी, जितनी कि चन्द्रमा या मंगल जैसे ग्रहों तक राकेट भेजने के लिए होगी। हम सब जानते हैं कि पृथ्वी प्रति मिनट १२०० मील के वेग से व्योम में चल रही है। इसी प्रकार चन्द्रमा और मंगल इत्यादि ग्रह-उपग्रह भी तीव्र वेग से व्योम में घूम रहे हैं। इस प्रकार चलते हुए एक पिंड से लाखों मील दूर दूसरे पिंड पर राकेट भेज पाना जादू से भी कहीं अधिक आश्चर्यजनक है। परन्तु विज्ञानवेत्ताओं ने गणित से सब समस्याओं को हल कर लिया है और जिस प्रकार वे प्रयत्न में जुटे हैं, उससे स्पष्ट है कि उन्हें सफलता अवश्य ही मिलेगी और मनुष्य दूसरे ग्रहों तक यात्रा करने में सफल होगा। स्पुतनिक युग की चरम उन्नति के दिनों में मनुष्य एक ग्रह से दूसरे ग्रह तक उसी प्रकार आया-जाया करेंगे, जैसे आजकल विमान द्वारा एक महाद्वीप से

दूसरे महाद्वीप में जाते हैं

अन्य संभावित शीर्षक

१. कृत्रिम भू-उपग्रह
२. व्योम-यात्रा की संभावनाएं
३. राकेट युग

अभ्यास के लिए विषय

१. प्रौढ़ शिक्षा
२. भारतीय संस्कृति
३. सैनिक शिक्षा
४. अफ्रो-एशियाई सम्मेलन
५. नि:शस्त्रीकरण
६. वर्गहीन समाज की स्थापना
७. पंचायत राज्य

साहित्यिक

कला और जीवन

मन को आनन्द देने वाली रचनाएं कला कही जाती हैं। संगीत, सुन्दर चित्र या काव्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने बहुत सोच-विचार के बाद काव्य की परिभाषा करते हुए यह कहा कि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' अर्थात् उनके मत में काव्य के लिए केवल एक शर्त है कि वह आनन्द-दायक होना चाहिए।

कलाकार अपनी कलाकृतियों का सृजन साहित्य-शास्त्रियों या कलापारखियों

द्वारा निर्धारित नियमों का ध्यान रखकर नहीं करते, अपितु प्रतिभाशाली कलाकार तो अपनी स्फुरणा के अनुसार कलाकृतियां रच डालते हैं और बाद में कलापारखी उनका विवेचन और वर्गीकरण करते रहते हैं। जो रचनाएं सहृदय लोगों को आह्लादित नहीं कर सकीं, उनको तो कला की कोटि में ही नहीं रखा गया; परन्तु कला समझी जाने वाली रचनाओं के भी दो बहुत स्पष्ट दीख पड़ने वाले भेद थे। कुछ रचनाएं आनन्ददायक होने के साथ-साथ जीवन को उन्नत करने की प्रेरणा देने वाली थीं। वे व्यक्ति और समाज को दोषों को त्यागने और गुणों को अपनाने के लिए प्रेरित करती थीं। इसके विपरीत दूसरी ओर कुछ रचनाएं ऐसी थीं, जो आनन्ददायक तो खूब थीं, किन्तु मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाली थीं। कहा जा सकता है कि वे कलाकृतियां सुन्दर तो थीं, किन्तु शिव नहीं थीं। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में कलासौन्दर्य असंदिग्ध रूप से विद्यमान था। इसलिए यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि क्या रसात्मकता अर्थात् आनन्ददायक होना कला की सच्ची और पूरी कसौटी है ? या कला को आनन्ददायक होने के साथ-साथ कल्याणकारी और मंगलमय भी होना चाहिए ?

लगता है, ऐसा प्रश्न हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के सम्मुख भी उपस्थित हुआ था। परन्तु उन्होंने तो काव्य का प्रयोजन बताते हुए लिखा : 'काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये, सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे,' अर्थात् काव्य का उद्देश्य है यश की प्राप्ति, धन का उपार्जन, लोकव्यवहार की शिक्षा, अमंगल का निवारण, मोक्ष की प्राप्ति और पत्नी की भांति मधुर रीति से उपदेश देना। जहां अमंगल का निवारण और प्रेम तथा मधुरता के साथ उपदेश देना भी काव्य का प्रयोजन हो, वहां यह विवाद शायद उठ ही नहीं सकता कि केवल आनन्ददायकता कला की कसौटी रखी जाए या उसका मंगलमय होना भी आवश्यक माना जाए। क्योंकि उपदेश को भले ही इन प्रयोजनों में सबसे अंतिम स्थान दिया गया हो, परन्तु उसे स्थान दिया अवश्य गया है।

परन्तु यूरोप में यह विवाद खूब चला। यूरोप में दो प्रकार के साहित्य-शास्त्री हुए। एक विचार के लोगों का कहना था कि कला केवल कला के लिए है। उसका उद्देश्य समाज-सुधार करना नहीं है। यदि कोई कलाकृति कला की दृष्टि से उत्कृष्ट

है, तो वह अच्छी कला है, भले ही उसका व्यक्ति और समाज पर कितना ही दूषक प्रभाव क्यों न पड़ता हो। वाल्टर पेटर, ब्रेडले, आस्कर वाइल्ड और स्पिनगार्न आदि इसी विचारधारा के पृष्ठपोषक हैं। परन्तु इसके विरोध में रस्किन, ताल्सताय, मैथ्यू आर्नल्ड और आई० ए० रिचर्ड्स आदि का कथन था कि केवल सौंदर्य को कला की कसौटी नहीं माना जा सकता। यदि कोई कलाकृति जीवन को उन्नत न करके उसे पतन की ओर ले जाती है, समाज को विकास की ओर न बढ़ाकर उसे अवनति की ओर ले चलती है, तो कितनी ही सौंदर्य और आनंद से भरी होने पर भी वह उत्कृष्ट कला नहीं कही जा सकती। वैसे तो सब कलाकृतियों को जीवन के सुधार में सहायक होना चाहिए; परन्तु यदि वह जीवन को सुधारे न भी, तो कम से कम पतन की ओर तो न ले जाए।

यह विवाद देर तक इसलिए चलता रह सका, क्योंकि दोनों ही पक्षों में बड़े-बड़े धुरन्धर कलाकार थे। उनके सिद्धान्त उनकी अपनी रचनाओं में प्रतिफलित होते थे। आस्कर वाइल्ड की रचनाएं 'कला को केवल कला के लिए' मानकर चली हैं। उनमें समाज-सुधार या मनुष्य में उदात्त भावनाओं को जगाने का प्रयास नहीं है; किन्तु ताल्सताय जैसे लेखक घोर आदर्शवादी थे और उनकी प्रत्येक रचना किसी न किसी महान् लक्ष्य को लेकर चली है।

'कला को कला के लिए' मानने वाले विचारकों का कथन था कि शिक्षा या उपदेश के लिए पृथक् ग्रंथ लिखे जा सकते हैं और लिखे गए हैं। शिक्षा या उपदेश के लिए उपन्यास पढ़ना व्यर्थ है। जिसे पेट में दर्द है, उसे डाक्टर के यहां जाकर दवाई खानी चाहिए। उसका यह आग्रह करना कि चाट या पकौड़ों में ही पेट दर्द की दवाई भी मिली रहनी चाहिए और वह दवाई न खाकर चाट और पकौड़ियां ही खाएगा, व्यर्थ का दुराग्रह है। इसी प्रकार कला का स्थान चाट का-सा स्थान है, जो स्वाद और आनन्द के लिए होती है। उसका स्थान दवाई का नहीं है, जो रोग-शमन के लिए दी जाती है। समाज-सुधार का क्षेत्र कला से बिल्कुल अलग और दूर है। बल्कि स्पिनगार्न तो एक कदम और आगे बढ़ गया। उसने कहा कि कला में सदाचार और समाज-सुधार को ढूंढना तो ऐसा है, जैसे गणित में सदाचार को ढूंढना। अगर कोई कहे कि त्रिभुज दुराचारपूर्ण है और चतुर्भुज सदाचारपूर्ण, तो

लोग उसे पागल ही कहेंगे। इसी प्रकार कला की जांच भी उसकी आनन्द देने की क्षमता द्वारा होनी चाहिए, सदाचार के प्रचार और समाज-सुधार की क्षमता द्वारा नहीं।

'कला कला के लिए' का सिद्धान्त किसी सीमा तक ठीक भी माना जा सकता है। किन्तु यदि उपयोगिता और समाज-सुधार को भी कला की परख के लिए आवश्यक शर्त मान लिया जाए, तो उपदेशात्मक धर्मग्रंथ श्रेष्ठ कलाकृतियां मानी जाएंगी। परन्तु उनको कोई भी श्रेष्ठ कलाकृति मानने को तैयार नहीं है। जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की दृष्टि से देखता है, वह सौंदर्य का पूरा पारखी नहीं हो सकता। सुहांजने, सेमल और बड़हल के फूलों की सब्ज़ी बन सकती है और चमेली, बेला और मौलश्री के फूलों की सब्ज़ी नहीं बन सकती। तो क्या सेमल के फूल चमेली और बेला के फूलों से अच्छे मान लिए जाएंगे? केवल इसलिए कि वे सब्ज़ी बनाने के भी काम आ सकते हैं? वस्तुतः उपयोगिता के साथ-साथ सौंदर्य का भी जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। अनेक बार हम अनेक नितान्त अनुपयोगी वस्तुओं को केवल उनके सौंदर्य के कारण प्राप्त करने और संचित करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

यदि उपयोगिता को ही उत्कृष्ट कला की कसौटी मान लिया जाए, तो चूरन बेचने वाले जो गीत गाते हैं, उन्हें श्रेष्ठ कला मानना होगा। क्योंकि वे गीत तो गाने वाले को अपने जीवन-निर्वाह में प्रत्यक्ष सहायता देते हैं। वे ग्राहकों को आकृष्ट करते हैं। परन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति उन गीतों को उत्कृष्ट कला का आसन कैसे दे सकता है?

उपयोगिता और आनन्द दोनों ही जीवन की बड़ी आवश्यकताएं हैं। रोटी जीवन के लिए उपयोगी है। किन्तु पेट भरने की सीमा पर पहुंचकर रोटी का महत्त्व समाप्त हो जाता है। तब मनुष्य आनन्द की खोज करता है। आतिशबाज़ी इसका स्पष्ट उदाहरण है। उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाए, तो आतिशबाज़ी छोड़ना चरम मूर्खता का कार्य है। परन्तु शायद ही कोई ऐसा आदमी हो, जो अच्छी आतिशबाज़ी को छूटते देखकर प्रसन्न न हो। जिस प्रकार आतिशबाज़ी का आनन्द लेते हुए लोग उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता का विचार नहीं करते, बल्कि यह समझते हैं कि आतिशबाज़ी करने में अपव्यय तो होगा ही, इसी प्रकार हमें

कला की भी परख करनी चाहिए। यदि कोई कलाकृति समाज और जीवन को थोड़ा-बहुत गिरावट की ओर भी ले जाती है, तो भी हमें उसे क्षम्य समझना चाहिए और सौंदर्य की दृष्टि से उस कलाकृति को यथोचित सम्मान देना चाहिए।

किन्तु 'कला कला के लिए' का समर्थन केवल इसी सीमा तक किया जा सकता है, इससे आगे नहीं। आतिशबाज़ी की युक्ति अपने आप में सौंदर्य और उपयोगिता के बीच की सीमा को निर्धारित कर देती है। यह ठीक है कि केवल आनन्द के लिए आतिशबाज़ी छोड़ी जाती है; किन्तु मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी आतिशबाज़ी देखने के लिए अपने घर में आग नहीं लगा देता और न ही अपना सर्वस्व आतिशबाज़ी देखने के लिए नष्ट कर देता है। यह भी ठीक है कि केवल सुन्दर और सुगन्धित फूल ही पसन्द किए जाते हैं और शौकीन लोग जहां-तहां उनके पौधे भी लगा रखते हैं; परन्तु यदि लोग अपनी सारी शक्ति केवल चम्पा, चमेली और बेले के फूलों की खेती में लगा दें, तो उनका जीना ही मुश्किल हो जाएगा।

यह कहना कि कला का समाज-सुधार से कोई सम्बन्ध नहीं है, कला के महत्त्व को घटाना है और वास्तविकता से आंखें मूंदना है। कला में मानव-हृदय को प्रभावित करने की अलौकिक शक्ति है। श्रेष्ठ कलाकृतियां अपनी छाप पाठक के हृदय पर बहुत गहरी छोड़ जाती हैं। यदि कला की इस अलौकिक शक्ति का उपयोग मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए किया जाए, तो उससे अच्छी कोई बात नहीं हो सकती और यदि इस शक्ति को असंयत रूप में खुला छोड़ दिया जाए, जिससे वह समाज की हानि भी कर सके, तो समाज का भविष्य अन्धकारमय हो जाएगा।

जीवन में आनन्द के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता; परन्तु आनन्द निश्चय ही जीवन का सर्वस्व नहीं है; कल्याण भी आनन्द से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अब समस्या यह रह जाती है कि आनन्द और कल्याण में से, प्रेय और श्रेय में से किसे चुना जाए? जो आनन्द कल्याण की बलि देकर मिले वह आनन्द नहीं, अपितु कष्ट है। जो व्यक्ति जानते-बूझते केवल आनन्द के लिए विषैली मिठाई खाने को तैयार हो जाए, उससे बढ़कर मूर्ख ढूंढ पाना कठिन है।

वैसे तो इस विवाद का समन्वय करने के लिए बड़ी सरलता से यह कहा जा

सकता है कि श्रेष्ठ कला-कृतियां वे ही हैं, जो मन को आनन्द भी देती हों और साथ ही कल्याणकारिणी भी हों। इस समन्वित वक्तव्य से कोई भी असहमत न होगा। परन्तु कठिनाई वहां उपस्थित होगी, जहां एक मंगलमय रचना घटिया कोटि की हो और दूसरी अमंगलकारिणी रचना चित्त को आह्लादित करने की दृष्टि से अधिक अच्छी हो। वहां किस रचना को अधिक अच्छा माना जाए ?

वस्तुत: इस विवाद का समुचित समाधान आसान नहीं है। कारण कि सौन्दर्य और मंगल, दोनों ही सापेक्ष धारणाएं हैं। फिर भी कला का निर्णय करते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि प्रथम स्थान उसकी चित्त को आह्लादित करने की क्षमता को दिया जाए और मंगलकारिता को गौण स्थान दिया जाए। भारतीय साहित्यिक परम्परा में तो सौंदर्य के साथ-साथ मंगल का सदा ध्यान रखा गया है। परन्तु शिक्षा और उपदेश को उन्होंने कला के आवरण में बहुत गहरा ढांप-कर रखा है। यदि कला का आवरण इतना अधिक न हो, तो सारा काव्य-साहित्य केवल उपदेश-ग्रन्थ रह जाएगा।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कला सुन्दर और शिव, दोनों होनी चाहिए; किन्तु सौंदर्य उसका प्रमुख गुण हो और शिवत्व गौण। शिवत्व के बिना कला कला हो सकती है, किन्तु सौंदर्य के बिना नहीं।

अन्य संभावित शीर्षक

१. कला कला के लिए या जीवन के लिए

आदर्श और यथार्थ

हम जिस संसार में रहते हैं, वह सुख-दु:ख, अच्छाई-बुराई, सत्-असत् दोनों से भरा हुआ है। यहां सुगन्धित फूलों के साथ-साथ कांटे भी हैं। एक ओर मधु है, तो दूसरी ओर विष भी है। एक ओर दीन-दुखियों की सेवा में अपना जीवन लगा देने

वाले आत्मत्यागी पुरुष हैं, तो दूसरी ओर अकारण दूसरे पर अत्याचार करने वाले और दूसरों को कष्ट देने वाले दुष्ट लोग भी विद्यमान हैं। किन्तु सत्य सत्य ही है; उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। सत्य चाहे प्रिय हो या अप्रिय, उसकी ओर से आंखें मूंदने से कल्याण नहीं हो सकता।

किन्तु सारा मानव-जीवन सत्य पर ही आधारित नहीं है। हमारे जीवन में सत्य का जितना महत्त्व है, उससे कम कल्पना या स्वप्नों का नहीं है। अभावग्रस्त मानव चिरकाल से स्वप्नों और कल्पनाओं से मन को बहलाता आया है और किसी अतीत युग की मनोरम कल्पनाएं ही परवर्ती काल में सत्य बन उठी हैं। इसलिए सत्य पर बहुत अधिक बल देना और कल्पना-लोक की उपेक्षा कर देना भी परम कल्याण का मार्ग नहीं हो सकता। यह ठीक है कि इस वास्तविक संसार में अनेक बार अधर्म की विजय होती है, किन्तु हम अपने कल्पना-जगत् में ऐसा संसार देखना चाहते हैं, जहां अधर्म की विजय कभी नहीं होती, अपितु अधर्म सदा पराजित ही होता है।

जहां तक जगत् का प्रश्न है, यह समस्या बहुत गौण है; परन्तु साहित्य में आकर यह प्रश्न गंभीर बन जाता है। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। तो क्या साहित्य में जीवन का ज्यों का त्यों नग्न, कुत्सित और बीभत्स चित्रण कर दिया जाना चाहिए? अथवा कलाकार को अपनी कल्पना द्वारा विश्व की कुरूपताओं को ढांपकर एक सुन्दर और पवित्र संसार की रचना करनी चाहिए? यही दो विचारधाराएं यथार्थवादी और आदर्शवादी विचारधाराएं कहलाती हैं।

प्राचीन भारतीय परम्परा में साहित्य का उद्देश्य आदर्शप्रधान रखा गया है। काव्य के प्रयोजन गिनाते हुए लोक-कल्याण भी उसका एक लक्ष्य गिनाया गया है। इसीलिए हमारे सारे प्राचीन साहित्य में निरपवाद रूप से अन्त में सत्य, न्याय, धर्म आदि सद्गुणों की विजय और पाप की पराजय दिखाई गई है। इस सम्बन्ध में साहित्य-शास्त्र में बड़े स्पष्ट आदेश दे दिए गए हैं कि काव्य का नायक सद्-गुण-संपन्न होना चाहिए और अन्त में उसे इष्ट फल की प्राप्ति होनी ही चाहिए। भारतीय साहित्य-शास्त्र के नियमों में दुःखान्त काव्य के लिए स्थान ही नहीं है।

आदर्शवादी साहित्य अत्यन्त मनोरम बन पड़ा है। यह मनुष्य की स्वाभाविक

भावनाओं के अनुकूल है। दुष्ट से दुष्ट मनुष्य भी काव्य में सत्पक्ष की ही विजय देखना चाहता है। असत् पक्ष के साथ उसकी सहानुभूति नहीं हो पाती। इसीलिए पुराने कवियों ने सच्चरित्र राजाओं और सुन्दर नायिकाओं को लेकर काव्यों और नाटकों की रचना की है। इन नायकों और नायिकाओं के सामने अनेक विघ्न-बाधाएं आती हैं, किन्तु वे उनकी परवाह न करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चलते हैं और अन्त में वे निश्चित रूप से सफल होते हैं। पाठकों के मन पर एक गहरी छाप इस बात की बैठ जाती है कि अच्छाई की सदा विजय होती है; इसलिए हमें भी अच्छा बनने का यत्न करना चाहिए।

आदर्शवादी साहित्यकारों का यह मत है कि मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत बलवती है। जो वस्तु उसके सम्मुख सुन्दर या सफल रूप में प्रस्तुत की जाती है, उसका वह अनुकरण करने लगता है। यदि वह धर्मात्मा और सच्चरित्र पुरुषों को कष्ट पाकर अन्त में सफल होते देखे, तो वह भी धर्मात्मा और सच्चरित्र बनने का प्रयास करता है। इसके विपरीत यदि वह डाकुओं और चोरों को सफल होकर सुखी जीवन बिताते देखे, तो वह भी वैसा ही जीवन बिताने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। यह बात अनुभव से पुष्ट है। समाज-सुधारकों को शिकायत है कि आजकल फिल्मों को देख-देखकर युवकों और किशोरों में अपराध करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसलिए कलाकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि समाज के हित को दृष्टि में रखते हुए वह जीवन के उन्हीं पहलुओं का चित्रण करे, जिनसे समाज का कल्याण होने की सम्भावना हो। सत्पक्ष को सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया जाए और असत्पक्ष को अपनी कल्पना द्वारा ऐसे रूप में रखा जाए कि उसके प्रति पाठकों के मन में आकर्षण न हो, अपितु विरक्ति हो। सत्य का ज्यों का त्यों वर्णन कर देना कोई कला नहीं है, अपितु उसे अपनी प्रतिभा से सजा-संवारकर प्रस्तुत करना ही सच्ची कला है।

आदर्शवाद के समर्थकों की यह बात एकाएक सुनने में बड़ी मधुर और प्रभावोत्पादक जान पड़ती है। किन्तु यथार्थवादियों का कथन है कि यदि हमें सचमुच लोक-कल्याण और समाज-सुधार अभीष्ट है, तो हमें समाज के उन दोषों का स्पष्ट और भयावह रूप में चित्रण करना चाहिए, जिन्हें हम समाज से हटाना चाहते हैं।

दोषों को हटाने के लिए पहला कदम यह है कि उन दोषों को देखा जाए, समझा जाए और ज़ोरदार शब्दों में दूसरों को बताया जाए, जिससे लोग उन्हें हटाने के लिए कटिबद्ध हो सकें। जिस समय समाज कुरीतियों और पापाचारों से भरा हुआ हो, उस समय उन दोषों के ऊपर पर्दा डालकर आदर्शवादी कल्पनाओं में जनता को भुलाए रखना समाज की सेवा नहीं, कुसेवा करना है। जिस समय समाज का व्यवहार नैतिकता की दृष्टि से हीनतम स्तर पर पहुंच चुका हो, उस समय उच्चतम आदर्शों की दुहाई देते रहना पाखंड नहीं तो क्या है ? और पाखंड से कभी समाज का कल्याण नहीं हो सकता।

हमारे समाज के पतन का काफी बड़ा श्रेय हमारे आदर्शवादी प्राचीन साहित्यकारों को है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से आदर्शवाद का सुनहला जाल बुनकर उसमें जनता को भटकाए रखा और कुत्सित यथार्थ तक लोगों की दृष्टि पहुंचने ही नहीं दी। बाद में जब से समाज-सुधार का आन्दोलन छिड़ा, तब से आदर्शवादी रचनाओं का स्थान बहुत कुछ यथार्थ रचनाओं ने ले लिया है।

सभी देशों में क्रान्तियों के इतिहास देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि यथार्थवादी साहित्य की रचना क्रान्ति की भूमिका होती है। जब कोई देश या समाज लम्बे समय से कुरीतियों और कुप्रथाओं से ग्रस्त रहता है और उसके फलस्वरूप होने वाले अन्याय और अत्याचार असह्य हो उठते हैं, तब कुछ प्रतिभाशाली यथार्थवादी साहित्यकार अपनी ओजस्वी लेखनी से उन दोषों की ओर संकेत करते हैं। धीरे-धीरे उन बुराइयों के विरुद्ध लोकमत तैयार होता है और अन्त में लोग उन बुराइयों को समाप्त करने के लिए प्राण तक बलिदान करने को तैयार हो जाते हैं। फ्रांस और रूस की क्रान्तियों में ठीक ऐसा ही हुआ। इससे स्पष्ट है कि समाज-सुधार के लिए यथार्थवाद आदर्शवाद की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा अस्त्र है।

किन्तु आजकल यथार्थवाद के नाम पर बहुत-सा ऐसा साहित्य लिखा जा रहा है, जो यत्नपूर्वक जीवन के केवल कुत्सित पक्ष का ही चित्रण करता है। उन रचनाओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सारा संसार एक भयानक नरक है और इसमें अच्छाई का कोई चिह्न ही शेष नहीं है। यदि यथार्थ चित्रण ही अभीष्ट हो, तो संसार में जैसा कुछ सत् और असत् का मिश्रित रूप दिखाई पड़ता है,

वैसा ही चित्रण होना चाहिए। उदाहरण के लिए राजधानी में महल होते हैं, नाट्यशालाएं होती हैं, उपवन होते हैं और गन्दा पानी बहाकर ले जाने वाली नालियां भी होती हैं। यदि कोई व्यक्ति राजधानी का वर्णन करते समय केवल गन्दी नालियों का वर्णन करके ही चुप हो जाए, तो उसे कुशल प्रेक्षक नहीं समझा जा सकता। यही माना जाएगा कि उसका वर्णन पक्षपात से दूषित है। उसकी दृष्टि अच्छाई को देख पाने में असमर्थ रही है। इसी प्रकार यथार्थवाद के नाम पर केवल जीवन के गर्हित पक्ष का चित्रण करने वाले कलाकार भी पक्षपात से ग्रस्त हैं।

इस प्रकार का एकपक्षीय यथार्थवाद समाज को सुधारने की प्रेरणा देने के बजाय लोगों में निराशा की भावना भर देता है। लोग यह समझने लगते हैं कि इतने अधिक दोषों को तो हटा पाना किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है।

इस प्रकार विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के अभावों का ज्यों का त्यों वर्णन कर देना यथार्थवाद है और जीवन के अभावों को कल्पना द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न आदर्शवाद। आदर्शवाद हमें सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देता है, और इस प्रकार हम अपने भविष्य को उज्वल बनाने का यत्न करते हैं। परन्तु साथ ही आदर्शवाद का दोष यह है कि लोग आदर्शों के भुलावे में जीवन के कठोर सत्यों को भूल जाते हैं। इसके विपरीत यथार्थवाद जीवन के सत्यों की ओर हमारी दृष्टि को आकृष्ट करता है और समाज के गुण-दोषों से हमें परिचित कराता है। यदि हमें दोष अधिक दिखाई पड़ें, तो हम उन्हें हटाने का भी प्रयत्न कर सकते हैं। परन्तु यथार्थवाद का बड़ा दोष इसकी एकांगिता है। जब यथार्थ-वादी लेखक जीवन के एक ही कुत्सित पक्ष का चित्रण करने पर कमर कस लेता है, तो यथार्थवाद अभीष्ट प्रतिक्रिया को जन्म न देकर निराशा और निष्क्रियता उत्पन्न कर देता है।

ऐसे समय कहा जा सकता है कि किसी भी एक वाद का कट्टर अनुयायी न होकर साहित्यकार को यथार्थवाद और आदर्शवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। कहा जाता है कि प्रेमचन्द जी ने हिन्दी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को अपनाकर ऐसा ही समन्वय करने का प्रत्यन किया है। उनकी रचनाओं में जीवन का बड़ा यथार्थ और सजीव चित्रण है, फिर भी उनके पात्र

सदा आदर्श की ओर ही बढ़ते हैं और उनकी रचनाओं में सदा सत् पक्ष की विजय होती दिखाई जाती है।

सिद्धान्त में दोनों वादों के समन्वय की बात बहुत भली मालूम होती है; परन्तु वस्तुतः दोनों विचारधाराओं में इतना मौलिक अन्तर है कि दोनों का मेल हो नहीं सकता। यथार्थवादी कलाकार असत् की विजय देखकर उसका ज्यों का त्यों चित्रण किए बिना नहीं रह सकता, जबकि आदर्शवादी कलाकार असत् की विजय को कभी अपनी रचना में आने नहीं दे सकता। प्रेमचन्द जी की तथा-कथित आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रचनाओं में सब पात्र अन्त में जाकर सुधर जाते हैं। अनेक समालोचकों ने यह आक्षेप किया है कि प्रेमचन्द जी के पात्र सजीव नहीं हैं, अपितु लेखक के हाथ की कठपुतली बन गए हैं।

यह कहना कि आदर्शवाद भारतीय संस्कृति के अनुकूल है और यथार्थवाद यूरोपीय साहित्य की देन है, उचित नहीं समझा जा सकता। क्योंकि किसी वस्तु या विचारधारा का भारतीय या यूरोपीय होना अपने आप में कोई गुण या दोष नहीं है। सामान्यतया साहित्य की परख के लिए 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की कसौटी प्रस्तुत की जाती है। इस कसौटी की दृष्टि से आदर्शवादी साहित्य में सत्य का अभाव होता है और यथार्थवादी साहित्य में सुन्दर का। इस प्रकार यथार्थवादी साहित्य सत्य और शिव होता है और आदर्शवादी साहित्य शिव और सुन्दर होता है। ऐसी दशा में सत्य और शिव का स्थान शिव और सुन्दर से ऊंचा मानना पड़ेगा।

वस्तुतः यथार्थवाद वर्तमान युग की एक प्रचंड लहर है, जो सभी देशों में फैली है। जब तक साहित्य केवल राजा-रानियों और सामन्तों का साहित्य था, तब तक आदर्शवादी विचारधारा चल सकती थी। किन्तु जब से वह जन-साधारण ाहित्य [illegible] है, [illegible]से उसमें आदर्श का स्थान यथार्थ ने ले लिया है और जब तक सामाजिक व्यवस्था में कोई नया और बड़ा परिवर्तन न हो जाए, तब तक यथार्थवाद की प्रधानता बढ़ती ही जाएगी।

अन्य संभावित शीर्षक

१. आदर्शवाद और यथार्थवाद

रहस्यवाद

अंग्रेज़ी में जिसे 'मिस्टीसिज़्म' कहा जाता है, उसीको अंग्रेज़ी शब्द का अनुवाद करके हिन्दी में 'रहस्यवाद' कहा जाने लगा है। 'रहस्यवाद' शब्द भारतीय साहित्यशास्त्र का अपना कोई मौलिक शब्द नहीं है। किन्तु रहस्यवाद से जिस प्रकार की रचनाओं का बोध होता है, उस प्रकार की रचनाएं हिन्दी के प्राचीन भक्तिकाल में भी होती रही थीं और कुछ रचनाएं आधुनिक काल में भी लिखी गई हैं।

रहस्य का अर्थ है—वह अदृश्य अज्ञात शक्ति, जिससे इस सारे संसार का संचालन हो रहा है; वह अव्यक्त सत्ता, जो सम्पूर्ण चराचर को अपनी इच्छा के अनुसार घुमा-फिरा रही है। उस अदृश्य सत्ता की अनुभूति, उसको पाने की आकांक्षा और उसके साथ आत्मा का मिलन, इन सब बातों का वर्णन या संकेत जिन रचनाओं में रहता है, उन्हें रहस्यवादी रचनाएं कहा जाता है। मोटे तौर पर कहा जाए, तो जिन रचनाओं में आत्मा और परमात्मा के मिलन के सम्बन्ध में संकेत रहते हैं, उन्हें रहस्यवादी रचना कहते हैं।

प्राचीनकाल में कबीर और जायसी की रचनाओं में रहस्यवादी संकेत प्रभूत मात्रा में पाए जाते हैं। कबीर और जायसी दोनों साधक और उपासक थे। उनका व्यक्तिगत जीवन तपस्या का जीवन था। उनके मन में परमात्मा को पाने की तीव्र लालसा, उसको पाने का अविरत प्रयास और उसके मिलन की आनन्दमय अनुभूति होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। अनुभूति की तीव्रता के कारण उनके रहस्यवादी संकेत बहुत मर्मस्पर्शी बने हैं।

आत्मा और परमात्मा दोनों ही अदृश्य वस्तुएं हैं, परन्तु उनका अस्तित्व सन्देह से परे है। आत्मा और परमात्मा के विरह की आकुलता और मिलन का आनन्द ऐसी वस्तु है, जिसका वर्णन सीधे-सादे शब्दों में कर पाना कठिन है। इसलिए रहस्यवादी कवियों को बहुत बार सांकेतिक या प्रतीक शैली का सहारा लेना पड़ता है। इसमें बहुत बार भाषा भावों का साथ नहीं दे पाती और अस्पष्ट रह

जाती है। फिर भी अनुभूति की तीव्रता के कारण उस अस्पष्ट भाषा में से भी भाव बड़े ज्वलन्त रूप में प्रकट होकर दिखाई पड़ते हैं।

रहस्यवादी रचनाओं में कवि वा साधक के मन की तीन दशाएं होती हैं। पहली दशा तो वह, जिसमें उसे अदृश्य महान् सत्ता के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह चकित होकर यह सोचने लगता है कि इस समस्त विश्व-ब्रह्मांड का नियमन करने वाली सत्ता कौन-सी है ? दूसरी दशा परमात्मा के ज्ञान की दशा है। इसमें कवि या साधक परमात्मा के स्वरूप को देख लेता है और उसको पाने के लिए या उससे मिलकर एकाकार होने के लिए आकुल हो उठता है। और तीसरी दशा आत्मा और परमात्मा के मिलन की दशा है। लम्बी साधना के द्वारा विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। इस मिलन का आनन्द वर्णन करके नहीं बताया जा सकता।

यह है प्राचीन हिन्दी कवियों का रहस्यवाद। कबीर, जायसी और मीरा की रचनाओं में यह उपलब्ध होता है। कबीर का रहस्यवाद ज्ञान-प्रधान है। उसमें भावुकता कम और बुद्धि का अंश अधिक है। जायसी का रहस्यवाद प्रेम-प्रधान है। उसमें अनुभूति की तीव्रता कहीं अधिक है। प्रेम की पीर का जैसा मर्मस्पर्शी रूप जायसी के पद्मावत में मिलता है, वैसा साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इसकी और भी बड़ी विशेषता यह है कि यह प्रेम लौकिक पृष्ठभूमि से उठकर आध्यात्मिक स्तर तक पहुंच जाता है। जायसी का रहस्यवाद हृदय को प्रभावित करता है और कबीर का बुद्धि को। मीरा के रहस्यवाद की स्थिति कुछ भिन्न है। मीरा मुख्यतः सगुण भक्त हैं। उनका प्रेम भी लौकिक प्रेम है। किन्तु उन्होंने कुछ रचनाएं निर्गुण और निराकार ब्रह्म को लेकर भी लिखी हैं। उन्हींमें रहस्यवाद प्रकट हुआ है। मीरा के सारे पद गंभीर विरह-व्यथा से भरे हैं। जहां वे निराकार ब्रह्मपरक हो गए हैं, वहां उनमें रहस्यवाद का पुट आ गया है। मीरा की रचनाएं भी गहरी और वास्तविक अनुभूति से प्रेरित हैं, इसलिए उनमें भी रस की मात्रा कम नहीं है।

परन्तु हिन्दी में आधुनिक काल में जो रहस्यवाद आया, वह कबीर और जायसी की परम्परा से न आकर अंग्रेज़ी और बंगला से आया और वहां की नकल के रूप में आया। जब रवि बाबू को 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार देने की

घोषणा हुई, तो गीतांजलि के अनुकरण में रहस्यवादी रचनाएं लिखने की हिन्दी में बाढ़-सी आई। वस्तुतः नोबल पुरस्कार रवि बाबू की अकेली गीतांजलि के लिए नहीं मिला था, अपितु रवि बाबू की सम्पूर्ण अद्भुत काव्य-प्रतिभा के लिए दिया गया था और उस काव्य-प्रतिभा का सुन्दर रूप गीतांजलि में प्रकट हुआ था। सामान्यतया नोबल पुरस्कार इसी प्रकार लेखक के समग्र लेखन पर दिया जाता है। परन्तु रवि बाबू ने जो अन्य कथात्मक कविताएं लिखी हैं, उनका अनुकरण कर पाना सरल नहीं था। किन्तु गीतांजलि की नकल में कुछ भी अस्पष्ट और दुर्बोध-सी वस्तु लिख देना कठिन काम भी नहीं था। किसी समय हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी रचनाओं और कवियों की ऐसी बाढ़ आई थी कि सारा साहित्य उसमें डूबता दिखाई पड़ता था। परन्तु काल के प्रवाह और आलोचकों के कठोर प्रहार के कारण रहस्यवादी लेखक शीघ्र ही साहित्य-क्षेत्र से लुप्त-से हो गए। आजकल केवल जयशंकरप्रसाद, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तथा अन्य एक-दो लेखक रहस्यवादी कवि समझे जाते हैं। इनमें से प्रसाद और निराला का रहस्यवाद दार्शनिक रहस्यवाद कहा जाता है और महादेवी की विरह-प्रधान रचनाओं में समालोचक लोग भावात्मक रहस्यवाद की झलक पाते हैं।

यदि हम रहस्यवाद की कसौटी इसी बात को मान लें कि उसमें आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में कुछ मार्मिक संकेत होने चाहिएं, तो हमें आधुनिक रहस्यवादी कवियों की रचनाएं सन्तोषजनक नहीं जान पड़ेंगी। प्राचीनकाल के जिन कवियों ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में लिखने का प्रयास किया, उनका जीवन इस प्रकार का था कि उन्हें उस प्रकार की अनुभूतियां होना स्वाभाविक समझा जा सकता था। किन्तु आधुनिक रहस्यवादी कवियों का जीवन तो साधना से नितान्त दूर है। इसलिए उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों को सच्चा नहीं माना जा सकता। जो वस्तु अनुभव करने के बाद भी भाषा में सही-सही लिखी जानी बहुत कठिन है, उसको बिना अनुभव किए लिखने का प्रयास करना बहुत ही ज़्यादती है। इसीलिए आधुनिक कवियों की रहस्यवादी रचनाएं पाठकों को प्रभावित नहीं कर सकीं और बहुत शीघ्र ही अपनी लोकप्रियता खो बैठीं। शायद वे लोकप्रिय कभी हुई ही नहीं थीं। इन कवियों के मन, वचन और कर्म के असामंजस्य को देखते हुए

भी किया। आजकल के युग में कबीरदास को अधिक महत्व महात्मा गान्धी के कारण ही प्राप्त हुआ है।

कबीरदास के जन्म और वंश के संबंध में अनेक मत हैं। किंतु चाहे उनमें से जिसे सत्य माना जाए, सामाजिक दृष्टि से उनका जन्म निम्न समझे जाने वाले वर्ग में ही हुआ था। चाहे वे विधवा ब्राह्मणी की अवैध सन्तान रहे हों और चाहे नीरू नामक जुलाहे के वैध पुत्र रहे हों, तत्कालीन समाज की दृष्टि में उनका स्थान हीन ही था। उनके लिए उन्नति कर पाने का अवसर नहीं के बराबर था। फिर भी अपनी प्रबल विद्रोहात्मक प्रवृत्ति के कारण कबीर न केवल स्वयं आश्चर्यजनक उन्नति कर पाए, अपितु उन्होंने समाज की कुरीतियों पर भीषण चोट की और वे समाज के ढांचे को भी काफी हद तक बदल पाने में सफल हुए।

कबीर को नियमानुसार विद्यालय की शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी। अक्षरज्ञान उन्हें नहीं था; परन्तु साधु-सन्तों और विद्वानों की संगति में बैठकर सुना उन्होंने काफी था और इतनी प्रतिभा भी उनमें थी कि बहुत-सी सुनी हुई बातों में कुछ अपनी बात जोड़कर नई बात बना सकें। इसलिए शीघ्र ही उनकी बातों को सुनने वाले लोगों की भी कमी न रही।

कबीरदास स्वभाव से ही अभिमानी और विद्रोही थे। समाज में दलित और लांछित रहकर जीवन बिताते जाना उन्हें सह्य नहीं था। किंतु हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाजों में कबीर को आगे बढ़ने का मार्ग नहीं था। इसलिए कबीरदास ने इन दोनों को ही धता बताकर अपना एक नया पन्थ चलाने का प्रयत्न किया। कबीरदास अनपढ़ थे। अनपढ़ होने से अनेक हानियां हैं, किन्तु एक बड़ा लाभ यह भी है कि अनपढ़ जनता अनपढ़ आदमी से जितनी प्रभावित होती है, उतनी पढ़े-लिखे से नहीं। अनपढ़ नेता अनपढ़ जनता को बहुत कुछ अपना और निकट का प्रतीत होता है। इसलिए अशिक्षित जनता शीघ्र ही कबीरदास की ओर आकृष्ट होने लगी।

उन दिनों निगुरे सन्तों की पूछ कम होती थी और कबीरदास किसी भी दृष्टि से कच्चे गुरु नहीं रहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने रामानन्द को लगभग ज़बरदस्ती ही अपना गुरु बना लिया। कहा जाता है कि रामानन्द कबीर को अपना शिष्य नहीं बनाना चाहते थे। कोई और उपाय न देखकर कबीर प्रातःकाल अंधेरे

में उस घाट पर जाकर लेट गए, जहां रामानंद स्नान करके आया करते थे। उनका पैर कबीर से छुआ, तो वह एकाएक घबराकर 'राम-राम' बोल उठे। मान न मान, मैं तेरा मेहमान—इस न्याय से कबीरदास ने उनके इस 'राम-राम' को ही गुरुमंत्र मान लिया और राम की उपासना का प्रचार करने लगे। यहां यह बात मनोरंजक है कि रामानंद जिस राम की उपासना का प्रचार करते थे, वह दशरथपुत्र राम थे; वही राम, जिनकी भक्ति तुलसीदास ने की है। प्रारम्भ में कबीरदास भी इसी राम के उपासक थे; परन्तु बाद में सूफियों और सिद्धों के प्रभाव में आकर जब कबीर पर वेदान्त का रंग गहरा चढ़ गया, तो उन्होंने सगुण राम को छोड़कर निर्गुण और निराकार राम की उपासना शुरू कर दी।

कबीर के समय हिन्दू और मुसलमान दो ही बड़े सम्प्रदाय थे। दोनों ने ही कबीरदास को तिरस्कृत किया था। अब ज्यों-ज्यों कबीरदास का प्रभाव बढ़ने लगा, त्यों-त्यों उन्होंने इन दोनों धर्मों की कुरीतियों का खंडन शुरू किया। इसमें संदेह नहीं कि उस समय कर्मकांड के नाम पर बहुत-से मिथ्या पाखंड फैले हुए थे, जो उसके ५०० साल बाद स्वामी दयानन्द के समय तक फैले रहे। तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-स्नान, मूर्ति-पूजा, श्राद्ध इत्यादि कितने ही अनुष्ठान हिन्दुओं में प्रचलित थे और नमाज़, रोज़ा इत्यादि कुछ ऐसी विधियां मुसलमानों में प्रचलित थीं, जिनका संबंध मन की शुद्धि से नहीं, अपितु बाहरी प्रदर्शन से था। इन सब पर कबीर ने करारी चोट की। क्योंकि कबीर के उपदेश अनपढ़ लोगों के लिए थे, इसलिए उसकी भाषा और शैली भी ऐसी ही होती थी, जो अनपढ़ लोगों को प्रिय लगे और उनकी ज़बान पर चढ़ जाए।

इस संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है कि कबीरदास ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने का प्रयत्न किया; और लोगों में कुछ ऐसा भ्रम फैला हुआ है कि जैसे महात्मा गांधी हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के प्रति आदर दिखाते हुए, दोनों धर्मों में अच्छाइयां ढूंढ़ते हुए, दोनों में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता जगाकर उन्हें एक दूसरे के निकट लाना चाहते थे, शायद वैसा ही कुछ प्रयत्न कबीरदास ने भी किया था। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों से कुछ अच्छी बातें लेकर एक अपना अलग संप्रदाय खड़ा किया था

और वे हिन्दू और मुसलमान दोनों को उसी सम्प्रदाय में लाकर एक करना चाहते थे। दोनों में परस्पर सद्भावना बढ़ाने की ओर उनका विशेष प्रयत्न न था। उनके मन में न हिन्दुत्व के प्रति आदर था, न इस्लाम के प्रति। उन्होंने यथासम्भव सभी जगह दोनों ही धर्मों की खिल्ली उड़ाई है।

कबीरदास को जो सिद्धान्त जहां भी अच्छा दीखा, वहीं से उन्होंने उसे लेकर अपना लिया। इस्लाम से उन्होंने एकेश्वरवाद लिया; वेदान्त से उन्होंने जीव और ब्रह्म की एकता तथा मायावाद लिया; सूफियों से प्रेम-प्रधान साधना और वैष्णवों से जीव-दया और भक्ति ली; और इस तरह बहुत-से सिद्धान्तों का अच्छा-खासा भानमती का पिटारा इकट्ठा कर लिया। इसीको उनके प्रशंसकों ने 'समन्वय' कहा है। परन्तु इसे सही अर्थों में समन्वय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार अलग-अलग से इकट्ठे किए हुए सिद्धान्तों की कबीर सब जगह पूरी संगति नहीं दिखा सके।

कबीरदास की वाणी अनेक स्थानों पर बड़ी मर्मस्पर्शी बन पड़ी है। अनेक जगह उन्होंने अपने विरोधियों पर बड़े चुटीले प्रहार किए हैं और गूढ़ सिद्धान्तों को भी सरल भाषा में समझाने में उन्हें सफलता मिली है। क्योंकि कबीर की सारी रचना मुक्तक है, इसलिए उसमें एकरूपता का अभाव है। उसमें अच्छी-बुरी सब प्रकार की रचना उपलब्ध हो जाती है। उनकी बहुत-सी साखियां बिल्कुल सामान्य कोटि की भी हैं, जबकि अनेक भाव की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। कबीर में उच्च कोटि की प्रतिभा थी, इससे उनके विरोधी भी इन्कार नहीं कर सकते। पर साथ ही यह बात भी सत्य है कि कबीर में प्रदर्शन की भावना बहुत अधिक है। वे श्रोताओं को, चाहे जैसे भी हो, आतंकित रखना चाहते हैं। जहां वेदांत के दार्शनिक सिद्धातों से काम चलता है, वहां उनका प्रयोग कर देते हैं, और जहां सिद्धों और हठयोगियों के अनहद नाद, कमल, चक्र, इला, पिंगला, सुषुम्ना आदि पारिभाषिक शब्दों से रोब जमता दिखाई पड़ता है, वहां उनका भी प्रयोग करने से नहीं चूकते। इसी प्रयोजन से उन्होंने उलटबांसियां भी लिखी हैं। इन उलटबांसियो का अनजान श्रोता कुछ भी अर्थ नहीं निकाल सकता। जो कुछ गुरु महाराज बता दें, वही इनका अर्थ है।

कबीर की रचनाओं में विनय का नितान्त अभाव है। गुरु के प्रति तो उन्होंने विनय दिखाई है, किन्तु अन्य विद्वानों और पंडितों के प्रति उनकी उक्तियां तिरस्कार-द्योतक हैं। कबीर स्वयं अनपढ़ थे। अनपढ़ आदमी भी ज्ञान की बातें कह सकता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि पढ़ा-लिखा होना कोई दोष है। पर कबीर सब जगह यही कहते दिखाई पड़ते हैं कि केवल पढ़ने-लिखने से कुछ नहीं हो जाता। ऐसे स्थलों पर ऐसा आभास होता है जैसे कबीरदास अपने अशिक्षित होने का औचित्य सिद्ध कर रहे हों और आत्महीनता की अनुभूति पर परदा डालने की कोशिश कर रहे हों।

कबीर की रचनाओं में एक ओर तो कुरीतियों का खंडन किया गया है और दूसरी ओर परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आत्मा की तीव्र ललक और परमात्मा को न पाने की दशा में अपार वेदना ध्वनित की गई है। उनका खंडनात्मक पक्ष बहुत कठोर और नीरस है। काव्य के सहृदय रसिकों को वहां कम वस्तु मिलेगी। किन्तु सूफी विचारधारा से प्रेरित विरह-वर्णन में रसमग्न करने वाले स्थल पर्याप्त हैं। रहस्यवाद का प्रारम्भ कबीर की इन उक्तियों में हमें दिखाई पड़ता है।

कबीरदास का उद्देश्य कविता लिखना नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रचार और कुरीतियों का निराकरण था। वे मुख्यतः भक्त और अंशतः समाज-सुधारक थे। इन दोनों कर्तव्यों को निबाहते हुए कविता की रचना तो गौण रूप में ही हो गई है। उन्हें साहित्यशास्त्र के नियमों का ज्ञान नहीं था, इसलिए उनका कलापक्ष बहुत परिमार्जित नहीं है। उनकी भाषा भी सधुक्कड़ी है; फिर भी अनुभूतियों की तीव्रता और अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता के कारण इनकी कविता हृदय को छूती है।

कबीर बाह्याडम्बर के विरोधी थे। वे मन की पवित्रता पर सबसे अधिक बल देते थे। वे यह भी आवश्यक नहीं समझते थे कि साधना करने के लिए संन्यास ले ही लिया जाए। वे अत्यन्त स्वाभिमानी थे और अपने भरण-पोषण के लिए कभी दूसरे पर निर्भर नहीं रहे। वस्त्र बुनना उनका पैतृक व्यवसाय था। उन्होंने अपनी आवश्यकताएं कम रखी थीं और सन्तोष का जीवन व्यतीत करते थे। उनका जन्म

संवत् १४५५ में और स्वर्गवास संवत् १५५१ में हुआ।

साहित्य और समाज दोनों पर ही कबीर का गहरा प्रभाव पड़ा। समाज में दलितवर्ग को उन्होंने ऊंचा उठने की प्रेरणा दी। किन्तु शिक्षित और उच्चवर्ग कबीर से अप्रभावित रहा। साहित्य मे रहस्यवादी काव्यधारा जो इस युग में आकर पनपी, उसका मूल भी हमें कबीर में बड़े स्पष्ट और विकसित रूप में दिखाई पड़ता है। मध्य युग में इस महान् क्रान्तदर्शी के महत्व को पूरी तरह नहीं समझा गया, किन्तु इस युग में उनकी महानता तव स्पष्ट हो गई, जब इस युग के दो महान् भारतीयों—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी—ने उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया।

अन्य संभावित शीर्षक

१. निर्गुणमार्गी भक्ति के प्रतिनिधि कवि

जायसी और उनका पद्मावत

प्रेममार्गी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान हिंदी साहित्य में सूर और तुलसी के बराबर ही समझना चाहिए। यदि इस बात को कुछ महत्त्व दिया जा सके कि तुलसीदास ने आगे चलकर जिस भाषा और जिस शैली में अपना रामचरितमानस लिखा, जो हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम काव्य समझा जाता है, उसी भाषा और शैली में उनसे काफी पहले मलिक मुहम्मद जायसी अपने पद्मावत की रचना कर चुके थे, तो इससे जायसी का महत्त्व कुछ और अधिक बढ़ जाता है।

सूरदास और तुलसीदास के साथ जायसी की तुलना कर पाना संभवत: सरल नहीं है। क्योंकि विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनके कारण सूर और तुलसी जायसी की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए हैं। इन दोनों की रचनाओं का हिंदू धर्म से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु जायसी की रचना विशुद्ध

काव्य की दृष्टि से भी बहुत लोकप्रिय हुई है। पद्मावत में एक मधुर प्रेमकथा तो है ही, साथ ही आध्यात्मिक प्रेम को लेकर जो रहस्यवादी मार्मिक संकेत दिए गए हैं, वे हिंदी साहित्य में अनोखे हैं और उनके कारण पद्मावत का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। यह रचना अपने क्षेत्र में अनुपम है।

जायसी, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जायस के रहने वाले थे। इनका जन्म संवत् १५५७ में और मृत्यु संवत् १६०० में हुई मानी जाती है। उन दिनों अद्वैत-वाद और सूफियों के प्रेममार्ग का प्रचार बहुत ज़ोर-शोर से हो रहा था और जायसी पर भी इन दोनों का गहरा प्रभाव पड़ा था। जायसी अच्छे साधक भी थे और इनके शिष्यों में अनेक प्रभावशाली लोग भी थे।

मुख्य रूप से जायसी का यश उनकी रचना पद्मावत के कारण है। वैसे उन्होंने 'अखरावट' और 'आखरी कलाम' नाम की दो छोटी-छोटी रचनाएं भी लिखी हैं। अखरावट में वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से पद रचे गए हैं। जैसे पहला पद 'अ' से शुरू होता है, अगला 'आ' से, उससे अगला 'इ' से; इसी प्रकार आगे भी। आखरी कलाम में कवि ने आत्मपरिचय दिया है। पैगम्बर मुहम्मद और गुरु की स्तुति की है और सृष्टि के अंत में होने वाली प्रलय का दृश्य अंकित किया है।

पद्मावत में एक प्रसिद्ध हिंदू प्रेम-कथा कविता में वर्णित की गई है। इसमें सिंहल की राजकुमारी पद्मिनी और चित्तौड़ के राजा रतनसेन के प्रेम और विवाह का वर्णन है। काव्य के उत्तरार्ध में अलाउद्दीन पद्मिनी को पाने के लिए चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। किंतु पद्मिनी सती हो जाती है और अलाउद्दीन को सफ-लता प्राप्त नहीं होती। अब तक ऐसा माना जाता रहा है कि पद्मावत की कथा का पूर्वार्ध काल्पनिक है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक है। परन्तु कर्नल टाड जैसे इति-हासकारों को देखते हुए अब यही विश्वास करने को मन होता है कि पद्मावत की सारी कथा काल्पनिक है और उसका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

परन्तु इस कथा का महत्व इस दृष्टि से अवश्य है कि हिंदुओं और मुसलमानों के संघर्ष के उस काल में जायसी जैसे एक कट्टर मुसलमान ने अपने महाकाव्य के लिए एक हिंदू प्रेम-कथा को चुना। महाकाव्य का नायक एक हिंदू राजा को बनाया और मुसलमान सुल्तान अलाउद्दीन को खल-नायक का अभिनय सौंपा।

न केवल उन्होंने हिंदू राजा को अच्छा चित्रित किया, अपितु हिंदुओं के रीति-रिवाज और हिंदुओं के आदर्शों को भी उन्होंने अच्छे रूप में प्रस्तुत किया है। इससे उनके हृदय की उदारता का परिचय मिलता है। वैसे अपने आपमें जायसी पक्के मुसलमान थे। पद्मावत के आरम्भ में उन्होने विधिवत् पैगंबर की स्तुति की है।

जायसी का पद्मावत प्रेम-कथा होने के साथ-साथ अन्योक्ति-काव्य भी है। अन्योक्ति का अर्थ यह है कि जो वस्तु उसमें मुख्य रूप से वर्णन की जा रही है, उसके अतिरिक्त उसका कुछ और छिपा हुआ अर्थ भी है। भौतिक दृष्टि से पद्मावत रतनसेन, पद्मावती और अलाउद्दीन की कहानी है; परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा और परमात्मा के मिलन और इस मिलन के बीच में पड़ने वाली बाधाओं की कहानी है। इतना सुन्दर अन्योक्ति-काव्य हिन्दी में और कोई नहीं है। भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के प्रेम का वर्णन सारे काव्य में साथ-साथ चलता है और इसके कारण प्रेम की तीव्रता की अनुभूति कुछ लोकोत्तर-सी हो उठती है। यहां इतना कह देना शायद जायसी के साथ न्याय करना ही होगा कि प्रेम के इन दोनों रूपों का यथोचित ध्यान वे सारे काव्य में नहीं रख पाए हैं और अनेक जगह एक प्रकार के प्रेम का वर्णन करते हुए दूसरे प्रकार के प्रेम को लगभग भूल ही जाते हैं। परन्तु जितना वह कर पाए हैं, वह भी थोड़ी सफलता नहीं है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में स्त्री और पुरुष का प्रेम इस रूप में चित्रित किया जाता था कि जैसे स्त्री पुरुष को पाने के लिए व्याकुल हो। किन्तु पद्मावत में रतन-सेन को आत्मा के रूप में चित्रित किया गया है और पद्मावती को परमात्मा के रूप में। सूफियों की विचारधारा में आत्मा और परमात्मा का ऐसा ही सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। क्योंकि इन लोगों की धारणा यह थी कि आत्मा में परमात्मा को पाने के लिए वैसी ही तीव्र लालसा जागरित होनी चाहिए, जैसी पुरुष में अपनी प्रियतमा को पाने के लिए होती है।

सौन्दर्य के निरूपण में जायसी ने अद्भुत कौशल दिखाया है। उनकी पद्मावती अनुपम अनेक अलंकारों और व्यंजनाओं सहारे निखारा है। इसके साथ ही उसमें उन्होंने एक और नया गुण जोड़कर उसे पारस

रूप' कह दिया है। पारस रूप का अर्थ यह है कि वह अपने सम्पर्क में आने वाली अन्य वस्तुओं को भी सुन्दर बना देता है। रूप की यह विशेषता अन्य किसी कवि की कविता में नहीं पाई जाती। जायसी की कल्पना भी इतनी ऊंची उड़ान शायद इसीलिए ले सकी, क्योंकि उनके मन में पद्मावती के अतिरिक्त परमात्मा के सौन्दर्य की धारणा भी विद्यमान रही है।

जायसी के मन में प्रेम का स्वरूप बहुत विशद रूप में अंकित था, इसलिए अपने काव्य में प्रेम के विभिन्न पक्षों का वर्णन करने में उन्हें बहुत सफलता मिली है। साहित्यशास्त्र में प्रेम की तीन दशाएं मानी गई हैं: पूर्वानुराग, मिलन और विरह। जायसी ने इन तीनों ही दशाओं का वर्णन अत्यन्त रसमग्न होकर किया है। पद्मावती से मिलन होने से पहले ही हीरामन तोते से पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर रतनसेन के मन में प्रेम जाग उठता है और वह पद्मावती को पाने के लिए जोगी बनकर घर से निकल पड़ता है। पद्मावती को पाने में उसे अनेक बाधाओं और कष्टों का सामना करना पड़ता है। विवाह से पूर्व राजा का पद्मावती के प्रति प्रेम पूर्वानुराग कहा जाएगा। विवाह हो जाने पर वे दोनों सुख से रहते हैं, यह मिलन की दशा है। विरह का वर्णन करने के लिए जायसी ने नागमती को आश्रय बनाया है। जब रतनसेन पद्मावती को ढूंढने के लिए चला जाता है, तब नागमती उसके विरह में व्याकुल होकर विलाप करती है। वह वनों में भटकती हुई न केवल पशु-पक्षियों से, अपितु तरु-लताओं तक से अपने विरह का रोना रोती फिरती है। विरह-वर्णन में जायसी की प्रतिभा सबसे अधिक प्रस्फुटित हुई है और उनका विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ माना जाता है।

जायसी के विरह-वर्णन के इतना अधिक मर्मस्पर्शी होने का कारण कुछ और भी है। वह यह कि विरह के प्रसंग में कवि के साथ-साथ जायसी का साधक हृदय भी सचेत हो उठता है। राजा को पाने के लिए बेचैन नागमती के विलाप में कवि परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल आत्मा के करुण क्रन्दन का स्वर भी जोड़ देता है। जायसी के विरह-वर्णन के सम्मुख हिन्दी के मूर्धन्य कवि सूरदास और तुलसीदास के विरह-वर्णन भी फीके और हल्के जान पड़ते हैं। जैसे जायसी का पारस रूप समस्त विश्व ब्रह्मांड को सौन्दर्य से परिपूर्ण कर देता है, उसी तरह उनका विरह-

वर्णन भी विश्वग्रासी दावानल की भांति सारे संसार को जलाने को उद्यत हो उठता है। नागमती के दुःख में पशु-पक्षी और तरु-लताएं भी हिस्सा बंटाती हैं।

विरह-वर्णन के प्रसंग में जायसी ने बारहमासा लिखा है। बारहमासा का अर्थ है—विरह में बिताए हुए बारह महीने। इसमें उन्होंने यह बताया है कि विरहिणी नागमती वर्ष के एक-एक महीने को किस प्रकार दुःख-सन्तप्त होकर बिताती है। इस बारहमासे में प्रकृति का वर्णन आलम्बन के रूप में भी किया गया है और उद्दीपन के रूप में भी।

जायसी की रचना में भारतीय और फारसी संस्कृति का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। विरह-वर्णन में भी उन्होंने भारतीय और फारसी दोनों परम्पराओं का अवलम्बन किया है।

कहीं-कहीं अपने वर्णनों में जायसी विवेक खो बैठे हैं। शृंगार के प्रसंग में कहीं-कहीं उसके विरोधी रस वीभत्स की व्यंजना होने से रसभंग दोष हो गया है; जैसे विरह के वर्णन में दुःख की तीव्रता दिखाने के लिए एक जगह उन्होंने रक्त और मांस का वर्णन कर दिया है, जिससे विरहजन्य पीड़ा की अनुभूति न होकर घृणा का भाव जागरित हो उठता है।

इसी प्रकार लोकरीतियों का अच्छा ज्ञान होने के कारण कई बार जायसी ऐसे विस्तृत वर्णन करने बैठ जाते हैं कि जिनमें रस का अभाव होता है और वे वर्णन पदार्थों और प्राणियों की लम्बी-लम्बी तालिकाएं मात्र बन जाते हैं।

महाकाव्य की दृष्टि से जायसी का पद्मावत एक सफल महाकाव्य है और उससे जायसी की प्रतिभा का अच्छा परिचय पाठक को मिलता है। अन्योक्ति-काव्य होने के कारण पद्मावत का महत्त्व और भी अधिक हो गया है, परन्तु जायसी सर्वत्र अन्योक्ति का निर्वाह नहीं कर पाए हैं। बीच-बीच में वह कहीं आध्यात्मिक पक्ष को और कहीं लौकिक पक्ष को भूल जाते हैं।

जायसी का समाज पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु साहित्य पर उनका काफी प्रभाव हुआ। प्रेममार्गी काव्य-परम्परा में अनेक कवियों ने उनके अनुकरण पर कई काव्य लिखे। भाषा और शैली की दृष्टि से तुलसीदास को भी जायसी का कुछ न कुछ आभार मानना ही होगा।

सूर और तुलसी की तुलना में जायसी के काव्य की यह विशेषता है कि सूर और तुलसी की कविता का आनन्द जहां एक सीमित देश और उसके भी एक सीमित वर्ग के लोग ले सकते हैं; वहां जायसी की कविता सब देशों और कालों के लोगों के लिए समान रूप से आनन्दप्रद रहेगी। उसका अनुवाद होने पर वे भावनाएं सभी पाठकों को रसमग्न कर सकेंगी। साहित्यशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि उनमें साधारणीकरण की क्षमता अधिक है।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. प्रेममार्गी भक्ति के प्रतिनिधि कवि

गीतकार सूरदास

वैसे तो हिन्दी के काव्योद्यान में कितने ही रंग-बिरंगे और सुगन्धित फूल खिले हैं, किन्तु जैसा सौरभ सूरदास की रचनाओं का है, वैसा और किसी भी कवि की रचनाओं का नहीं है। इसीलिए किसी सहृदय आलोचक ने 'सूर सूर, तुलसी ससी' कहकर सूरदास को हिन्दी काव्य के आकाश का सूर्य कहा है। सूरदास का ऐसा सम्मान उचित ही है, क्योंकि सूरदास की टक्कर के दो ही कवि हिन्दी साहित्य में हुए हैं: एक तुलसीदास और दूसरे जायसी। किन्तु इन तीनों कविशिरोमणियों के काव्यक्षेत्र बिल्कुल अलग-अलग हैं। इसलिए इनकी परस्पर तुलना ठीक तरह से हो ही नहीं सकती। अपने क्षेत्र में सूरदास सर्वोच्च हैं। वहां उनसे किसीकी कोई बराबरी नहीं।

सूरदास की लगभग सारी की सारी रचनाएं वात्सल्य और श्रृंगार रस को लेकर लिखी गई हैं। उनका सूरसागर श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के आधार पर लिखा गया है। उसमें श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर बाल्य, किशोरावस्था और यौवन की ऐसी सजीव झांकियां प्रस्तुत की गई हैं कि बस पढ़ते ही बनती हैं। यौवन के प्रसंग

में उनके गोपियों के साथ प्रेम का वर्णन है। इस प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को सूरदास ने बड़े कौशल के साथ निखारा है।

सूरदास अन्धे थे। उनके कारण ही अन्धों को 'सूरदास' कहने की प्रथा चल पड़ी है। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि नेत्रहीन होते हुए सूरदास ने ऐसा मर्म-स्पर्शी काव्य किस प्रकार लिख डाला। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीला के जो चित्र खींचे हैं, उन्हें पढ़कर यह विश्वास करना सम्भव नहीं रहता कि वे जन्मान्ध रहे होंगे। ऐसी भी जनश्रुति है कि सूरदास की आंखें पहले ठीक थीं, परन्तु बाद में किसी सुन्दरी के प्रेम में फंसकर निराश होकर उन्होंने अपनी आंखें स्वयं फोड़ ली थीं। किन्तु यह जनश्रुति भी कपोलकल्पित ही जान पड़ती है। क्योंकि अपनी रचना में सूरदास अपनी नेत्रहीनता पर खिन्न दिखाई पड़ते हैं। इसके लिए वे भगवान् को उपालम्भ देते हैं। यदि उन्होंने अपने नेत्र स्वयं फोड़े होते, तो इस उपालम्भ का कोई औचित्य नहीं रह जाता। अनुमान यही होता है कि प्रारम्भ में उनकी दृष्टि ठीक थी और बाद में जाकर किन्हीं कारणों से वह नष्ट हो गई।

दृष्टि खोकर सूरदास ने अन्तर्दृष्टि पा ली। जिन दृश्यों को उन्होंने कभी देखा था, उन्हें स्मृति से और मधुर बनाकर उन्होंने काव्य में उतारना प्रारम्भ कर दिया। इसीलिए उनकी कविता में आकर ये दृश्य सत्य की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर और सुकुमार हो उठे हैं।

सूरदास को काव्य-रचना की प्रेरणा पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य से मिली थी। वल्लभाचार्य दास्य भाव की भक्ति को पसन्द नहीं करते थे। उन्होने कृष्ण के प्रति सख्य भाव की भक्ति का प्रचार किया था। उनके ही आदेश से सूरदास ने श्रीमद्भागवत की कथा को गेय पदों में प्रस्तुत किया। उनके ये पद श्रीनाथ जी के मन्दिर में गाने के लिए रचे गए थे।

सूरदास ने जिन गेय पदों की रचना की है, वे इतने परिमार्जित हैं कि यह मानने का मन नहीं होता कि वे सूरदास की पूर्णतया मौलिक उद्भावनाएं हैं। ब्रज भाषा में सबसे पहली काव्य-रचना सूरदास की मिलती है और वही इतनी परिपक्व है कि उनके बाद के सब कवियों की रचनाएं उनकी जूठन जान पड़ती हैं। इससे यह अनुमान होता है कि सूरदास से पहले भी इस प्रकार के गेय पद

लिखने की कोई परम्परा चली आ रही थी, जिसकी अन्तिम कड़ी सूरदास थे।

वैसे इस प्रकार की परम्परा का प्रारम्भ बंगाल के जयदेव ने अपने 'गीत-गोविन्द' द्वारा किया था, जिसमें उन्होंने हरिस्मरण और विलास-कलाओं का एकत्र सम्मिश्रण किया था। जयदेव की ही ललित-मधुर पदावली को लेकर विद्यापति ने अपनी शृंगार-बहुल रचनाएं लिखीं, जिनमें से धार्मिक लोग भक्तिपरक अर्थ निकालते रहते हैं। उसी परम्परा में सूरदास को भी गिनना चाहिए।

जिन दिनों सूरदास ने काव्य-रचना की, उन दिनों धार्मिक क्षेत्र में निर्गुण-मार्गियों और सगुणमार्गियों में संघर्ष-सा चल रहा था। कबीर के नेतृत्व में निर्गुण मार्गी सन्तों ने प्राचीन कर्मकांड की निन्दा करके उसे त्याज्य ठहराया था। वे ब्रह्म को पाने के लिए यौगिक साधना का उपदेश देते थे। उनका खंडनात्मक अंश तो जनता को रुचिकर लगा; कर्मकांड पर से लोगों की श्रद्धा उड़ गई; परन्तु योग-साधना तो कोई खालाजी का घर नहीं थी; उसे लोग अपना नहीं सके। ऐसे समय इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव की रोक-थाम करने के लिए किसी सुदृढ़ आधार की आवश्यकता थी, जिसके सहारे हिन्दू-भक्ति टिक सके। यह आधार कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण का लोकरंजक स्वरूप प्रस्तुत करके लोगों को प्रदान किया। सूरदास इन कृष्णभक्त कवियों में मूर्धन्य थे।

सूरदास की एकमात्र रचना 'सूरसागर' उपलब्ध होती है। इसके विषय में भी कहा जाता है कि यह अपने सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। पहले इसमें सवा लाख पद थे और अब केवल पांच हज़ार के लगभग प्राप्त होते हैं। जो पद उप-लब्ध हैं; वे भी सूरदास को हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने और उनके यश को अमर रखने के लिए पर्याप्त हैं। परिमाण की दृष्टि से तो यह रचना विशाल है ही, साथ ही क्या भाषा, क्या भाव और क्या अभिव्यक्ति-कौशल, सभी की दृष्टियों से ये पद बेजोड़ हैं। ये सब पद गाए जाने के लिए लिखे गए थे और संगीतशास्त्र के राग-रागिनियों में बंधे हुए हैं।

सूरसागर में इस समय भी जो पद उपलब्ध होते हैं, उनमें से बहुतों में एक ही भाव की पुनरावृत्ति पाई जाती है। कुछ समालोचकों ने इसे दोष माना था; परन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि ये पद गाने के लिए लिखे गए थे और एक

ही भाव को अलग-अलग पदों में, अलग-अलग रागों में बांधा गया है, तो भाव की पुनरावृत्ति अखरती नहो ; क्योंकि काव्य-शास्त्र की दृष्टि से वह पुनरावृत्ति भले ही हो, किन्तु संगीतशास्त्र की दृष्टि से पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती।

निर्गुणवाद और सगुणवाद के पारस्परिक विवाद में सूरदास ने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। उन्होंने सूरसागर में भ्रमरगीत का प्रसंग रखा, जिसमें उन्होंने निर्गुणवाद की अपेक्षा सगुणवाद की उत्कृष्टता दिखाई। परम ज्ञानी योगी उद्धव गोपियों को यह समझाने गए थे कि श्रीकृष्ण तो घट-घटव्यापी हैं ; उनके वियोग में दुखी होना अज्ञानसूचक है ; योग-साधना करने पर कृष्ण अपने हृदय में ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु गोपियों के तीव्र प्रेम को देखकर वह अपना सारा ज्ञानयोग भूल बैठे और स्वयं भी प्रेम-भक्ति के कायल हो गए। सूरदास का भ्रमरगीत काव्य-सौन्दर्य और उक्ति-वैचित्र्य दोनों की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

सूरदास ने वात्सल्य और प्रेम के चित्रण में जैसी सफलता प्राप्त की है, वैसी हिन्दी-साहित्य में अन्य किसी कवि ने नहीं की। वात्सल्य के अन्तर्गत कृष्ण की बाल-लीलाएं आती हैं, जिनमें शैशव की अनेकानेक मुद्राओं का अत्यन्त मनोहारी रूप में चित्रण हुआ है। इस सम्बन्ध में नये-नये प्रसंगों की उद्भावना करने में कवि की कल्पना जैसे कहीं थकना ही नहीं जानती। ऐसा विशद और सूक्ष्म निरीक्षणयुक्त शैशव का वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

शैशव और बाल्यकाल बीतने पर कृष्ण का यौवन प्रारम्भ होता है। गोपियां कृष्ण के प्रेम में पागल हो उठती हैं और कृष्ण गोपियों से प्रेम करने लगते हैं। यह प्रेम दीर्घकाल के परिचय और साहचर्य से उत्पन्न होने वाला निर्मल प्रेम है ; केवल बाह्य रूप के आकर्षण से जनित वासनामय कलुषित प्रेम नहीं। इस प्रेम के संयोग पक्ष के चित्रण में सूरदास ने अनेकानेक प्रसंगों की कल्पना करके अतिशय सुकुमार भावनाओं की व्यंजना की

इस प्रकार भी कुछ समय बीत जाता है और उसके बाद कंस के आमंत्रण पर कृष्ण मथुरा चले जाते हैं, जहां से वे कभी वापस नहीं आते। गोपियों के प्रेम के सुरम्य संसार पर एकाएक जैसे गाज गिर पड़ती है। यहां सूरदास शृंगार की चरम सीमा तक पहुंचने के लिए वियोग-पक्ष का वर्णन करते हैं। न केवल गोपियां, अपितु

गोकुल के समस्त चराचर जैसे यमुना, मधुवन और गौएं, सभी विरह-व्यथा से व्याकुल हो उठते हैं। सूरदास का वियोग-वर्णन हिन्दी साहित्य में अनुपम समझा जाता है।

सूरदास के काव्य की विशेषताओं को गिनते हुए यह अवश्य कहना होगा कि सूरदास की भाषा अत्यन्त सुबोध और परिमार्जित है। भावों की अभिव्यक्ति सरल और चुटीली है। उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग प्रभूत है। परन्तु अधिकांशत: अलंकार अभिव्यक्तियों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं और रचना के सहज प्रवाह में आ गए मालूम होते हैं। कहीं-कहीं सूरदास ने अलंकारों से खिलवाड़ भी किया है। ऐसी जगह उनके पद काव्य न रहकर पहेलियां बन गए हैं। परन्तु ऐसे पद थोड़े ही हैं।

सूरदास के काव्य का हिन्दू-समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। निर्गुणवादी सन्तों के ज्ञान और साधना के उपदेशों से घबराई हुई जनता को उन्होंने सगुण भक्ति का सरस क्षेत्र दिखाया, जिससे भक्ति लोगों के लिए साधना की वस्तु न रहकर आनन्द की वस्तु बन गई। इससे इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में भी काफी सहायता मिली।

यह खेद की ही बात समझनी चाहिए कि इतने बड़े कवि के जीवन-चरित के सम्बन्ध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। इनका जन्म संवत् १५४० के आसपास दिल्ली से लगभग २० मील दूर सीही नामक ग्राम में हुआ था। यह वल्लभाचार्य के शिष्य थे और विट्ठलनाथ जी ने कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों की जिस अष्टछाप की स्थापना की थी, उसमें यह सर्वश्रेष्ठ थे। कितने ही वर्षों तक सूरदास वल्लभाचार्य द्वारा बनवाए हुए श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करते रहे। संवत् १६२० में इनकी मृत्यु पारसौली नामक ग्राम में हुई।

सूरदास ने सूरसागर की रचना करके रस का जो महान् सागर तैयार किया है, उसमें सहृदय लोग चिरकाल तक स्नान करके आनन्द पाते रहेंगे। काव्य-प्रेमियों में सूरदास का जितना आदर है, उससे भी कुछ अधिक ही उनका आदर संगीत-शास्त्रियों में है और पक्के रागों के लिए लगभग सारे ही देश में सूरदास के रचे हुए पद गाए जाते हैं। इस अद्भुत कवि और संगीतकार की कीर्ति हिन्दी-जगत् में

चिरकाल तक अक्षुण्ण बनी रहेगी।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. कृष्णभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि
२. हिन्दी में वात्सल्य और शृंगार के सर्वश्रेष्ठ कवि

महाकवि तुलसीदास

तुलसीदास का नाम हिन्दी के कवियों में सबसे अधिक लोकप्रिय है। इसका यह कारण तो है ही कि तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, साथ ही यह भी है कि उन्होंने अपने काव्य में जिन आदर्शों की स्थापना की है, उनके कारण वह हिन्दू जाति के धर्मगुरु भी बन गए हैं। यद्यपि काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से सूरदास और मलिक मुहम्मद जायसी उनकी टक्कर के ही हैं, किन्तु धार्मिक आदर्शों का वैसा सुदृढ़ आधार न होने के कारण वे जनता के हृदय पर उतनी गहरी छाप नहीं बिठा पाए हैं, जितनी तुलसीदास।

तुलसीदास को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानने का एक सबसे मोटा और बड़ा कारण यह है कि तुलसीदास ने अपने समय में प्रचलित सभी शैलियों में काव्य-रचना की। उस समय अवधी और ब्रज दो ही साहित्यिक भाषाएं थीं। उन्होंने दोनों में ही सफलतापूर्वक कविता लिखी। उन्होंने 'रामचरितमानस' प्रबन्धकाव्य लिखा और 'विनयपत्रिका' मुक्तक काव्य। विविध प्रकार के छन्दों का उन्होंने कविता में प्रयोग किया। इस प्रकार उनका काव्य का बाह्य पक्ष अर्थात् कला-पक्ष अपने प्रतिद्वंद्वियों की अपेक्षा कहीं अधिक पुष्ट है।

इसी प्रकार उनके काव्य का अंतरंग पक्ष भी जायसी और सूरदास की अपेक्षा कहीं विस्तृत और गम्भीर है। सूरदास ने जीवन के बहुत सीमित क्षेत्र को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। शृंगार और वात्सल्य की सीमाओं से बाहर वह नहीं

गए। परन्तु तुलसीदास ने जीवन के विविध पक्षों को, लगभग मानव-जीवन के समग्र रूप को ही अपनी रचना का विषय बनाया है। उन्होंने अपने प्रबन्धकाव्य में नये-नये प्रसंगों की कल्पना की है और उनका बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है।

इन दोनों बातों से बढ़कर है—तुलसी की आदर्शवादिता। सूरदास ने भगवान् के लोकरंजक रूप का वर्णन किया है। उनके कृष्ण ऐसे अनेक काम कर बैठते हैं, जो सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय कहे जा सकते हैं। परन्तु तुलसी ने राम के रूप में भगवान् के लोकरक्षक रूप का वर्णन किया है। उनके राम मनुष्य नहीं, अपितु स्वयं भगवान् हैं, जो मानव-जीवन के श्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना के लिए मनुष्य रूप में अवतरित हुए हैं। उनके राम सज्जनों की रक्षा करने वाले, कर्तव्य-निष्ठ और दुष्टों को दंड देने वाले हैं। उनकी कल्पना से दीन-दुखियों, शोषितों और पीड़ितों को सांत्वना मिलती है, कुछ सहारा मिलता है।

तुलसी द्वारा प्रस्तुत रामभक्ति उस काल के हिन्दुओं के लिए बहुत अधिक आशाप्रद और उत्साहदायक सिद्ध हुई। विजेता मुसलमानों के भय से त्रस्त प्रजा को कृष्णभक्ति में कुछ आनन्द अवश्य दिखाई पड़ा था, किन्तु विजातीय संस्कृति के मुकावले के लिए जिस सुदृढ़ आधार की आवश्यकता थी, वह उनको राम-भक्ति से ही प्राप्त हुआ।

तुलसीदास का अपना जीवन बहुत कुछ कष्टों में ही व्यतीत हुआ। अशुभ लग्न में उत्पन्न होने के कारण उनके माता-पिता ने जन्म होते ही उन्हें त्याग दिया था। एक दासी ने, जिसका नाम मुनिया था, उनका पालन-पोषण किया। किन्तु कुछ वर्ष बाद ही मुनिया भी भगवान् को प्यारी हो गई। तुलसीदास दुबारा अनाथ हो गए। काफी दिन तक इधर-उधर भटकते रहे। पेट भरने के लिए बहुत बार उन्हें शिक्षा मांगनी पड़ी। अन्त में उनकी भेंट बाबा नरहरिदास से हुई। उन्होंने कृपा करके तुलसीदास को अपने पास रखा और पढ़ाया। यथासमय तुलसीदास का विवाह हो गया। परन्तु भाग्य को तुलसीदास का यह सुख भी सहन न हुआ। प्रेम की अधिकता के कारण एक प्रसंग ऐसा आ पड़ा कि इस विवाह का विच्छेद हो गया। पत्नी ने तुलसीदास को कुछ शब्द ऐसे कह दिए, जिनकी चोट उनके हृदय पर बहुत गहरी लगी और वह विरक्त हो गए और घर छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए

निकल पड़े। एक बार उन्हें प्लेग भी हो गई थी। इसमें उन्होंने बहुत कष्ट पाया, किन्तु वे बच गए। पर उसके कुछ ही समय बाद संवत् १६८० में उनका स्वर्गवास हो गया।

तुलसीदास ने भक्ति के लिए जिन राम को चुना है, वे सर्वगुण-सम्पन्न और मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। उनके प्रति तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की है। उनकी तुलना में भक्त तुलसी अपने आपको बहुत तुच्छ और दयनीय अनुभव करते हैं और इसीलिए पग-पग पर उनकी दया की कामना करते हैं। रामचरितमानस तो रामकथा को लेकर लिखा ही गया है और उसमें कवि ने राम का उत्कर्ष और गौरव अनेक प्रकार से दिखाया है, साथ ही विनयपत्रिका में भी सर्वशक्तिमान भगवान् के सम्मुख क्षुद्र भक्त की विनय जैसे मार्मिक रूप में प्रकट हुई है, वैसी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं हुई।

तुलसीदास की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे समन्वयवादी हैं। जिन बातों पर उनकी पूरी आस्था नहीं भी है, उनका भी वे खंडन नहीं करते; बल्कि अपने मत से उनका मेल बिठाने की चेष्टा करते हैं। तुलसी स्वयं सगुण उपासक थे। किन्तु उन्होंने निर्गुण उपासना का खंडन नहीं किया, बल्कि निर्गुण और सगुण दोनों के समन्वय का प्रयत्न किया। इसी प्रकार उनकी रचनाओं में लोक और शास्त्र का, भक्ति और ज्ञान का, वैराग्य और गार्हस्थ्य का समन्वय दिखाई पड़ता है। इसी समन्वयवादिता के कारण वे इतने लोकप्रिय भी हुए हैं।

तुलसी ने अपने रामचरितमानस में आदर्श चरित्रों की कल्पना इतने सुन्दर ढंग से की है कि ये चरित्र ही बाद में हिन्दू जीवन के आदर्श बन बए। राम जैसा राजा, भरत और लक्ष्मण जैसे भाई, सीता जैसी पत्नी और हनुमान जैसे सेवक। ये आदर्श हिन्दू जनता के मन में गहरी छाप छोड़ गए हैं और इसीलिए रामचरितमानस विशुद्ध काव्य-ग्रन्थ न रहकर अच्छा-खासा धर्म-ग्रन्थ बन गया है और अर्धशिक्षितों के लिए तो यह बाकायदा धर्म-ग्रन्थ का काम भी देता रहा है।

इन सब सामाजिक महत्त्व की बातों के अतिरिक्त विशुद्ध कवित्व की दृष्टि से भी तुलसीदास का आसन बहुत ऊंचा है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस प्रबन्ध की दृष्टि से हिन्दी में बेजोड़ है। इसकी कथा अत्यन्त रोचक है। मुख्य कथा

के अतिरिक्त कई गौण कथाएं भी इसमें हैं। तुलसीदास ने सभी मार्मिक प्रसंगों को भली भांति पहचाना है और उनका विस्तार से वर्णन किया है।

रामचरितमानस में लगभग सभी रसों की अत्यन्त मनोहारी व्यंजना हुई है। इस महाकाव्य में चरित्र-चित्रण इतना सफल हुआ है कि उसके चरित्र जैसे हमारे इतिहास के पात्र बन गए हैं। और ये चरित्र सब अच्छे ही नहीं हैं, बल्कि भले-बुरे, धर्मात्मा और पापी, उच्च और नीच सभी प्रकार के हैं।

सूरदास की कला को हम कला के लिए कला कह सकते हैं। उसका एकमात्र प्रयोजन केवल मन को रस-मग्न कर देना है। किन्तु तुलसी की कला कल्याण के लिए है; मंगलमय आदर्श के लिए है। इस कारण तुलसी के काव्य की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है।

तुलसीदास ने वैसे तो अनेक ग्रन्थ रचे हैं, परन्तु उनका यश मुख्यतया रामचरितमानस और विनयपत्रिका के कारण है। रामचरितमानस की कथा तुलसी की अपनी नहीं है। वह मुख्यतया रामायण से ली गई है। परन्तु उसमें जहां-तहां अपनी कल्पना से कुछ जोड़-तोड़ और परिवर्तन कर दिए गए हैं। तुलसीदास ने हिन्दू-धर्मशास्त्रों का और प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया था। यह बात रामचरितमानस को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है।

काव्य के चमत्कार, समन्वय-बुद्धि और आदर्शों की स्थापना के कारण तुलसीदास हिन्दी के अन्य सब कवियों की अपेक्षा बहुत महान् दीख पड़ते हैं। उनकी महानता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि उनके रामचरितमानस का देश की जनता में अन्य किसी भी काव्य-ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक प्रचार हुआ है और राजा से लेकर रंक तक सभी लोग उसे श्रद्धा और आनन्द के साथ पढ़ते हैं।

अन्य सम्भावित शीर्षक

१. रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि

२. सर्वश्रेष्ठ रामभक्त कवि

३. हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि

◇ ◇ ◇